भारती

बाल-मनोविकास

लेखक

लालजीराम शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०

अध्यापक, टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज,
काशी विश्वविद्यालय

(बालमनोविज्ञान, एलीमेन्ट्स आफ एजूकेशनल साइकॉलाजी और इन्ट्रोडक्शन टू एजूकेशनल साइकॉलाजी के प्रणेता)

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस

१९४१

प्रथमावृत्ति]

मूल्य ~~१~~ ३।।

समर्पण

राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य भक्त,

हिन्दू-समाज-भूषण,

आदर्श शिक्षक,

श्रद्धेय श्री पंडित रामनारायण मिश्र,

प्रिन्सपल डी०ए०वी० कालेज, बनारस

सभापति, काशी-नागरीप्रचारिणी सभा,

के कर-कमलों में सादर

समर्पित ।

भूमिका

यह हर्ष का विषय है कि अब हमारी देशी भाषाओं में लिखी हुई वैज्ञानिक पुस्तकों की पूछ होने लगी है। इस देश के विद्वद्गण अब अपने भावों को देशी भाषाओं में प्रकाशित करना अनुचित नहीं समझते और अनेक विद्वान् रुचि के साथ हिन्दी पुस्तकें पढ़ते हैं। यह प्रत्येक देश-सेवक जानता है कि इस देश की पराधीनावस्था का मुख्य कारण शिक्षा का अभाव ही है। विदेशी शासकों ने जिस शिक्षा-प्रणाली का प्रचार किया उससे जनसाधारण का लाभ न हुआ। कुछ इने-गिने लोग पाश्चात्य विद्याओं में अवश्य पण्डित हो गये, पर उनका ज्ञान उन्हीं तक सीमित रह गया। इसका प्रधान कारण विदेशी भाषाओं द्वारा उस ज्ञान का वितरण ही था। देश के विद्वद्गण जनसाधारण के लिए विदेशी बन गये। इससे देश का बड़ा अकल्याण हुआ।

जब शिक्षा के माध्यम का विषय पहले-पहल विद्वानों के सामने आया तो कुछ विद्वानों ने यह राय दी कि उच्च शिक्षा अँगरेज़ी भाषा के अतिरिक्त और किसी दूसरी भाषा के द्वारा सम्भव नहीं। देशी भाषाओं में न तो उक्त विषयों की पुस्तकें हैं और न ऐसा शब्द-भाण्डार ही है जिसका उपयोग पाठ्य क्रम की अनेक विषयों की पुस्तकों की रचना में किया जा सके। पर जहाँ इच्छा होती है, मार्ग अवश्य मिल जाता है। हाईस्कूलों में शिक्षा का माध्यम जब बदल दिया गया तो थोड़े ही समय में अनेक विषयों की सुन्दर-सुन्दर पुस्तकों का निर्माण हो गया। शब्दों की कठिनाई भी सामने न रही। प्राचीन शब्दों को पुनरुज्जीवित किया गया और नये शब्दों का निर्माण हुआ। आवश्यकता आविष्कार की जननी है; आज हमें इंटरमीडियेट के विषयों को देशी भाषाओं द्वारा पढ़ाने में कोई कठिनाई नहीं होती। देश के प्रत्येक विद्वान् को यह अपना कर्तव्य समझना चाहिये कि वह अपनी मातृभाषा में मौलिक ग्रन्थों की रचना करे। ऐसी रचनाओं से हमारी मातृभाषा का उत्थान होगा।

जब कोई अँगरेज लेखक किसी वैज्ञानिक विषय पर पुस्तक लिखने लगता है तब उसे यह सोचना पड़ता है कि उक्त विषय पर अनेक पुस्तके होते हुए भी वह एक नई पुस्तक क्यो लिखे। हिन्दी भाषा में पुस्तक लिखते समय इस प्रकार के प्रश्न हमारे सामने नहीं आते। हमारी भाषा मे इनी-गिनी पुस्तके ही वैज्ञानिक विषयो पर है। अतएव प्रत्येक भारतीय लेखक जब अपनी मातृभाषा मे नई पुस्तक लिखता है तो वह समाज की सेवा ही करता है। इसी विचार ने इस पुस्तक के लिखने के लिए लेखक को प्रेरित किया।

मनोविज्ञान एक बृहत् विषय है। इसके अनेक अङ्ग है। आज-कल पश्चिम मे मनोविज्ञान के भिन्न-भिन्न अङ्गो का अध्ययन भिन्न-भिन्न रीतियो से किया जा रहा है। इस तरह सामान्य मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-विज्ञान आदि का निर्माण हुआ। प्रत्येक विषय पर आज यूरोपीय भाषाओ मे हज़ारो पुस्तकें हैं। क्या यह खेद का विषय नही कि हमारे देश की भाषाओ मे दस-पाँच पुस्तकें भी इन विषयो पर न हो।

भारतीय विद्यार्थियो को मनोविज्ञान एक बड़ा जटिल विषय जान पडता है। वास्तव मे कठिनाई विषय की नही, भाषा की है। अब इंटर-मीडियेट क्लास मे मनोविज्ञान का विषय पढ़ाया जाने लगा है, पर विद्यार्थि-गण इसे पाठ्य विषय चुनते समय हिचकते है। इसका मुख्य कारण उस विषय का अँगरेजी भाषा मे पढ़ाया जाना और मातृभाषा मे पाठ्य-पुस्तको की कमी ही है। प्रस्तुत पुस्तक का एक उद्देश इस कमी को पूरा करना है।

इस पुस्तक के पहले लेखक की "बाल-मनो-विज्ञान" नामक पुस्तक नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी भाषा की वर्त-मान अवस्था मे जो भी सत्कार इस पुस्तक का हुआ, उससे लेखक को सन्तोष है और उसी प्रोत्साहन का फल यह दूसरा प्रयास है। इस पुस्तक मे बाल-मन की प्रत्येक क्रिया पर विचार किया गया है। साथ ही साथ पाश्चात्य विद्वानो की सम्मतियों का उल्लेख किया गया है। लेखक को अनेक नये शब्द गढ़ने पडे हैं। जो शब्द "बाल-मनो-विज्ञान" मे काम मे लाये जा चुके हैं, इस पुस्तक मे भी काम मे लाये

गये हैं। पर्यायवाची अँगरेज़ी शब्द फुटनोट में दे दिये गये हैं, जिससे अँगरेज़ी जाननेवाले पाठकों को विषय के समझने में सुविधा रहे। पर अँगरेज़ी भाषा से अनभिज्ञ पाठकगण भी इस पुस्तक को सरलता से समझ सकते हैं। भारतीय शिक्षकों को बालक के मन का ज्ञान कराना इस पुस्तक का विशेष उद्देश्य है।

इस पुस्तक के लिखने में जिन महानुभावों ने मुझे सहायता दी उनका मैं आभारी हूँ। रायबहादुर पण्डित लज्जाशङ्कर झा, राय साहब पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी, और प्रोफेसर श्री वंशगोपालजी झिंगरन के प्रति मैं विशेष कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य मे लगे रहने के लिए प्रोत्साहित किया और जिनकी कृपा के कारण मैं अपनी मातृभाषा को यह अपना दूसरा पुष्प अर्पित कर सका।

टीचर्स ट्रेनिंग कालेज,
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।
२०-९-१९४१

लालजीराम शुक्ल

—

विषय-सूची

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

दूसरा प्रकरण

बालक के मानसिक विकास की अवस्थाएँ

तीसरा प्रकरण

बालक के मनोविकास के उपकरण

चौथा प्रकरण

नवशिशु

पाँचवाँ प्रकरण

मूल प्रवृत्तियो का विकास

छठा प्रकरण

जन्मजात प्रवृत्तियाँ

सातवाँ प्रकरण

खेल

आठवाँ प्रकरण

संवेग

तेरहवाँ प्रकरण

बालकों का प्रत्यक्ष-ज्ञान

चौदहवाँ प्रकरण

स्मृति

पन्द्रहवाँ प्रकरण

बालकों की भूल

सोलहवाँ प्रकरण

कल्पना

सत्रहवाँ प्रकरण

भाषा-विकास

अठारहवाँ प्रकरण

विचार-विकास

उन्नीसवाँ प्रकरण

बुद्धिमाप

बीसवाँ प्रकरण

चरित्र-गठन

इक्कीसवाँ प्रकरण

बाल-मन की उलझनें

——

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

बाल-मन का अध्ययन जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही अनजाना भी है। भारतवर्ष में तो इस विषय के ज्ञाता बिरले ही लोग हैं। जिन लोगो ने इस विषय का अध्ययन किया है उनमे से इने-गिने ही लेखको की श्रेणी मे आते है। बाल-मनोविज्ञान मे जिनकी रुचि है ऐसे भारतीय विद्वान् प्रायः देशी भाषा में अपने विचारो को प्रकाशित करने की चेष्टा नहीं करते। यदि वे अपने विचारो को समय-समय पर प्रकट करते भी है तो एक विदेशी भाषा में। इससे देश का अधिकांश जनसमुदाय इन विद्वानों के विचारो से अनभिज्ञ रह जाता है। अँगरेज़ी भापा मे तो बाल-मनोविज्ञान की सहस्रो पुस्तके है और सैकड़ो प्रति दिन लिखी जा रही है। क्या यह दुःख का विषय नहीं है कि हमारे देश की भाषाओ मे इस विषय पर दो-चार पुस्तके भी न हो ?

शिक्षित समुदाय के मन में वाल-मनाविज्ञान-सम्बन्धी विषयों के संस्कारो का पूर्ण अभाव रहने के कारण लेखक को विषय-परिचय कराने मे कुछ कठिनाई पड़ना स्वाभाविक है। दूसरे जो व्यक्ति अँगरेज़ी भाषा के जानकार है वे यह जानते है कि मनोविज्ञान एक जटिल विषय है, इससे वे इस प्रकार के अध्ययन से कोसों दूर रहते है। उनके दृष्टिकोण को परिवर्तित करना और वाल-मन के अध्ययन से उनकी रुचि बढ़ाना कितना कठिन प्रश्न है, यह विद्वान् पाठक ही समझ सकते है। परन्तु हमें यह कदापि न भूलना चाहिये कि वाल-मन का अध्ययन कितना ही

कठिन क्यो न हो, फिर भी प्रत्येक शिक्षित माता-पिता, अभिभावक और शिक्षक के लिए वह परम आवश्यक है। क्या यह लज्जा की वात नहीं कि हम ब्रेजील और अलास्का के निवासियों की रहन-सहन के विषय में जानने की चेष्टा तो करते है, किन्तु उन परमप्रिय वालको के विषय मे जानने की रुचि नहीं रखते जो प्रतिदिन हमारे साथ रहते और हमको सुखी वनाते है? हरबर्ट स्पेंसर का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को बाल-मनोविज्ञान भली भाँति सिखाया जाना चाहिये। इसके ज्ञान के बिना किसी भी मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। बाल-मन के अध्ययन से वालक के लालन-पालन मे कितनी सहायता मिलती है, यह आगे की पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा।

वाल-मन के अध्ययन मे अरुचि का कारण विषय की जटिलता नही है वरन् उसका सरल समझा जाना ही है। अभिभावकगण प्राय: यह मानकर बैठ जाते है कि हमे इस विषय मे जितनी जानकारी होनी चाहिये उतनी तो है ही, हम अपने बालको को प्रतिदिन देखते है और उनके व्यवहारो से भली भाँति परिचित है, फिर हमें किसी मनोवैज्ञानिक की क्या आवश्यकता! किन्तु क्या यह वात सत्य नही है कि ससार की बहुत देखी हुई बाते विना विशेष दृष्टि के प्राप्त हुए अनदेखी ही रह जाती है? बालक की साधारण क्रियाओ एव चेष्टाओ का क्या अर्थ होता है, इसके समझने के लिए विज्ञान की सहायता की आवश्यकता होती है। यह वात इस पुस्तक के आगे के पृष्ठ पढ़नेवाले पाठक को स्वयं स्पष्ट हो जायगी।

बाल-मन के अध्ययन का महत्त्व

बालक के पालन में उपयोगिता—प्रत्येक माता-पिता अपनी सन्तान को यशस्वी और सुखी वनाना चाहते है। हर एक शिक्षक यह चाहता है कि उसका छात्र संसार में प्रतिष्ठा लाभ करे और अपने कार्यों से संसार को चकित कर दे। प्रत्येक देशभक्त अपने देश को गौरवान्वित वनाना चाहता है। हम सभी चाहते हैं कि हमारा समाज संसार के किसी समाज से

पिछड़ा न रहे। समाज में आज हम ऐसी सहस्रो बुराइयाँ देखते है, जिनसे समाज को मुक्त करना असम्भव सा प्रतीत होता है। भारतवर्ष का समाज सुप्तावस्था में पड़ा हुआ है। इस देश का प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति यह समझता है कि इस अवस्था से मुक्त हुए बिना न तो हम आर्थिक उन्नति कर सकते है और न राजनैतिक। हमारे अनेक नेता समाज में क्रान्ति पैदा करना चाहते है, परन्तु उनके बहुत प्रयत्न करने पर भी समाज अपनी उन रूढ़ियों को नहीं छोड़ रहा है, जो आज उसके प्राण की घातक बन रही है। भारतवर्ष मे इस समय शक्ति, साहस, उद्योगशीलता, त्याग इत्यादि की जितनी कमी है, उसे देखकर हमारा मन दुखी होता है। इस अवस्था से मुक्त होने का उपाय क्या है?

जड़ता से मुक्त करने के अनेक उपाय देश के विचारवान् लोगो ने हमें बताये। बाल-मन का अध्ययन उन उपायों मे से एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एमर्सन महाशय का कथन है कि राष्ट्र का जो नेता समाज को सुधारना चाहे उसे सर्व-प्रथम बालको को सुधारना चाहिये। जिस प्रकार एक भव्य सुदृढ़ भवन की नींव सुदृढ़ होती है, उसी प्रकार अध्यवसायी, चरित्रवान्, साहसी, त्यागी पुरुष का व्यक्तित्व बनाने के लिए उसका बाल्य-जीवन तदनुरूप होना चाहिये। बाल्य-जीवन मे ही किसी व्यक्ति के मन में सद्गुणों की जड़ जमाई जा सकती है। जिस बालक का बाल्य-जीवन उचित रीति से व्यतीत नहीं होता, वह आगे चलकर प्रौढ़ावस्था मे सुयोग्य नहीं बनता। समाज व्यक्तियो का समुदाय है। यदि हम समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा बनावे तो समाज स्वतः अच्छा बन जायगा। व्यक्ति को भला बनाने के लिए उसके बाल्य-जीवन का अध्ययन करना परमावश्यक है। माता-पिता को यह देखते रहना चाहिये कि बालक के मन मे किसी प्रकार के कुसंस्कार न पड़ जायँ। किसी व्यक्ति को बचपन से जो टेव लग जाती है उसका प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर सदा बना रहता है। इसी तरह बचपन में जो अच्छी आदते पड़ जाती है, वे व्यक्ति के जीवन को सफल बनाने मे सदा सहायता देती है।

शिक्षा मे उपयोगिता—बाल-मन के अध्ययन का प्रारम्भ शिक्षा के सेवार्थ हुआ। फ्रास के प्रसिद्ध विद्वान् रूसो का कथन है "जो शिक्षक अपने काम को कर्तव्य-बुद्धि से करना चाहता है, उसको बालक के मन का अध्ययन भले प्रकार से करना चाहिये।" रूसो ने इमाइल नामक किताब लिखकर शिक्षा-संसार मे एक भारी क्रान्ति पैदा कर दी। रूसो के पहले यूरोप के शिक्षकगण अपने विषय के पडित तो होते थे, किन्तु शिक्षा-पद्धति अथवा बाल-मन जानने की किसी प्रकार चेष्टा न की जाती थी। आधुनिक काल मे ससार के प्रत्येक शिक्षक के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह न सिर्फ अपने विषय का पडित हो, बल्कि बाल-मन को भली भाँति जाने और बालक के स्वभाव के अनुसार अपनी शिक्षा-पद्धति बनावे। जर्मनी के तत्त्ववेत्ता हरबार्ट ने बड़े प्रयास से बाल-मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षा-पद्धति बनाई। फ्रोबेल और हरबर्ट स्पेसर द्वारा शिक्षा-पद्धति मे नई नई उन्नतियाँ हुई और इस पद्धति का विकास आज तक होता जा रहा है। जैसे जैसे मनोवैज्ञानिक खोजे बढ़ती जाती है, वैसे वैसे शिक्षा-पद्धति मे नये नये परिवर्तन होते जाते है। हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति बाल-मनोविज्ञान-सम्बन्धी अनेक खोजो का प्रतिफल है। कोई भी शिक्षक आज बाल-मनोविज्ञान के जाने बिना अपना काम भले प्रकार से नही कर सकता।

आधुनिक शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि हमे बालक को उसके व्यक्ति-भेद के अनुसार शिक्षा देना चाहिये। बालक की मानसिक शक्तियो का अनेक प्रकार से अध्ययन किया जा रहा है। बुद्धि-माप और रुचि-माप के विषय मे अनेक प्रयोग किये जा रहे है। इन प्रयोगो के परिणामस्वरूप आज शिक्षा मे मौलिक परिवर्तन हो रहे हैं। प्रत्येक शिक्षक को इन आविष्कारो की जानकारी रखना आवश्यक है।

आज कल बालक को नियमित रखने तथा दण्डविधानो के विचारो मे मौलिक परिवर्तन हो गये है। पुराने समय का शिक्षक बालक के सुधार के लिए बेत का प्रयोग करता था। उनको वह दड के भय से अपने वश मे किये रहता था। किन्तु आज

कल बालक को पीटना एक भारी पाप समझा जाता है। जो शिक्षक क्लास में बिना बेंत के प्रयोग के अनुशासन नहीं रख सकता उसे सफल शिक्षक नहीं कहा जाता। जब बालक का ध्यान किसी विषय के पढ़ने से उचट जाता है, तो अबोध शिक्षक प्रायः डॉट-फटकारकर अथवा जोर से चिल्लाकर बालक के ध्यान को आकर्षित करने की चेष्टा करते है। किन्तु बाल-मनोविज्ञान का ज्ञाता शिक्षक ऐसे भद्दे उपायों को काम मे नहीं लायेगा। वह जानता है कि बच्चे के ध्यान को अरुचिकर विषय में लगाना, प्रकृति के नियमो की अवहेलना करना है। बालक के ध्यान को किसी विषय पर आकर्षित करने के लिए वह उस विषय को रोचक बनाने की चेष्टा करेगा।

स्वास्थ्य-वर्धन में आवश्यकता—आधुनिक मनोविज्ञान यह बताता है कि मन और शरीर का परस्पर सन्निकट संबंध है। हमारे अनेक विचारो, उद्वेगो और चेष्टाओ का प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है। जिसके बुरे विचार होते है वह शारीरिक स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर सकता। इसी प्रकार अवाछनीय उद्वेग और कुचेष्टाओ का प्रतिक्रिया तुरन्त शरीर पर दिखाई देने लगती है। अबोध माता-पिता बालक के मन मे तरह तरह से भय का संचार कर देते है, जिसके कारण बालक का मन सदा के लिए भयभीत बने रहने का ही अभ्यस्त नहीं होता, बल्कि उसे शारीरिक क्षति भी पहुँचती है। इसी प्रकार पाठशाला के भय के वातावरण मे रहनेवाला बालक निरुत्साही हो जाता तथा अस्वस्थता का जीवन व्यतीत करता है। इस पुस्तक मे आगे चलकर यह स्पष्ट किया जायगा कि बालक के मन मे उठे हुए उद्वेगो का दुष्परिणाम उसके जीवन पर किस प्रकार पड़ता है।

बाल-मन के अध्ययन में कठिनाइयाँ

बाल-मन के अध्ययन मे हमे अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। पहले तो मनोविज्ञान का विषय ही कठिन है। मनोविज्ञान का अध्ययन वही मनुष्य कर सकता है, जिसमे

आत्म-निरीक्षण की शक्ति है, और जो अपने सम्पर्क मे आनेवाले व्यक्तियों की सूक्ष्म क्रियाओं एवं गतिविधि पर ध्यान रखता है। जो मनुष्य आत्म-निरीक्षण नहीं कर सकता, वह दूसरों के स्वभाव को समझने मे भी अकुशल रहेगा। दूसरे, जो मनुष्य अपने ही सम्बन्ध मे चिन्तन करता है, किन्तु अपने आस-पास के लोगो के विचारो और व्यवहारो का विश्लेषण नहीं करता, वह भी अच्छा मनोवैज्ञानिक नहीं बन सकता। बाल-मन के अध्ययन मे उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त एक और कठिनाई है। बालक के मन की दशा जानने मे हम कई कारणो से अयोग्य सिद्ध होते हैं। बालक और प्रौढ़ व्यक्तियो मे इतने मानसिक भेद है कि हम जैसे एक प्रौढ़ व्यक्ति के मन में होनेवाली क्रियाओ और चेष्टाओं का पता लगा लेते है वैसे बालक के अन्तर्जगत् का ज्ञान हमे उसकी बाह्य चेष्टाओ से नही हो सकता। प्रौढ़ लोगो के मन की दशा जानने मे हमारा अनुभव तो सहायता देता ही है, किन्तु प्रौढ़ व्यक्ति अपने मन की बात स्वयं भी कह देते हैं। परन्तु बालक मे इस प्रकार कहने की शक्ति नहीं होती। हम अपने निष्कर्ष की सत्यता अथवा असत्यता की जाँच किसी प्रकार नही कर सकते। अनेक बार हम बालक की चेष्टाओ का वस्तु-स्थिति से उल्टा अर्थ लगा लेते हैं और इस प्रकार अपनी अनभिज्ञता के कारण बालक को अनेक प्रकार की हानि पहुँचाते है। मनोविज्ञान का अध्ययन करनेवाले व्यक्ति को ऐसी भूलो से सावधान रहना पड़ता है। बालक को हमे कदापि अपने पैमाने से न नापना चाहिये। बालक की जिन छोटी छोटी बातों को हम महत्त्व-हीन समझते हैं, उनका बाल्य-जीवन मे भारी महत्त्व होता है। बाल-मन के अध्ययन करनेवाले व्यक्ति को अपने आपको बालक की मानसिक अवस्था में रखना पडता है। जहाँ तक सम्भव हो, उसे अपने बाल्य-जीवन की बातो को स्मरण रखना चाहिये, और इस अनुभूति के आधार पर उसे बालक के साथ व्यवहार करना चाहिये।

बालक के मन का अध्ययन करने मे एक कठिनाई यह है कि हम जब तक बालक से मित्रता स्थापित नहीं कर लेते, अथवा हेल-मेल नहीं बढ़ा लेते, तब तक उसकी हार्दिक इच्छाओ के

संबंध में कुछ भी नहीं जान सकते। छोटे बालको के मन के विषय मे बाहरी आदमी का किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न निष्फल हो जाता है। बालको के खेल मे जब कोई आगंतुक उनके सामने जाता है तो बालकों का खेल ही बिगड़ जाता है। बालक के मन की वास्तविक दशा का ज्ञान उसके स्वाभाविक व्यवहार को जानकर ही कर सकते हैं, किन्तु जब कोई व्यक्ति बालकों के समीप उनके मन का अध्ययन करने जाता है तो उनका स्वाभाविक व्यवहार बदल जाता है। माता-पिता और शिक्षको को अपने बालकों के विषय मे जानने की रुचि स्वयं ही रहती है। अतएव बालक के मन का अध्ययन बाल-मनोविज्ञान मे दक्ष शिक्षक और माता-पिता द्वारा ही भले प्रकार हो सकता है। यहाँ पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रायः बालक के माता-पिता बाल-मन की क्रियाओ का वास्तविक अर्थ लगाने मे असमर्थ होते है। बात यह है कि माता-पिता अपने बालको को उस निरपेक्ष भाव से नहीं देख सकते जैसे कि एक मनोवैज्ञानिक देख सकता है। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बालक की प्रत्येक चेष्टा का अर्थ भला लगाने की रहती है। वे कदापि यह नहीं सोच सकते कि उनके बालक के मन मे दुर्वासनाएँ है। निरपेक्ष भाव से अपने बालकों की ओर देखने के लिए माता-पिताओ को वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त करनी होगी, जिसके लिए विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है।

बाल-मन के अध्ययन की विधियाँ

बालक के मन की अध्ययन-विधियो को निम्नलिखित भेदों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) अन्तर्दर्शन[1]।
(२) निरीक्षण[2]।
(३) प्रयोग[3]।
(४) तुलना[4]।

---

1 Introspection, 2 Observation, 3 Experiment, 4 Comparative

(५) प्रश्नावली[1]।

(६) मनोविश्लेषण[2]।

यहाँ हम इन भेदों को एक एक करके समझाने की चेष्टा करेंगे।

अन्तर्दर्शन—अन्तर्दर्शन मनोविज्ञान के अध्ययन की एक विशेष विधि है। जिस प्रकार पदार्थ-विज्ञान मे निरीक्षण-विधि का प्रथम स्थान रहता है, उसी प्रकार मनोविज्ञान में अन्तर्दर्शन का प्रथम स्थान है। ससार के वाह्य पदार्थों का ज्ञान हम वाह्य अवलोकन द्वारा कर सकते है। मन दृष्टिगोचर पदार्थ नहीं है। यह एक आन्तरिक पदार्थ है। उसका अध्ययन करने के लिए हमें भीतरी अवलोकन की आवश्यकता पड़ती है। हम अपने मन का ज्ञान वढ़ाकर ही दूसरो के मन को जान सकते हैं। हमारे सम्पर्क मे आनेवाले लोगों की वाह्य-चेष्टाओ का आन्तरिक अर्थ क्या है, यह हम अपने अनुभव के अनुसार ही जान सकते हैं। अतएव सामान्य मनोविज्ञान का आधार अन्तर्दर्शन ही है।

वाल-मन के अध्ययन के विषय मे यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तर्दशन से ही हम उसमे उन्नति कर सकते है। कुछ मनोवैज्ञानिको के कथनानुसार वाल-मन के अध्ययन के लिए एक तरह से अन्तर्दर्शन की आवश्यकता ही नहीं है। वालक के और हमारे जीवन मे इतनी विषमता है कि हमारा अपने मन का अन्तर्दर्शन वालक के व्यवहारो के अर्थ लगाने मे किंचित् ही सहायक होता है। पर यहाँ हमे यह न भुला देना चाहिये कि हम अपने मन के विषय मे जानकारी वढ़ाये विना कदापि दूसरे के मन के विषय में जानकारी नहीं वढ़ा सकते, चाहे वह व्यक्ति वालक हो अथवा प्रौढ़। वाल-मन के विषय मे अपना ज्ञान वढ़ाने के लिए हमे अन्तर्दर्शन से जो सहायता मिल सकती है, वह अमूल्य है। किन्तु इस अन्तर्दर्शन को हमें अपने वाल्य-जीवन की स्मृति से अथवा दूसरे उपकरणों से पूरा करना चाहिये।

निरीक्षण—वाल-मन के अध्ययन की दूसरी महत्त्व की विधि निरीक्षण है। जिस प्रकार दूसरे वैज्ञानिक विषयो के अध्ययन

---

1 Questionaire. 2 Psychology.

के लिए निरीक्षण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार हम बालक के मन का अध्ययन निरीक्षण के द्वारा कर सकते है। बालक की बाह्य चेष्टाओ तथा उपचारो को देखकर हम उसकी मानसिक स्थिति का पता लगा सकते है। बालक जब हँसता है, तब हम उसे प्रसन्नता का सूचक और जब रोता है तब उसे दुःख का सूचक समझते हैं। -अनेक बालकों के खेलने-कूदने तथा भाषा सीखने के तरीको को देखकर ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है, कि खेल-कूद और भाषा का विकास उसके जीवन मे किस प्रकार होता है। इसी तरह हम बालक की बाह्य क्रियाओ का देखकर उसके उद्वेगो, प्रवृत्तियो, कल्पना एवं बुद्धि के विषय में जानकारी बढ़ाते है।

बाल-मन के अध्ययन की कुछ कठिनाइयो को हमने ऊपर दिखाया है। ये सब कठिनाइयाँ बाल-मन के निरीक्षण मे उपस्थित रहती है। हमे बाल-मन के अध्ययन मे बड़ी सावधानी से काम करना पड़ता है। जो मनुष्य बाल-मन का अध्ययन भली भाँति करना चाहता है, उसे अपने बालको के विषय में एक डायरी रखनी चाहिये। वह बालक के व्यवहारो मे जो भी विलक्षण बात देखे, उसे डायरी मे तुरन्त ही लिख ले। कोई कोई मनोवैज्ञानिक इस कार्य को कुशलता से करने के लिए सकेत-लिपि का प्रयोग करते है। बालक के व्यवहारो का निरीक्षण करते समय बालक को यह कदापि ज्ञात न होने देना चाहिये कि उसका निरीक्षण किया जा रहा है; नहीं तो वह सकोचवश स्वाभाविक व्यवहारो को छोड़ देगा, और उसकी सारी क्रियाएँ कृत्रिम हो जायेंगी।

पश्चिमी मनोवैज्ञानिको ने निरीक्षण-कार्य को सफल बनाने के लिए विशेष प्रकार की प्रयोग-शालाएँ बनाई है, जहाँ पर बालक के अनजाने उसका निरीक्षण किया जा सकता है। इस निरीक्षण-शाला मे निरीक्षक एक ऐसे परदे के भीतर बैठा रहता है, जहाँ से निरीक्षक तो बालक को देख सकता है, किन्तु बालक निरीक्षक को नहीं देख सकता। चार-छः बालको को जब इस कमरे मे लाया जाता है तब वे अपने स्वाभाविक खेल खेलते रहते है और निरीक्षक उनको इसी अवस्था मे देख लेता है।

प्रयोग—बाल-मन का अध्ययन प्रयोग द्वारा भी किया जा सकता है। बाल-मन की अनेक क्रियाएँ ऐसी है, जिनकी जाँच हम विशेष प्रयोगो द्वारा कर सकते है। बालक की स्मरण-शक्ति, चित्र-निरीक्षण, कल्पना, विचार शक्ति तथा बुद्धि के विषय मे अनेक प्रकार के प्रयोग किये गये है जिनके फल-स्वरूप बाल-मन के विषय मे हमारे ज्ञान की वृद्धि हुई। प्रत्येक शिक्षक इस प्रकार के प्रयोग अपनी शिक्षा मे कर सकता है। वास्तव मे प्रयोग निरीक्षण से पृथक् कोई वस्तु नही है। निरीक्षण का कार्य जहाँ पर जानी हुई परिस्थिति तथा निरीक्षक के बस मे होता है वहाँ प्रयोग-विधि का कार्य माना गया है।

किन्तु बालको के मन के विषय मे प्रयोग करने की सीमा है। बालक के अनेक व्यवहार ऐसे होते है, जिनके विषय मे प्रयोग नहीं किये जा सकते। प्रयोगशाला कृत्रिम वातावरण से पूर्ण रहती है। ऐसे वातावरण मे बालक के अनेक प्रकार के व्यवहारो के वास्तविक अर्थ को हम नहीं जान सकते। प्रयोगशाला मे आते ही बालक सकोचवश उस प्रकार का व्यवहार नही करता, जिस प्रकार का वह स्वतन्त्र रहने पर करता है। अतएव बालक के व्यवहारो की ऐसी थोड़ी ही बातें हैं, जिनके ऊपर हम प्रयोग कर सकते है।

प्रयोग-विधि की दूसरी कठिनाई यह है कि हम अपना मनोवैज्ञानिक ज्ञान वढ़ाने के लिए बालक के ऊपर सब प्रकार के प्रयोग नहीं कर सकते। जिस प्रकार कोई डाक्टर किसी विष के असर को जानने के लिए किसी स्वस्थ मनुष्य को वह विप नही दे सकता, उसी प्रकार किसी विशेप प्रतिक्रिया को जानने के लिए हम बालक के साथ चाहे जैसा व्यवहार नहीं कर सकते। न तो बालक निर्जीव पदार्थ है और न उसकी गिनती मेढक, चूहे जैसे प्राणियो की श्रेणी मे है, जिनके ऊपर प्राणि-शास्त्र के पण्डित अनेक प्रकार के प्रयोग किया करते हैं। भय की प्रतिक्रिया जानने के लिए हम बालक को भयभीत नहीं करेगे। यदि किसी मनोवैज्ञानिक को बालक के मन पर भय की प्रतिक्रिया के विपय मे जानना है तो उसे [illegible]क्षण मात्र से ही काम लेना होगा।

तुलना—बाल-मन का अध्ययन तुलनात्मक विधि द्वारा भी किया जा सकता है। मनुष्य के और पशुओ के स्वभाव में अनेक प्रकार की समानता है। तुलनात्मक विधि से पशुओ के व्यवहार का अध्ययन मनुष्य के मन के अध्ययन के काम मे लाया जा सकता है। हम बालक के मन के अध्ययन मे भी इस विधि से सहायता पा सकते है। बालक मे और पशुओ के बच्चो में कई बातो मे समानता है। पशुओ के ऊपर किये गये प्रयोग बाल-मन के जानने मे हमे बहुत लाभ पहुँचा सकते है। मनुष्यो और पशुओं के उद्वेग तथा मूल प्रवृत्तियाँ एक-सी रहती है। यदि हम भले प्रकार से पशुओ के उद्वेगो और मूल प्रवृत्तियों का अध्ययन करे तो हमें बालक के मन के विषय मे जानकारी बढ़ाने में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

प्रश्नावली—बाल-मन के अध्ययन की एक महत्त्व की विधि प्रश्नावली है। इस विधि को प्रयोग मे लानेवाला मनोवैज्ञानिक एक प्रश्नावली तैयार करके अनेक शिक्षित माता पिताओ के पास भेज देता है। प्रश्नावली मे ऐसे अनेक विचार होते है जिनसे बालक का हाल मालूम होता है। इस तरह हम भिन्न भिन्न आयु के बालको के मनोविकास का सरलता से पता चला लेते है। भिन्न भिन्न वर्गों के बालको के मनोविकास मे भेद होते हैं। प्रश्नावली की विधि के द्वारा यह सरलता से जाना जा सकता है। प्रश्नावली की विधि मे माता-पिता और शिक्षकों से बड़ी मदद मिलती है।

इस विधि की त्रुटियो को ध्यान मे रखना हमारे लिए आवश्यक है। पहले तो प्रत्येक माता-पिता को इस प्रकार की शिक्षा नहीं मिली रहती, जिससे वे प्रश्नो का ठीक ठीक उत्तर दे सके। दूसरे, इस प्रकार की विधि से एक ही वर्ग के बालकों के विषय मे, जिनके कि माता-पिता शिक्षित हैं—अर्थात् मध्यम श्रेणी और उच्च श्रेणी के बालकों के विषय मे—हम जान सकते है। गरीब बालकों के विषय मे, जिनके कि माता-पिता अशिक्षित है, इस विधि से कुछ भी नहीं जाना जा सकता।

प्रश्नावली विधि की दूसरी त्रुटि यह है कि हम प्रश्नो के उत्तरो के ऊपर पूरा विश्वास नहीं कर सकते। शिक्षित माता-पिताओ में भी

बहुत से इन प्रश्नावलियो का उत्तर देने मे कोई रुचि नहीं रखते, अतएव उनसे उत्तर पाना कठिन होता है। जिन माता-पिताओ को अपने बालको के व्यवहारों का उत्तर देने की रुचि होती है वे भी प्राय: ठीक उत्तर नही देते। वे अपने बालको के विषय मे कदापि ही ऐसी बाते कहेगे, जिससे बालको के व्यवहार की त्रुटियाँ ज्ञात हो।

प्रश्नावली की विधि मे शिक्षक लोग अवश्य सहायक हो सकते है, अतएव प्रत्येक शिक्षक की बाल-मन के अध्ययन की रुचि बढ़ाना परमावश्यक है। जब उन्हे बाल-मन-अध्ययन मे रुचि होगी तो वे बालक के विषय मे अनेक बातो की खोज करने मे सहायक होगे। वे निरपेक्ष भाव से अपने विद्यार्थियो की ओर देख सकते है, अतएव शिक्षको के किसी भी प्रश्नावली के उत्तर महत्त्व के है।

मनोविश्लेषण—बाल-मन-अध्ययन की एक और विधि मनोविश्लेषण है। वर्तमान शताब्दी मे मनोविश्लेषण-विज्ञान की खोजे मनुष्य के स्वभाव का अध्ययन करने मे बड़ी सहायता दे रही है। बाल-मन के समझाने मे भी मनोविश्लेषण महत्त्व का कार्य कर रहा है। मनुष्य का मन दो प्रकार का है—व्यक्त और अव्यक्त। साधारण मनोविज्ञानियों का अध्ययन प्राय: व्यक्त मन तक ही सीमित रहता है। बाल-मन का अध्ययन करने मे कुछ काल पूर्व प्राय: बालक के व्यक्त मन पर ही विचार किया जाता था, किन्तु वर्तमान काल मे बालक के अचेतन मन का भी अध्ययन किया जाता है। मनोविश्लेषण-विज्ञान द्वारा बालक के मन के भीतर दबी हुई भावनाओ और उद्वेगो को बाहर निकाला जाता है और इस प्रकार उनके जीवन की अनेक प्रकार की जटिलताओ का निवारण किया जाता है। मनोविश्लेषण विधि मन के अध्ययन की एक कठिन विधि है। इस विधि का भली भाँति प्रयोग करने के लिए मनोवैज्ञानिक को विशेष प्रकार की शिक्षा लेनी पड़ती है। इस विधि मे बालको के स्वप्न और उनके हाव-भाव का अध्ययन विशेष प्रकार से किया जाता है। मनोवैज्ञानिक को इस विधि का प्रयोग करने के लिए मोह-निद्रा तथा सम्मोहन क्रिया मे दक्ष होना चाहिए। बालक की अनेक अव्यक्त वासनाओ की खोज बालक को मोहनिद्रा मे सुला कर

की जाती है। इसी तरह उसके स्वप्नों का अध्ययन भली भाँति किया जाता है और स्वप्न-विज्ञान की सहायता से उनके स्वप्नों का अर्थ लगाया जाता है। इस विधि का पूरा परिचय पाठक को इस पुस्तक के किसी अगले परिच्छेद मे भले प्रकार कराया जायगा।

विषय-विस्तार

बाल-मन के अध्ययन के अनेक पहलू है। उन सबके ऊपर विचार करना किसी भी लेखक के लिए असम्भव कार्य है। दूसरे, बाल-मनोविज्ञान का सामान्य मनोविज्ञान तथा शिक्षा मनोविज्ञान से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि पिछले दो विज्ञानो के विषय का परिचय कराये बिना हम अपने विषय को भली भाँति स्पष्ट नहीं कर सकते। यहाँ पाठकों को यह जता देना आवश्यक है कि आगे के परिच्छेदो में सामान्य मनोविज्ञान और शिक्षा-मनोविज्ञान पर पूरा प्रकाश डाला जायगा। मनोविज्ञान के प्रत्येक अङ्ग को समझने के लिए सामान्य मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है और शिक्षा-मनोविज्ञान के द्वारा बाल-मनोविज्ञान की उपयोगिता सिद्ध होती है। वास्तव मे बालक के मन के अध्ययन का लक्ष्य निरा अध्ययन नहीं है। इन पृष्ठो में बालक के स्वभाव को समझाकर हमने यह दर्शाने की चेष्टा की है कि अभिभावक और शिक्षकगण बालक के व्यक्तित्व के विकास में, हर एक अवस्था मे, किस प्रकार सहायता कर सकते है।

बालक की अनेक प्रकार की मनोवृत्तियो के अध्ययन का समावेश बाल-मन के अध्ययन मे होता है। ये वृत्तियाँ मनोवैज्ञानिकों ने तीन प्रकार की मानी है—क्रियात्मक,[1] रागात्मक[2] और ज्ञानात्मक[3]। इन तीनो प्रकार को वृत्तियो को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव मे जहाँ मन की एक प्रकार की वृत्ति रहती है, वहाँ दूसरे प्रकार की वृत्तियाँ अवश्य ही रहती है। हमारे अध्ययन

---

1 Contanimative, 2 Affective 3 Cognitive

को सुगम बनाने के लिए ही इस प्रकार का विषयविभाजन किया गया है। जब हम रागात्मक वृत्तियो पर विचार करेंगे तो दूसरी दो प्रकार की वृत्तियों पर उतना ही प्रकाश डाला जायगा, जितना कि वृत्ति के रागात्मक रूप को भली भाँति समझने के लिए पर्याप्त है।

इस पुस्तक मे उपर्युक्त तीन प्रकार की वृत्तियो से सम्बन्धित विषयो को पृथक्-पृथक् विभागो में विभक्त नहीं किया गया है। बालक के मनोविकास के क्रमानुसार ही भिन्न भिन्न विषयो का वर्णन करने की चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ, पहले बालक की क्रियात्मक वृत्तियो पर प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् उसके संवेगो और ज्ञानात्मक वृत्तियो का अध्ययन किया गया है। बालक के चरित्र मे सब प्रकार की मनोवृत्तियो का समावेश होता है। अतएव चरित्र-गठन का विषय बालक की क्रियात्मक, रागात्मक, ज्ञानात्मक वृत्तियो के वर्णन के पश्चात् लिया है। अन्त मे हमने महत्त्वपूर्ण आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजो की बाल्य-मन के अध्ययन मे उपयोगिता बतलाई है। ये खोजें मनोविश्लेषण, जटिल बालक तथा बुद्धि-माप सम्बन्धी है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि बाल-मन का भले प्रकार अध्ययन करने के लिए पाठक को बालक के वातावरण और पैतृक सस्कारो के महत्त्व, विकास की अवस्थाओ, उसकी मूल प्रवृत्तियो, आदतो, सीखने के नियमो, बालक के संवेग तथा ज्ञानात्मक वृत्तियो—जैसे इन्द्रिय-ज्ञान, प्रत्यक्ष, कल्पना, स्मृति, विचार इत्यादि—का अध्ययन भले प्रकार से करना पड़ेगा। उसके चरित्र-विकास के नियमो, व्यक्तित्व के विकास मे कठिनाइयो और आधुनिक खोजो की महत्ता जानने की आवश्यकता है। अगले प्रकरणो मे इन सभी विषयों पर यथोचित प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

दूसरा प्रकरण

बालक के मानसिक विकास की अवस्थाएँ

मनोवैज्ञानिको ने बालकों के मानसिक विकास को चार भागों मे विभाजित किया है,—शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था। इन अवस्थाओं के भिन्न भिन्न लक्षण होते हैं। जब कोई बालक एक अवस्था को पार कर दूसरी अवस्था मे जाता है तो उसकी आकृति, हाव-भाव और व्यवहारों मे इतना परिवर्तन हो जाता है कि हम उनको देखकर सरलता से यह पता चला सकते है कि बालक अमुक समय में किस मानसिक विकास की अवस्था मे है। प्रत्येक अवस्था में बालक के स्वभाव में भिन्नता होने के कारण हमे बालक से विशेप प्रकार का व्यवहार रखना पड़ता है और उसके मनोविकास तथा वुद्धि के लिए विशेप प्रकार की सामग्री एव साधनो को एकत्र करना पड़ता है। बालक की शिक्षा में उसके मनोविकास-क्रम को ध्यान में रखना परमावश्यक है। जिस प्रकार की शिक्षा किशोरावस्था के बालको को दी जा सकती है, जिस प्रकार का नियन्त्रण उनके ऊपर रखा जा सकता है, उस प्रकार की शिक्षा यदि हम पहली अवस्थावाले बालकों को देना चाहें, तो हम बालकों के प्रति बड़ा अन्याय करेंगे और हमारा इस प्रकार का प्रयास निष्फल ही होगा।

स्टेन्ले हाल का मनोविकास का सिद्धान्त—स्टेनले हाल महाशय ने बाल-मनोविकास के विषय मे एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर करने की चेष्टा की है। उनके कथनानुसार बालक के मनोविकास का क्रम मनुष्य मात्र के मनोविकास के क्रम से सामञ्जस्य रखता है। जिस तरह मनुष्य अपनी प्राकृतिक और बर्बर अवस्था से मुक्त होकर सभ्यता की ऊँची मञ्जिल पर पहुँचा है, इसी प्रकार प्रत्येक बालक अपने जीवन में क्रमशः प्राकृतिक जीवन को पार कर सभ्य-समाज मे रहने योग्य बनता है। प्रत्येक बालक मनुष्य मात्र के

विकास के समस्त क्रम को अपने जीवन में वरतता है। यहाँ हमारा ध्यान इस तथ्य के ऊपर आकर्षित किया जाता है कि जिस प्रकार मनुष्य का असभ्य समाज एकाएक सभ्य नहीं बना है और न किसी असभ्य समाज को आज एकाएक सभ्य वनाना सम्भव है, उसी प्रकार कोई भी वालक अपने जन्म-जात पशु-स्वभाव को छोड़कर शिष्टाचारी, विचारवान् व्यक्ति नहीं वन सकता। वालक की रुचियाँ उसके मनोविकास के क्रमानुसार भिन्न होती हैं। उसकी भिन्न भिन्न अवस्था मे भिन्न भिन्न कल्पनाएँ होती है। इसी तरह उसके आचरण की शक्ति मे भी अवस्था के अनुसार भेद होते है।

प्रौढ़ व्यक्तियो को वाल-मन के जानने मे इसलिए कठिनाई पडती है कि वे जिन अवस्थाओ को पार कर चुके हैं, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अपने अनुभवो को भूल जाते है और अपनी दृष्टि से वालकों के व्यवहारो तथा विचारो पर विवेचना करने लग जाते है। वालक को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक को अपनी अनुभूति का स्मरण रखना आवश्यक है। वालक को जानने के लिए वालक वन जाना पड़ता है। यदि हम बालक के विकास के क्रम को सदा ध्यान मे रखे, तो हम कदापि वालक के प्रति अन्याय न करेगे। हमे फिर वालक का प्रत्येक काम—चाहे वह ऊपरी दृष्टि से कितना ही निरर्थक क्यो न जान पडे—महत्त्व का ज्ञात होने लगेगा। हम वालक के मन मे वरवस उन वातो को न ठूँसेगे, जिनके लिए उसके मन मे भूख नहीं है। हम उसे इस प्रकार के नियन्त्रण मे न रखेगे जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जाय। समय के पूर्व जिस वालक को विचारवान् वनाने की चेष्टा की जाती है वह स्फूर्तिवान् नहीं, मन्दवुद्धि हो जाता है, और जिसे समय के पूर्व सदाचारी वनाने की चेष्टा की जाती है वह दुराचारी वन जाता है। इस तरह से हम वालक के प्रति सद्भावना रखकर भी वाल-मनोविकास के ज्ञान के अभाव मे उसका कल्याण न कर अकल्याण ही करते है*।

---

* इस कथन को निम्नलिखित उदाहरण, जो डमिल महाशय अपनी फन्डामेन्टल्स आफ़ साइकलोजी नामक पुस्तक में दिया है, स्पष्ट करता है। यह उदाहरण इँगलैंड के महाराज सप्तम एडवर्ड का है—

स्टेनले हाल महाशय ने अपनी एडोलसेन्स (किशोरावस्था) नामक पुस्तक मे भली भाँति समझाया है कि बालक के मनोविकास के क्रम की किसी प्रकार अवहेलना नहीं की जा सकती है। जहाँ भी अवहेलना करने की चेष्टा की गई है, अनर्थ ही हुआ है।

सप्तम एडवर्ड को किसी प्रकार के अध्ययन की रुचि न थी। वे पढ़ने-लिखने से दूर भागते थे। किसी जटिल विषय का मनोयोग से अध्ययन करना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। उनका पढ़ना अख़बारो और मासिक पत्रिकाओ तक ही सीमित था। उनकी जीवनी में रुचि रखनेवाले लोगो ने इस प्रकार के उनके विशेष व्यवहार का कारण जानने की चेष्टा की। उनके जीवन का भली भाँति अध्ययन करने से पता चला कि उनके पिता उनको बाल्यावस्था में ही विद्वान् बना देना चाहते थे। अपनी इस कामना की पूर्ति के लिए उन्होंने बालक एडवर्ड के लिए कई अध्यापक नियुक्त कर दिये। उसका प्रायः सारा समय अध्ययन करने मे ही व्यतीत होता था। बालक अपनी शीलता के कारण माता-पिता की आज्ञाओं का उल्लंघन नही करता था। जहाँ तक हो सकता था, वह अपना सारा समय पढ़ने-लिखने मे ही लगाता था। किन्तु इस प्रकार का जीवन व्यतीत करना उसके वास्तविक स्वभाव के प्रतिकूल था। उसका हृदय अपने साथियों के साथ खेलने के लिए सदा लालायित रहता था। किन्तु उसकी इस इच्छा की पूर्ति के लिए उसे कोई अवसर नहीं दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तरफ तो बालक सुशीलतावश अध्ययन मे समय लगाता रहा, और दूसरी तरफ उसके आन्तरिक हृदय मे पढ़ने-लिखने के प्रति स्थायी घृणा हो गई। वास्तव मे बालक पढ़ना नहीं चाहता था। अत. अनुचित दबाव डालकर उसे पढ़ाया जाता था। ऐसा करने से उसके अदृश्य मन मे पढने के प्रति घृणा की एक ग्रन्थि बन गई। बालक की जब प्रौढ़ावस्था हुई तब उसकी ग्रन्थि की प्रतिक्रिया पढ़ने-लिखने के विषय मे, अरुचि के रूप मे, प्रकट हुई। पिता बालक को जितना ही विद्वान् बनाना चाहता था, बालक प्रौढ़ावस्था में उतना ही विद्या और विद्वानों की संगति से विमुख हो गया।

अर्नेस्ट जोन्स का सिद्धान्त

मनोविश्लेषण-विज्ञान के विशेषज्ञ अर्नेस्ट जोन्स ने बालक के मनोविकास की अवस्था के विषय में एक नया सिद्धान्त स्थिर किया है, जो यहाँ उल्लेखनीय है। अर्नेस्ट जोन्स का कथन है कि बालक के मन का विकास उसके प्रेम अथवा काम-प्रवृत्ति के विकास के साथ-साथ होता है। मनोविश्लेषण-विज्ञान के अनुसार काम-प्रवृत्ति और प्रेम-भावना मे मौलिक भेद नहीं है। प्रत्येक प्रेम-प्रदर्शन करनेवाली क्रिया की जड़ में काम-प्रवृत्ति ही रहती है।*

बालक के प्रेम-प्रदर्शन की चार अवस्थाएँ जोन्स महाशय ने बताई है। पहली अवस्था मे वह अपने ऊपर ही प्रेम करता है और अपने आप पर मोहित रहता है। इस अवस्था का नाम 'नार्सीसीजम'† की अवस्था बताया गया है। बालक इस अवस्था में अपने आप ही मे मग्न रहता है। उसके खेल वैयक्तिक रहते हैं। वह अपने कामो को बड़ो प्रसन्नता के साथ करता और उन्हे अपने आप सुन्दर समझता है। यह शैशवावस्था का काल है।

प्रेम-विकास की दूसरी अवस्था माता-पिता के प्रति प्रेम की अवस्था है। इस अवस्था को ओडिपस काम्प्लेक्स और एलेक्ट्रा

---

* डाक्टर गिरीशचन्द्र बोस का, जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के अध्यक्ष हैं, कथन है "काम-भावना प्रेम के बिना हो सकती है, किन्तु काम-भावना के बिना प्रेम नहीं हो सकता।"

† यह शब्द ग्रीस देश के एक प्रसिद्ध कथानक से निकला है। नार्सीसस नाम का एक बालक था। यह बालक एक दिन अकेला एक सुन्दर तालाब के पास गया। कुछ देर तक उसके किनारे खेलते खेलते बालक की दृष्टि अपनी परछाईं पर पड़ी। इस परछाईं को देखकर वह मोहित हो गया। उसने समझा कि पानी मे एक सुन्दर बालक है। उसे नार्सीसस ने बुलाने की बहुत चेष्टा की किन्तु जब वह न आया तब तालाब के किनारे ही उसकी चिन्ता करते करते वह मर गया।

ग्रीक लोगों के उपर्युक्त कथानक के आधार पर मनोविश्लेषण के वैज्ञानिको ने आत्ममोह की अवस्था का नाम नार्सीसस रक्खा है।

काम्प्लेक्स कहा गया है। यह बाल्यावस्था का काल है। इस अवस्था मे लड़की का विशेष प्यार पिता की ओर होता है और लड़के का माता की ओर। बालक सदा अपने प्रेमी के प्रेम के ऊपर पूरा पूरा अधिकार चाहता है। उसे अपने प्रेम-पात्र के प्रेम का बँटवारा करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से ईर्ष्या होती है। इस काल में बालक के मन मे ऐसी अनेक ग्रन्थियाँ पड़ जाती है, जिनसे बालक के व्यक्तित्व का विकास होने मे भारी अड़चन होती है। माता-पिता को इस काल में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये। कुटुम्ब का प्रत्येक बालक नये बालक के जन्म से प्रसन्न नहीं होता, उसे तो अनेक प्रकार की आन्तरिक वेदनाएँ होने लगती है।* माता-पिता प्रायः सब से छोटे बालक को

---

* डभिल महोदय की अपनी फन्डामेंटल्स आफ साइकलोजी नामक पुस्तक मे दिया हुआ एक उदाहरण उपर्युक्त कथन को भली भाँति स्पष्ट करता है। वह इस प्रकार है :—

एक अँगरेज़ की नव वर्ष की बालिका फ्रेञ्च भाषा पढ़ने में पिछड़ने लगी। इस बालिका को उस भाषा के पढ़ने में इसलिए कठिनाई होती थी कि वह शब्दो के बहुवचन न बना सकती थी। शिक्षको के अनेक प्रयत्न करने पर भी उसकी स्मरण-शक्ति मे कोई परिवर्तन न हुआ। इससे लोग तङ्ग आ गये। जब प्रयत्न करते करते उसके माता-पिता और शिक्षक-गण थक गये, तब उन्होने एक मनोविश्लेषण-विज्ञान के ज्ञाता की शरण ली। बालिका के व्यवहारों की छानबीन करने से उस वैज्ञानिक को पता चला कि अपने सम्बन्धियो के प्रति बालिका का व्यवहार उदासीनता का रहता है। उसके स्वप्नो का भी अध्ययन किया गया। बालिका के स्वप्न विचित्र प्रकार के होते थे। वह स्वप्नो में प्रायः देखा करती कि उसके सभी सम्बन्धी मर गये हैं और वही अकेली जीवित रह गई है। बालिका के पिछले दिनो की जांच करने से ज्ञात हुआ कि कुछ वर्ष पहले माता-पिता का उस बालिका पर अत्यधिक प्रेम था। पर उसका एक छोटा भाई पैदा होने पर उसी को लोग अधिक प्यार करने लगे, लड़की पर प्रेम कम हो गया।

अधिक चाहते है। किन्तु इस बात को बड़ा बालक सहन नहीं कर सकता। मनोविश्लेषण-वैज्ञानिकों ने उपर्युक्त कथन की पुष्टि मनोविश्लेषण द्वारा स्वस्थ किये गये जटिल बालको के उदाहरण से की है।

माता-पिता के प्रति प्रेम की अवस्था पार करने पर बालक की तीसरी अवस्था आती है। इस अवस्था में वह स्ववर्गी बालको से प्रेम-भाव स्थापित करता है। यह शैशवावस्था का प्रथम चरण है। इस

बालिका का भाई इस समय ४ साल का था। थोड़े दिन पहले यह बच्चा अपनी बहन को बहुत प्यार करता था और जैसा वह कहती, वैसा ही करता था। वह जहाँ कहीं जाती, भाई भी पीछे पीछे जाता था। वह जो कुछ खेलती उसी खेल मे भाई मन लगाता था। पर थोड़े दिन से उसके इस व्यवहार मे अन्तर पड़ गया था। अब वह बहन को अनेक प्रकार से चिढ़ाने और नीचा दिखाने की चेष्टा करने लगा था। खेल खेल में वह अपने आप को दूसरो के सामने बहन से अधिक योग्य सिद्ध करने की चेष्टा किया करता था। जब कभी बालक शराब के सौदागर का खेल खेलता था तब माता-पिता से पूछता था कि हमारी बोतल की शराब लोगे या हमारी बहन की बोतल की। माता पिता स्वभावतः छोटे बालक से शराब लेना पसन्द करते थे। इससे उसकी बहन को आन्तरिक दु.ख होता था। उसकी बहन के मन में कुछ समय के बाद इस बालक के, और माता-पिता के प्रति घृणा की एक गाँठ पड़ गई। इस भावना-ग्रन्थि का ही यह कार्य्य था कि यह बालिका अपने माता-पिता से उदासीन रहती थी, कुटुम्बियो के मर जाने का स्वप्न देखती थी और फ्रेञ्च भाषा के बहुवचन पढने में उसे कठिनाई होती थी। उसका अदृश्य मन अपने सम्बन्धियो के प्रेम से वचित रहने के कारण उन्हे शाप दिया करता था। बालिका अपने परिवार में ऐसे लोगों की उपस्थिति ही नही चाहती थी, जो उसकी इस प्रकार अवहेलना करे—उसे एकवचन ही प्रिय था, बहुवचन नही। इसी लिए उसे फ्रेञ्च भाषा के बहुवचन याद करने मे कठिनाई पड़ती थी।

काल में प्रत्येक बालक का प्रेम-पात्र अपने साथ खेलनेवाला बालक होता है, जिसके बिना वह क्षण भर भी नहीं रह सकता। बालक इस काल में स्वार्थी न रहकर त्यागी बन जाता है। वह अपने मित्र के लिए सब प्रकार के संकट सहने को तैयार रहता है। जिन बालकों को इस काल में अपने मन के साथी नहीं मिल पाते वे अनेक काल्पनिक साथी बना लेते है। वास्तव मे यह काल बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए सब से महत्त्व का होता है। अपने साथियो में रहकर बालक नैतिक जीवन की महत्ता को जानने लगता है। वास्तव में इसी समय से बालक की नैतिकता और चरित्र-विकास का प्रारम्भ होता है। जिन बालकों को अच्छे साथी मिलते हैं, उनका जीवन सुयोग्य बन जाता है। जिन्हें ऐसे साथी नहीं मिलते उनका जीवन सदैव के लिए अधूरा रह जाता है। मनुष्य के जीवन को उत्कृष्ट बनानेवाले सद्गुणों का स्फुरण इसी काल से प्रारम्भ होता है।

स्टेनले हाल महाशय ने किशोरावस्था को जीवन का वसन्त कहा है। वसन्त ऋतु से बढ़कर मनमोहिनी कोई ऋतु नहीं है। यह वही ऋतु है जिसमें प्रकृति सब प्रकार से सुसज्जित होकर द्रष्टा के मन को लुभाती है। वसन्त में प्रत्येक प्राणी अपनी दुःखद भावना को छोड़कर प्रसन्नता से परिपूर्ण हो जाता है। इसी तरह किशोरावस्था मे बालक रूप-रंग से सुन्दर, शरीर से सुडौल तथा बोल-चाल में मधुर होता है। किशोर बालक को देखकर प्रत्येक व्यक्ति का मन आकर्षित हो जाता है। किशोर बालक पर प्रौढ़ लोग मोहित होते ही हैं, समवयस्क तो और भी अधिक मोहित होते है। दो किशोर बालको मे कितनी घनिष्ठता हो सकती है, इसका अन्दाज़ा लगाना प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए कठिन है।

जिस प्रकार किशोर बालक ऊपर से सुन्दर लगता है उसी प्रकार उसका मन भी सरल और सुन्दर रहता है। यह विरले ही बालक के विषय मे कहा जा सकता है कि—"मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विष रस भरा कनक-घट जैसे।" वास्तव मे हमारा कलुषित मन ही बालक की मानसिक सुन्दरता को जानने में बाधक होता है।

किशोर बालक बड़ा उत्साही, त्यागी और सक्रिय होता है। वह आगे-पीछे का विचार नही करता। जिस भावना को वह भली समझता है, उसके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार रहता है। आदर्शवादिता का बीजारोपण इसी काल मे होता है।

मनोविकास की चौथी अवस्था मे बालक का प्रेम विजातीय बालको के प्रति जाता है। लड़के लड़कियो को प्यार करते हैं और लड़कियाँ लड़कों को। यह अवस्था प्रौढ़ावस्था के आगमन की सूचक है। इसका प्रारम्भ किशोरावस्था के द्वितीय चरण मे होता है और जीवन पर्यन्त रहता है। वास्तव मे मनुष्य के भविष्य का निर्माण इसी समय हो जाता है। किसी व्यक्ति के मन मे जो कुछ लगन रहती है उसका प्रारम्भ और वृद्धि शैशव के दोनो चरणो मे होता है।

काल की दृष्टि से देखा जाय तो सामान्यत: शैशवावस्था जन्म से पाँच वर्ष तक, बाल्यावस्था पाँच से दस वर्ष तक, किशोरावस्था का पूर्व भाग दस से तेरह वर्ष तक और अन्तिम भाग तेरह वर्ष से अठारह वर्ष तक रहता है।

तीसरा प्रकरण

बालक के मनोविकास के उपकरण

बालक के मनोविकास के उपकरण दो प्रकार के कहे जा सकते है। ये उपकरण है बालक का जन्मजात स्वभाव और बाह्य परिस्थितियाँ। इन्हीं का दूसरा नाम बालक की प्रकृति और बालक का पालन है। बालक के जीवन-विकास में इन दोनो अङ्गों का कहाँ तक महत्त्व है, इसे जानना प्रत्येक माता-पिता और शिक्षक के लिए परमावश्यक है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् हम यह निश्चय कर सकते है कि बालक को किस प्रकार की और कहाँ तक शिक्षा दी जाय ताकि उसके मनोविकास के कार्य्य की गति न रुके।

बालक का जन्मजात स्वभाव—बालक का जन्मजात स्वभाव अधिकतर पैतृक संपत्ति पर निर्भर रहता है। इसको वंशानुक्रम कहा जाता है। बालक को अनेक शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ अपने माता-पिता से मिलती हैं। प्रायः देखा गया है कि रूप-रङ्ग, शरीर की बनावट और कद की ऊँचाई में बेटा अपने माता-पिता जैसा होता है। कई मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालक की बुद्धि, रुचि, आदतें तथा चरित्र भी वंशानुक्रम से प्रभावित होते हैं। प्रायः देखा गया है कि सदाचार-सम्पन्न बुद्धिमान् घरों के बालक सदाचारी और बुद्धिमान् होते हैं तथा दुराचारी और मन्द बुद्धिवाले माता-पिता की सन्तान मन्दबुद्धि और दुराचारी होती है। कितने ही मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि 'जिस प्रकार हम अपने शरीर को माता-पिता से पाते हैं उसी प्रकार चरित्र भी माता-पिता से ही पाते हैं।' यदि इस कथन में सत्यता है तो शिक्षक का कार्य्य बहुत ही सीमित हो जाता है अतएव हमें वंशानुक्रम के प्रभाव को भली भाँति जानना आवश्यक है।

वातावरण[1] का प्रभाव—बालक के स्वभाव के विकास मे दूसरा महत्त्व का अग वातावरण का प्रभाव है। बालक जिस परिस्थिति मे जन्म से रहता है, जिस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा उसे दी जाती है, उसके सम्पर्क मे आनेवाले लोग उससे जिस तरह का व्यवहार करते है—इन सबका समावेश वातावरण के अन्तर्गत होता है। देखा गया है कि अच्छे से अच्छे घर के बालक प्रतिकूल वातावरण मे पड़कर अपनी प्रतिभा को प्रकाशित नहीं कर पाते। इसो तरह सदाचारी घर के बालक कुसगति पाकर दुराचारी बन जाते है। इसके प्रतिकूल यह भी देखा गया है कि अभिभावको ने जिन बालको को मन्दबुद्धि अथवा दुराचारी समझ-कर समाज का कलङ्क समझा था, उन्हीं बालको को योग्य शिक्षा देकर समाज का रत्न बना दिया गया। डाक्टर होमरलेन ने रिफार्मेटरी (सुधारगृहो) के सैकड़ो दुराचारी बालको को अपनी शरण में लेकर उनके जीवन मे आश्चर्य्यजनक परिवर्तन कर दिखाया। जिस बालक को शिक्षा नही दी जाती वह जन्म से कितना ही प्रतिभाशाली क्यो न हो, समाजोपयोगी या प्रभावशाली व्यक्ति कदापि नही बन सकता। इसका समर्थन प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष अपने अनुभव से करेगा।

अब यह देखना है कि बालक के मनोविकास मे उसकी पैतृक सम्पत्ति और वातावरण का प्रभाव कहाँ तक होता है। इस विषय पर किसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व कुछ पाश्चात्य विद्वानो के प्रयोगो तथा उनके मतो का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

वंशानुक्रम का अध्ययन

वंशानुक्रम का अध्ययन फ्रान्सिस गाल्टन, डग्डेल, डा० स्टार्ब्रुक, कार्ल पियरसन, गुडार्ड और विशिप महाशय ने किया है। सबसे पहले का फ्रान्सिस गाल्टन का कार्य है। गाल्टन महाशय ने आठ जुड़वाँ बच्चो के जीवन का अध्ययन किया। इससे पता चला कि इन जुड़वाँ बच्चो का जीवन, एक दूसरे से इतना मिलता-जुलता है, जितना कि एक ही कारखाने की बनाई हुई एक ही तरह की

1 Environment 2. Heredity

दो घड़ियों का, जिनमें एक साथ चाबी दे दी जाती हों। डग्डेल और स्टाब्रुक ने अमेरिका के जूक्स नामक एक परिवार का अध्ययन किया। इस परिवार के लगभग १००० लोगो के जीवन की जाँच से पता चला कि उनमे से ३०० शैशवावस्था में ही मर गये। ३१० भिखमंगे हुए। ४४० जीवन भर रोगग्रस्त रहे। १३० को अनेक प्रकार की सज़ाएँ हुई जिनमे सात ख़ूनी थे। केवल २० व्यक्तियो ने अपना जीवन रोज़गार सीखकर व्यतीत किया। इस परिवार का जन्मदाता जूक्स था जो शिकार करके तथा मछलियाँ मारकर निर्वाह करता था। उसने एक भ्रष्ट परिवार की महिला के साथ विवाह किया। इसी के फल-स्वरूप ऊपर बताये हुए १००० बेकार और दुराचारी लोगो का जन्म हुआ।

कार्ल पियरसन ने बेजवुड-डार्विन-गाल्टन परिवार के इतिहास के १००० लोगो का अध्ययन किया। इससे पता चला कि इस परिवार के सैकड़ो लोगों ने प्रतिष्ठा के स्थान पाये और समाज की बड़ी सेवा की। इस परिवार के लोग ५ पीढ़ी तक बराबर इँगलैण्ड की रायल सोसाइटी के सदस्य रहे।

गोडार्ड महाशय ने कालीकक नामक परिवार का अध्ययन किया। अमेरिका के एक सिपाही कालीकक ने दो विवाह किये। पहला एक मन्द बुद्धिवाली युवती के साथ और दूसरा एक प्रतिभाशाली, धर्मपरायण अच्छे परिवार की महिला के साथ। गोडार्ड ने पहली महिला से उत्पन्न ४८० व्यक्ति पाये और दूसरी महिला से ४९६। पहली महिला की सन्तान मे १४३ मन्दबुद्धि थे। इस परिवार में दुराचार का भी आधिक्य था। इनमे से ७१ व्यक्ति वेश्यागामी, शराबी, चोर इत्यादि थे। कालीकक की दूसरी पत्नी से उत्पन्न लोगों में से नामी प्रोफेसर डाक्टर वकील तथा राज्य के प्रतिष्ठित अधिकारी हुए।

विंशिप महाशय ने एडवर्ड परिवार का अध्ययन किया। रिचार्ड एडवर्ड नामक एक व्यक्ति ने एलिज़ाबेथ नामक एक बुद्धिमती महिला से व्याह किया। पीछे उसने एक साधारण स्त्री से भी विवाह कर लिया। पहले विवाह से पैदा हुई सन्तानो मे अनेक

प्रतिष्ठित लोग उत्पन्न हुए और दूसरे सम्बन्ध से ऐसा कोई भी न हुआ जो सामाज मे प्रतिष्ठा का स्थान पाता।

उपर्युक्त जॉच-पड़ताल से यह सिद्धान्त निकलता है कि बालक की प्रतिभा के विकास मे वंशानुक्रम का बड़ा प्रभाव होता है।

वातावरण के प्रभाव का अध्ययन

जिस प्रकार अनेक मनोवैज्ञानिको ने वंशानुक्रम का अध्ययन किया है, उसी प्रकार दूसरे उत्साही पुरुषो ने वातावरण का अध्ययन किया है। १९वीं शताब्दी के अनेक योरोपीय विद्वानो का मत था कि बालक के जीवन मे विशेष महत्त्व वातावरण का है, वंशानुक्रम का प्रभाव तो बिल्कुल तुच्छ होता है। फ्रान्स के हेल्वासियस् महाशय इस मत के प्रतिपादक थे। इस मत का समर्थन इंगलैण्ड के लाक महाशय द्वारा प्रतिपादित मन के स्वरूप-विषयक सिद्धान्तो से हुआ। लाक महाशय का कथन है कि मनुष्य का मन एक स्वच्छ काले तख्ते के समान है जिस पर बिना लिखे कोई भी सस्कार अंकित नहीं होता। जिस प्रकार काले तख्ते पर लिखे जाने के कारण अनेक प्रकार के सस्कार पड़ जाते है उसी प्रकार हमारे स्वच्छ मन के ऊपर वातावरण-जनित अनुभवो के कारण अनेक सस्कार पड़ते है। जिस बालक का लालन-पालन जिस प्रकार के वातावरण मे होता है, जैसी उसको शिक्षा होती है, वैसे ही उसके मानसिक सस्कार बन जाते हैं, अतएव बालक की मानसिक उन्नति मे उसका शिक्षा और वातावरण का प्रमुख स्थान है।

इस सिद्धान्त के समर्थन के लिए फ्रास के कैंडोल महाशय ने यूरोप के ५५२ बड़े बड़े विद्वानो की जीवनी का अनुशीलन किया। इन विद्वानों मे इंगलैण्ड की रायल सोसाइटी, पेरिस की एकेडेमी आफ साइन्स, और बर्लिन की रायल एकेडेमी के लोग थे। इस अध्ययन से उन्हे पता चला कि इन विद्वानो मे से अनेको का जन्म धनी घरानो मे हुआ था; उन्हे अपनी आजीविका के लिए चिन्ता नहीं करनी पड़ी थी; शिक्षा की सब प्रकार की

सुविधाएँ उनको थीं तथा उन्हें जनता और सरकार से सब तरह की सहायता मिलती रही।

एक और उदाहरण उल्लेखनीय है। मुरे द्वीप के लोग एक निरी बर्बर जाति के है। इनकी भाषा में छः से अधिक गिनने के लिए शब्द नहीं थे। किन्तु जब इन्हीं लोगो को अच्छी शिक्षा दी गई तब वे सभ्य जाति के विद्वानों जैसे गणित के विद्वान् हो गये।

हम देखते है कि भारतवर्ष मे सथाल लोगों को शिक्षा देकर सुयोग्य बना लिया गया है। इसी तरह देशसेवक भारतीयो के प्रयत्नो से भारत के हरिजनों में चमत्कारजनक उन्नति हुई है। कोई कोई हरिजन बालक उच्च वर्णों के बालको जैसी प्रतिभा दिखाते है।

वास्तव में प्रत्येक बालक में सद्गुण है, परन्तु वे शिक्षा के अभाव से प्रकाशित नहीं हो पाते। सुयोग्य शिक्षा देने से एक साधारण परिवार का बालक भी संसार मे चमत्कार दिखला सकता है। हेवर्ड महाशय ने शिक्षा और वंशानुक्रम का भूत (एज्यूकेशन एंड हेरिडिटी इस्पेक्टर) नामक पुस्तक मे यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वशानुक्रम का प्रभाव बालक के विकास में बिल्कुल तुच्छ है। यह एक प्रकार का भूत है जो तीक्ष्ण बुद्धि से विचार करने पर तुरन्त भाग जाता है। बालक की पैतृक सम्पत्तियाँ ऐसी है जिनको हम चाहे जिस उपयोग मे ला सकते है। यदि बालक को शिक्षा दी जाय तो वह उन गुणो को प्रदर्शित करेगा, जिनका उसके माता-पिता में बिल्कुल अभाव देखा गया था।

वंशानुक्रम के नियम

विद्वानो ने वंशानुक्रम का विशेष रूप से अध्ययन करके अनेक नियम निर्धारित करने की चेष्टा की है। उनमे से निम्न-लिखित तीन नियम महत्त्व के है—

कीटाणु की निर्विघ्नता[1]—बालक माता-पिता से वपौती के रूप में उन सभी गुणो को पाता है जो उन्हे उनके पूर्वजो से मिले

1. Continuity of Germplasm

है। किन्तु जो गुण माता-पिता ने अपने जीवनकाल मे उपार्जित किये है, उन्हें वह प्राप्त नहीं करता। इस सिद्धान्त का नाम ही कीटाणु की निर्विघ्नता रक्खा गया है। यदि माता-पिता अपने परिश्रम से किसी प्रकार की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं तो यह, इस सिद्धान्त से, बालक मे बिना शिक्षा के पैदा न होगी। अतएव मनुष्य की प्रत्येक पीढ़ी मे बाल्यावस्था में शिक्षा पाने की बड़ी आवश्यकता है। यदि किसी भी पीढ़ी मे, किसी सभ्य समाज मे, शिक्षा का कार्य शिथिल पड़ जाय तो उस पीढ़ी के लोग बर्बरता की ओर अग्रसर हो जायँगे। पैदा होने के समय सभ्य और असभ्य दोनो ही समाजो के बालक एक से होते है। इन बालको की स्थिति बर्बर जाति के बालकों जैसी होती है। इन्हे शिक्षा से ही सुधारा जाता है।

जहाँ उपरोक्त नियम के कारण बालक को कठिनाई है वहाँ इस नियम से एक यह लाभ भी है कि माता-पिता के दुर्गुण, वशानुक्रम की गति के अनुसार, सन्तान मे नहीं आ जाते। दुराचारी पिता का पुत्र अच्छे वातावरण मे रक्खा जाय तो सदाचारी बन सकता है। जहाँ एक तरफ यह बात सत्य है कि यदि किसी बालक का पिता बड़ा विद्वान्, गायक और कसरती हो तो उसका पुत्र वैसा ही विद्वान्, गायक और कसरती—शिक्षा के अभाव मे भी—अपने आप न बन जायगा, वहाँ यह बात भी सत्य है कि दुर्व्यसनो मे पड़े हुए पिता का पुत्र स्वभाव से ही दुर्व्यसनी नहीं हो जाता। यदि किसी पीढ़ी के बालको को भली भाँति शिक्षा दी जाय तो हम किसी भी समाज को उसके सम्पूर्ण दोषो से मुक्त कर सकते है।

इस सिद्धान्त के समर्थन के लिए जर्मनी के वाइसमैन नामक विद्वान् ने अनेक प्रयोग किये जिनमे से एक उल्लेखनीय है—

वाइसमैन ने कुछ चूहे पाले और उनकी पूँछें काट दीं। जब इन पुँछकटे चूहो के बच्चे पैदा हुए तो देखा गया कि सभी के पूछें हैं। इस प्रकार वाइसमैन बीस-पचीस पीढ़ियो तक चूहो की पूँछें काटते रहे। परन्तु प्रत्येक पीढ़ी के चूहो के वैसी ही पूँछ हो जाती थी जैसी कि प्रथम पीढ़ी के चूहो के थी। अर्थात् चूहों

मे अपने माता-पिता की कमी पैतृक सम्पत्ति के रूप में नहीं आती थी। प्रत्येक पीढ़ी के चूहे माता-पिता से उन्हीं गुणो को लेते थे, जो उनके माता-पिता को पूर्वजो से मिले थे। देखा गया है कि लँगड़े, लूले और काने माता-पिता के लड़के लँगड़े, लूले और काने नहीं होते। यदि किसी ख़ूबसूरत मनुष्य का चेहरा चेचक के कारण बिगड़ जाता है, तो उसकी सन्तान के चेहरे पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उसे तो मनुष्य के चेहरे की प्रथम सुन्दरता ही प्राप्त होती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त से बालक के मनोविकास के सम्बन्ध मे शिक्षक का जो कर्तव्य है वह भलो भाँति मालूम हो जाता है। जिस बालक को शिक्षा नहीं दी जायगी वह सुयोग्य व्यक्ति नहीं बन सकता। दूसरे हमे अपने माता-पिता की अयोग्यता का पता पाकर शिक्षा का प्रभाव शिथिल न करना चाहिए, क्योंकि अयोग्य से अयोग्य माता-पिता का बालक वातावरण से सुयोग्य बनाया जा सकता है। वास्तव में बालक न तो अपनी तुरन्त की पहली पीढ़ी की योग्यता को वंशानुक्रम के अनुसार लेता है और न उसकी त्रुटियो को ही। वंशानुक्रम के अनुसार हम अपने प्रथम पूर्वजो के गुणो को ही प्राप्त करते हैं।

भेद की उत्पत्ति[1]—वशानुक्रम का दूसरा नियम भेद की उत्पत्ति है। जहाँ यह वात सत्य है कि माता-पिता के अनुसार ही उनकी सन्तान होती है वहाँ यह भी हम देखते है कि किसी जाति के पुराने प्राणी मे कुछ काल के वाद परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन का क्या कारण है, इस पर मतैक्य नही है। डार्विन के अनुसार ये परिवर्तन आकस्मिक होते है और वंशपरम्परा के नियमानुसार किसी भी जाति के प्राणियों में स्थिर हो जाते है। लेमार्क के सिद्धान्त से इन परिवर्तनो का कारण उस प्राणी की आन्तरिक इच्छा है। जव किसी प्रकार के नये वातावरण में पड़ जाने के कारण किसी भी जाति के प्राणियों

1 The Law of Variation

को विशेष प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता होती है, तो उस प्राणी मे वैसे परिवर्तन अपने आप हो जाते है।

उपर्युक्त नियम पहले नियम के एक प्रकार से प्रतिकूल है। अभी तक प्राणि-शास्त्र के विज्ञाता और मनोवैज्ञानिकों का इस बात पर मतैक्य नहीं है कि किसी जाति के अर्जित गुणो का वितरण[1] उसकी सन्तति मे होता है अथवा नही। मैकडूगल और पाउलो महाशय के कुछ प्रयोगो से तो यह सिद्ध होता है कि अर्जित गुणो का वितरण अवश्य ही उस जाति की सन्तति मे होता है।

मैकडूगल ने एक प्रयोग चूहो पर किया। कुछ चूहो को पानी की नॉद मे छोड़ दिया जाता था। इस नॉद से निकल भागने के दो मार्ग थे। पहला अँधेरे से होकर जाता था और दूसरा मार्ग प्रकाशपूर्ण था। जब चूहे नॉद से निकलकर एकाएक भागना चाहते थे तो वे प्रायः प्रकाशमय मार्ग से ही भागते थे किन्तु इस मार्ग से जाने मे उन्हे एक बिजली का धक्का लगता था। चूहो को जब कभी दूसरी बार भागना पड़ता था, तब इस धक्के से बचने के लिए वे नया मार्ग ढूँढ़ने की चेष्टा करते थे। देखा गया कि पहली पीढ़ी के चूहो ने १६५ बार भूल करने के पश्चात् धक्के से बचने के लिए अँधेरे मार्ग से जाना सीखा। किन्तु अगली पीढ़ियो मे भूलो की सख्या घटती गई। यहाँ तक कि तेईसवी पीढ़ी ने सिर्फ पचीस बार भूल की।

पाउलो ने भी कुछ सफेद चूहो के ऊपर प्रयोग किया। इन चूहो को भोजन के लिए बिजली की घण्टी द्वारा बुलाना सिखाया जाता था। इसको सीखने के लिए पहली पीढ़ी के चूहो के लिए तीन सौ बार, दूसरी पीढ़ी के चूहो के लिए सौ बार, तीसरी पीढ़ी के चूहो के लिए तीस बार, चौथी के लिए दस बार और पॉचवी पीढ़ी के लिए केवल पॉच बार घण्टी बजाने की आवश्यकता पड़ी।

उपर्युक्त प्रयोगो से यह सिद्ध हुआ कि माता-पिता के अनुभवो का लाभ सन्तान को अवश्य होता है। जिस कार्य को माता-पिता बड़ी कठिनाई के साथ सीखे उसी को उनकी

---

1. Transmission of Acquired Traits.

सन्तान सरलता के साथ सीख सकती है। ब्राह्मण के लड़के में पढ़ने-लिखने की स्वाभाविक रुचि पाई जाती है। क्षत्रिय के बालक लड़ने-भिड़ने मे कुशलता दिखाते है। क्या इस प्रकार की योग्यता का होना अर्जित गुणो का वितरण सिद्ध नहीं करती? इसी तरह वैश्य बालक वाणिज्य में होशियार होते है। इस प्रकार का हमारा अनुभव है तथा समाज में भी यही मत प्रचलित है। क्या इसका आधार अर्जित गुणों का सन्तति मे वितरण नही है? यदि यह बात सत्य है कि माता-पिता के परिश्रम का लाभ वंशानुक्रम के नियमानुसार उनकी सन्तान को होता है, तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम अनेक प्रकार की योग्यताओ को प्राप्त करे। यदि हमे इस योग्यता का लाभ न हो तो भी हमारी सन्तान को अवश्य होगा। दूसरे हमें किसी भी बालक की शिक्षा पर विचार करते समय यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि बालक की वंशपरम्परा मे कौन-सा व्यवसाय था। हम बालक को उसी प्रकार की शिक्षा दे सकते हैं जो उसके स्वभाव या योग्यता के अनुकूल हो। वंशानुक्रम का प्रभाव इन दोनो बातो पर अवश्य पड़ता है।

शुद्ध जाति की अमरता—वंशानुक्रम का तीसरा नियम शुद्ध जाति की अमरता का है। प्रकृति वर्णसङ्करो की उन्नति नहीं चाहती। जब कभी वातावरण के कारण कोइ वर्णसङ्कर जाति पैदा हो जाती है तब धीरे धीरे इस वर्णसङ्कर जाति का लोप हो जाता है। इस नियम को मैण्डल महाशय ने निकाला है। अतएव इस नियम का नाम मैण्डलवाद (मैण्डलिज़्म) पड़ गया है। मैण्डल महाशय ने मटर के बीजो पर इस प्रकार का प्रयोग किया था। उन्होने दो प्रकार की मटर एक जगह बोकर एक नई जाति की मटर, जो कि वर्णसङ्कर थी, उत्पन्न की। फिर इस नई मटर को बोया। उससे पैदा हुई मटर के बीजो को देखने से ज्ञात हुआ कि उन बीजो मे आधे बीज शुद्ध मटर के थे, और आधे वर्णसङ्कर मटर के। इन बीजो को बार बार बोने से ऊपर के क्रमानुसार वर्ण-सङ्कर मटरो की संख्या कम होती दिखाई दी। उपरोक्त प्रयोग का निष्कर्ष निम्नलिखित रूप मे हुआ—
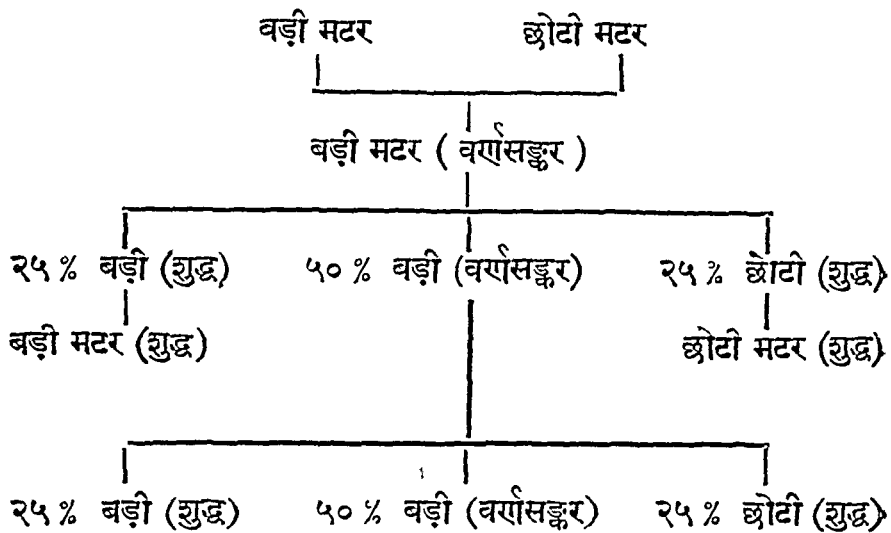
सामाजिक सम्पत्ति

बालक को वंशानुक्रम के नियमानुसार अपने पूर्वजो से जितने गुण मिलते है, उतने ही गुण उसे सामाजिक सम्पत्ति के रूप में अपने आस-पास रहनेवाले लोगो से मिलते है। वास्तव मे सामाजिक प्रभाव का कार्य्य इतना सूक्ष्म है कि हम यह स्थिर नहीं कर सकते कि बालक के व्यक्ति-विकास मे कितना कार्य्य वास्तविक वंशानुक्रम का है, और कितना सामाजिक सम्पत्ति का। बालक का लालन-पालन जन्म से जैसे वातावरण मे होता है वैसा ही उसका स्वभाव भी बन जाता है। यह स्वभाव बालक के जन्मजात स्वभाव से इतना भिन्न होता है कि हमे पीछे से यह कहना कठिन होता है कि बालक के व्यक्तित्व मे कहाँ तक वंशानुक्रम का प्रभाव है और कहाँ तक उसकी पैतृक सामाजिक परम्परा का। वास्तव मे बालक की सामाजिक सम्पत्ति एक प्रकार का वातावरण ही है। इसे हम शिक्षा के द्वारा ही बालक को दे सकते है। मनुष्य ने हजारो पीढ़ियो मे अपना अनुभव अपनी सामाजिक प्रथाओ मे, पुस्तकों मे, कला के कार्य्यों मे और तस्वीरो मे संचित किया है। यही बालक की सामाजिक सम्पत्ति है। जो बालक सुयोग्य वातावरण मे जन्म लेता है, वह बड़ा भाग्यशाली है; क्योकि उसको बहुत सी बहुमूल्य सामाजिक

सम्पत्ति सरलता से मिल जाती है। शिक्षा वह कार्य्य है जिससे प्रत्येक बालक सामाजिक सम्पत्ति का लाभ उठा सकता है और अपने आप भी समाज को स्थायी सम्पत्ति देने योग्य हो सकता है।

वंशानुक्रम और शिक्षा

उपर्युक्त वंशानुक्रम के नियमों को जानकर हम बालक की शिक्षा का कार्य्य अधिक योग्यता के साथ कर सकते हैं। प्रत्येक बालक की शिक्षा मे हमें वंशानुक्रम का ध्यान रखना होगा। हम कितने ही उत्साही क्यो न हों, हर एक बालक को अपने मन के अनुसार शिक्षित नहीं बना सकते। आधुनिक बुद्धि-माप[1] के प्रयोगो से पता चलता है कि प्रत्येक बालक की बुद्धि भिन्न भिन्न होती है। कोई बालक साधारण बुद्धि के होते है, तो कोई प्रतिभाशाली। सामान्य बुद्धि के बालकों से वैसा काम करने की आशा नहीं की जा सकती जैसी कि प्रतिभाशाली बालक से की जा सकती है। यह प्रतिभा जन्मजात बुद्धि का गुण है। इसे कोई भी शिक्षक बालक मे पैदा नहीं कर सकता। वह शिक्षा के द्वारा उसका सदुपयोग अवश्य कर सकता है। प्रत्येक बालक को उसकी योग्यता और रुचि के अनुसार शिक्षा देनी चाहिये।

चौथा प्रकरण

नवशिशु

शिशु-व्यवहार

बालक के जीवन को समझने के लिए हमे उसके व्यवहारो की विशेषताएँ जाननी चाहिये। इन विशेषताओ को जानकर ही हम उसका ठीक ठीक लालन-पालन तथा शिक्षण कर सकते है। एक ओर बालक के व्यवहार प्रौढ़ व्यक्तियो से भिन्न होते है, दूसरी ओर उसके व्यवहार दूसरे जानवरो के व्यवहारो से भी भिन्न होते हैं। पशुओ के बच्चो के स्वभाव को समझने से मनुष्यो के बच्चो के स्वभाव को समझने मे अवश्य कुछ लाभ होता है। पर बालक के व्यवहारो की कुछ ऐसी विशेषताएँ है जिनके कारण मनुष्य का बालक एक विलक्षण प्राणी माना जाता है।

पराधीनता—बालक के व्यवहारो की पहली विशेषता उसकी पराधीनता है। शिशु दूसरे जानवरो की अपेक्षा अपना जीवन चलाने के लिए अधिक पराधीन रहता है। एक मुर्गी के बच्चे को देखिए; वह पैदा होते ही चलने लगता है। खाने योग्य चीजो पर चोच मारना, भोजन ढूँढ़ना आदि क्रियाएँ वह अपने आप करने लगता है। मनुष्य के बालक को हर एक काम करना सिखाना पड़ता है। उसे खाना, पीना, चलना-फिरना आदि सरल से सरल काम सिखाने पड़ते है। मुर्गी के बच्चे को अपना जीवन सफल बनाने के लिए किसी भी विशेष साधन की आवश्यकता नही पड़ती। पर क्या ये बातें मनुष्य के बच्चे के जीवन के विषय मे कही जा सकती है?

बालक की असहाय अवस्था देखकर हमे उसको दया का पात्र न समझना चाहिये। वास्तव मे शिशु की शैशवकालीन असहायावस्था ही उसकी असाधारण उन्नति का कारण बनती है।

जहाँ पर प्रकृति ने बालक को शैशवावस्था में असहाय बनाया है वहाँ ऐसी यह योग्यता भी दी है, जिससे वह प्राणिमात्र का राजा बन जाता है। वास्तव में बालक का असहायपन और उसकी उन्नति की योग्यता एक ही वस्तुस्थिति के दो पहलू है। जो प्राणी जितना ही जीवन की विभिन्न क्रियाए करने मे असमर्थ होता है वह आगे चलकर जीवन की अनेक क्रियाएँ करने मे उतना ही भली भाँति समर्थ होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि जो प्राणी जन्म से अच्छी तरह किसी प्रकार के कार्य्य करने में समर्थ होता है उसका स्वभाव परिवर्तनशील नहीं होता। वह कुछ क्रियाओ को अच्छी तरह से भले ही कर ले पर यह योग्यता उसके भावी जीवन-विकास में बाधक हो जाती है।

व्यक्ति-विषमता—बालक के व्यवहारो की दूसरी विशेषता है आपस की विषमता। एक मुर्गी के बच्चे और दूसरी मुर्गी के बच्चे के व्यवहारो मे कुछ भी विषमता नहीं होती। पिल्लों मे और बन्दर के बचो में आपस में तनिक भी विषमता नहीं पाई जाती। किसी व्यवहार को सीखने में एक बच्चा जितना समय लेगा, दूसरा बच्चा भी उतना ही लेगा। पर यह बात मनुष्य के बालक के विषय मे नहीं कही जा सकती। मनुष्य के बालको की योग्यताओ में इतना भेद होता है कि जहाँ एक बालक बढ़कर कुली या खेतिहर होता है वहाँ दूसरा बालक उन्नति करते-करते राष्ट्रपति बन जाता है। एक बालक आगे चलकर अकर्मण्य होता है और दूसरा परिश्रमशील। प्रतिभावान् और मन्दबुद्धि वाले एक वर्ष के बालक एक सा ही व्यवहार करते है, परंतु जैसे जैसे उनकी आयु बढ़ती जाती है, उनके व्यवहारों में अन्तर पड़ता जाता है।

मनुष्य के और बन्दर के बच्चो की सीखने की क्रियाओ का तुलनात्मक अध्ययन इस बात पर भली भाँति प्रकाश डालता है—

क्रियाओं के नाम	बन्दर के बच्चों के सीखने का समय	मनुष्य के बालकों के सीखने का समय
रोना, दूध पीना, आँख मीचना	१ दिन	१ दिन
सिर और आँख का किसी वस्तु की ओर झुकाना	३ दिन	३ महीने

क्रियाओं के नाम	बन्दर के बच्चो के सीखने का समय	मनुष्य के बालकों के सीखने का समय
देखी हुई वस्तुओं को पकड़ने की चेष्टा करना	५ दिन	६ महीने
चलने की चेष्टा करना	१२ दिन	१२ महीने
दौडना	१४ दिन	१८ से २४ महीने
शब्दोच्चारण	९ सप्ताह	१२ से २४ महीने

बन्दर का बच्चा, मनुष्य के बालक से यहाँ हर तरह से बाजी मार ले जाता है, पर बन्दर को जो कुछ होना है वह तीन महीने मे ही हो जाता है। आगे उसके विकास की गति रुक जाती है। मनुष्य का बालक तो १८,२० वर्ष तक अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक उन्नति करता रहता है।

परिवर्तनशीलता—बालक का स्वभाव बहुत ही परिवर्तनशील है। बालक मे परिस्थिति के अनुसार अपने आपको बनाने की जितनी शक्ति होती है उतनी प्रौढ़ लोगो मे नहीं होती। बालक जन्म से ही किसी प्रकार की आदतें लेकर नही पैदा होता, किन्तु दूसरे प्राणियो के बच्चो मे नैसर्गिक आदतें जन्म से ही जीवन पर अपना प्रभाव दिखाने लगती है। अतएव उनके जीवन मे परिवर्तन होना बहुत ही कठिन होता है। बालक के जीवन की यह विशेषता है कि वह किसी प्रकार की आदतो का—वे नैसर्गिक हो अथवा उपार्जित—दास नहीं होता। जब कोई प्राणी आदतो की जंजीरो मे बँध जाता है तब उसके जीवन का विकास रुक जाता है। हम यह आशा नहीं कर सकते कि बड़े लोग किसी नये काम को सीखेंगे, पर बालक सब कुछ सीखने योग्य होता है। किसी भाषा को जितनी जल्दी बालक सीख सकता है उतनी जल्दी प्रौढ़ लोग कदापि नहीं सीख सकते।

हमे बालक की शिक्षा के समय सदा इस बात को ध्यान मे रखना चाहिये। जिस प्रकार गीली मिट्टी किसी भी साँचे मे ढाली जा सकती है, उसी प्रकार बालक के व्यवहार भी उचित शिक्षा द्वारा चाहे जैसे बनाये जा सकते है। बालक को यदि छोटी अवस्था मे कोई दुर्व्यसन पकड़ ले तो वह उससे छुड़ाया

जा सकता है किन्तु बालक जब बड़ा हो जाता है तब उससे उस आदत को छुड़ाना असम्भव सा हो जाता है। बालक के मन पर हर प्रकार के संस्कार अंकित किये जा सकते है। उन संस्कारो को मिटा देना भी बाल्यकाल में ही संभव है। जब कोई संस्कार बालक के मन पर देर तक बने रहते हैं तो प्रौढ़ावस्था में उन्हे अलग करना कठिन हो जाता है। बाल्य काल में कोई भी भली बुरी आदत बालक में डाली जा सकती है। बालकों का हृदय एक मुलायम थाल्हा है। उसमें चाहे कटीली झाड़ी उगा दे या गुलाब के कोमल फूल।

शिशु के संवेग[1]

जिस प्रकार नवीन शिशु की क्रियात्मक मानसिक वृत्तियाँ अविकसित रहती है, तथा उसके व्यवहार सहज क्रियाओ[2] तक ही सीमित रहते है उसी प्रकार उसके संवेग भी अविकसित रहते है तथा उनका प्रकाशन थोड़ी सी चेष्टाओ तक सीमित रहता है। सभी संवेगों का मूल रागात्मकवृत्ति[3] है। बालक अपनी प्रत्येक चेष्टा से आनन्द पाता है। हमारे ज्ञान का प्रसार भी इस रागात्मक वृत्ति के कारण होता है। जीवन का विकास ही आनन्दमय है। यह विकास चाहे हमारे क्रियात्मक[4] स्वभाव का हो अथवा ज्ञानात्मक[5] का। प्राणी की एकमात्र इच्छा अपने जीवन को बनाये रखने और उसको प्रत्येक प्रकार से विकसित करने की रहती है। जर्मनी के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शोपनहावर ने इस इच्छा को जीने की इच्छा (विल टू लिव[6]) कहा है। यहीं इच्छा प्राणी को जीवित रखती है और उसके जीवन का विकास कराती है। इसी के कारण व्यक्ति अपना जीवन सामाजिक बनाता और सन्तानोत्पत्ति करता है। इसी प्रकार वह अमर होने की चेष्टा करता है।

जो क्रियाएँ और ज्ञान इस प्रकार की चेष्टा में साधक होते है वे प्राणी को सुख देते है और जो इस मूल इच्छा में बाधा

---

1 Emotions 2 Reflexes 3 Feeling 4 Conative 5 Cognitive.
6. Will-to-live

डालते है वे दुःख देते हैं। प्राणी की मूल इच्छा आत्मा का प्रसार है। अतएव प्राणी की प्रत्येक क्रिया एवं ज्ञान के साथ रागात्मक वृत्ति रहती है। जहाँ आत्म-प्रसार का अवरोध होता है वहाँ रागात्मक वृत्ति आनन्ददायी न वनकर दुखःदायी वन जाती है। इस प्रकार से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष ही वास्तव मे सभी प्रकार के वाञ्छनीय और अवाञ्छनीय, वीभत्स[1] और सुन्दर[2] संवेगो के मूल कारण हैं। जव किसी प्रकार की रागात्मक वृत्ति अति प्रवल हो जाती है तव वह संवेग का रूप धारण कर लेती है। नव शिशु का जीवन उसी प्रकार रागमय रहता है, जिस प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति का। इतना ही नहीं, उसके जीवन मे रागात्मक वृत्तियो का और भी महत्त्व का स्थान है। व्यक्ति के शिशु-काल के सुख और दुःख के अनुभव उसके अदृश्य[3] अथवा अव्यक्त मन मे सदा के लिए जम जाते है और इस अज्ञात अनुभूति के कारण जीवन मे संसार के प्रति उसका विशेप प्रकार का दृष्टिकोण हो जाता है।

माता-पिता प्राय. नये शिशु के सुख-दु.खो के अनुभवो की उतनी परवा नही करते, जितनी वड़े वालकों की करते है। यदि वालक किसी शारीरिक क्लेश के कारण रो रहा हो तो उसे रोने ही दिया जाता है। रोते-रोते वालक अन्त मे चुप हो जाता है। किन्तु यों चुप हो जाने के साथ-साथ वालक के अदृश्य मन में निराशावाद का वीजारोपण हो जाता है। कितनी ही शिक्षित माताएँ वालकों का पालन स्वयं न करके दाइयों के भरोसे छोड़ देती हैं। ये दाइयाँ रोते हुए वालक को चुप कराना तो जानती हैं किन्तु उनके चुप कराने मे और माता के प्यार द्वारा चुप कराने मे आकाश-पाताल का अन्तर है। रोते हुए वालक को ज़ोर से चिल्लाकर, भय दिखाकर, ऊँचा-नीचा उठाकर या हिला-डुलाकर चुप किया जा सकता है किन्तु इस तरह से वालक के हृदय मे अवाञ्छनीय वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे उसके व्यक्तित्व के विकास मे अनेक प्रकार की वाधाएँ पड़ती हैं।

---

1 Coarse emotions 2 Fine emotions 3 Unconscious Mind

पाठकों को इस बात का स्मरण दिलाना आवश्यक है कि बालक के आस-पास रहनेवाले लोगो के संवेगों का, विशेषकर माता के संवेगो का, प्रवेश बालक के मन में अज्ञात रूप से हो जाता है। यदि उनके विचार और सवेग अच्छे हैं तो बालक का स्वभाव भी प्रसन्नचित्त रहने का हो जायगा और यदि उन लोगो के विचार अच्छे नहीं हैं, तथा उनका हृदय दुःखो से आक्रान्त है, तो बालक का जीवन भी उन्हीं अवाञ्छनीय सवेगों का प्रधान स्थान हो जायगा।

कुछ मनोवैज्ञानिको का कथन तो यहाँ तक है कि माता के सवेग बालक को गर्भ की अवस्था मे भी प्रभावित करते है। लार्ड लिटन लिखते है—"डाक्टर लोग यह जानते है कि गर्भ की अवस्था मे माँ की बीमारी या उसकी शारीरिक क्षति बालक को हानि पहुँचा देती है। इसी प्रकार बालक को मानसिक क्षति भी पहुँचती है। यदि किसी स्त्री को किसी कारण गर्भ धारण करने की अनिच्छा है अथवा उससे अज्ञात भय है, या किसी स्त्री को अनिच्छा अथवा आकस्मिक घटना के रूप मे गर्भ धारण हो गया हो तो उसकी यह भावना गर्भ में स्थित बालक के मन में प्रवेश कर जाती है जिससे बालक के अदृश्य मन मे प्राणान्त करने की, अथवा जीवन-विकास-विरोधी, भावना सदा के लिए स्थान पा लेती है"*। ऐसे बालक मे जन्म से ही आत्म-घात करने की प्रवृत्ति रहती है। इस प्रकार का बालक निरुत्साही और दीर्घसूत्री होता है। वह जीवन की नई-नई ज़िम्मेदारियों की खोज में नहीं रहता। यदि ये आ ही जाती है तो वह उन्हे भाररूप मानता है।

कुछ विशेष प्रकार के शारीरिक रोगों की जड़ भी इसी प्रकार के बालकों के सवेगों मे होती है। मनोविश्लेषण-वैज्ञानिकों ने शारीरिक बीमारी का एक कारण बालक की जीवित न रहने की अज्ञात इच्छा बताया है, जिसका कारण माता के गर्भ-धारण करने

---

* लार्ड लिटन—न्यूट्रोज़र, पृष्ठ १२६।

का भय है। इस प्रकार के रोगी जीवन की ज़िम्मेदारियाँ नहीं लेना चाहते, जब नई ज़िम्मेदारियाँ उनके सिर आती हैं तब यह रोग विशेष प्रकार से बढ़ जाता है*। कुछ बालका को ठीक समय के पहले ही माता दूध पिलाना छुड़ा देती है। शिशु के मन मे माता की छाती से लगे रहने तथा स्तन से दूध पीने की प्रवल इच्छा रहती है। शिशु की इस इच्छा पर आघात पहुँचने से उसके जीवन मे भारी उथल-पुथल मच जाती है। बालक की शारीरिक भूख तो बोतल से दूध पिलाकर शान्त की जा सकती है पर उसकी मानसिक भूख को इस प्रकार से शान्त नहीं किया जा सकता। माता की छाती से लगने की इच्छा बालक की प्रेम-भूख की सूचक है। जिस बालक की यह भूख सन्तुष्ट नहीं हो पाती वह या तो संसार से निराश हो जाता है या इस भूख को कई रूपों मे सन्तुष्ट करता है। इसके परिणाम-स्वरूप बालक के जीवन का सामान्य विकास रुक जाता है। उसकी अज्ञात इच्छा लड़कपन मे उससे अनेक अवाञ्छनीय कार्य कराती है। कभी-कभी इसी इच्छा के कारण बालक को विशेष प्रकार के भोजन या विशेष प्रकार की वस्तुओं से अरुचि हो जाती है।

हम इस विषय पर विस्तृत रूप से आगे चलकर संवेग-सम्बन्धी परिच्छेदो मे प्रकाश डालेगे। यहाँ इतना ही कह देना पर्य्याप्त है कि बालक के संवेगो का शिशुकाल से ही ध्यान रखना चाहिये ताकि उनका विकास समुचित रूप से होता रहे।

---

* लार्ड लिटन अपनी पुस्तक न्यू ट्रेज़र मे इस विषय में लिखते हैं—
"Asthma is an example of such a symptom in the field of respiration Asthma is symbolic chocking, or refusal of the breath of life Sufferers from asthma will be prone to unaccountable accidents Their symptoms will be aggravated by any change of place or circumstance which is unpleasant, or increases the difficulties or responsibilities of life They will suffer least when at home or in congenial surroundings, when life is running smoothly, or when they are completely happy and contented"

—*New Treasure, pp 127.*

शिशु का ज्ञान

जिस प्रकार नवीन शिशु की क्रियाएँ तथा संवेग अविकसित रहते है, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी अविकसित रहता है। नये शिशु का ज्ञान निर्विकल्पक[1] तथा निष्प्रकारक[2] होता है। बाह्य वस्तु का हमारा प्रथम ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान होता है। इन्द्रियों के द्वारा जो संवेदना हमारे मन मे पहुँचती है, वह प्रकारता-रहित होती है। इस प्रकार के ज्ञान को न्यायशास्त्र के विद्वानो ने निर्विकल्पक ज्ञान कहा है। विलियम जेम्स ने इस ज्ञान को परिचयमात्र[3] कहा है। नव शिशु का प्रत्येक ज्ञान ऐसा ही होता है। इन्द्रियजन्य ज्ञान[4] मे प्रकारता के भेद पहचानना अथवा भेद करना मन का कार्य्य है। इस कार्य्य को सांख्य-शास्त्र में 'संकल्प' कहा गया है। यह कार्य करने की योग्यता अनुभव के पश्चात् ही आती है। अनुभव-हीन होने के कारण शिशु शीघ्रता से अपने इन्द्रिय-ज्ञान को सप्रकारक नहीं बना पाता। इसके विपरीत प्रौढ़ व्यक्तियो का मन इतनी शीघ्रता से इन्द्रिय-जन्य संवेदना में प्रकारता के भेद कर लेता है कि उन लोगों को निष्प्रकारक अथवा निर्विकल्पक ज्ञान की सम्भावना ही कठिन हो जाती है।

यहाँ हमें यह देखना है कि नवीन शिशु का निर्विकल्पक तथा निष्प्रकारक ज्ञान किस तरह सविकल्पक और सप्रकारक हो जाता है। इस प्रकरण मे हम उस विकास के क्रम का दिग्दर्शन ही करा सकते है। इस विकास को पूर्णत: समझने के लिए इस पुस्तक के सभी प्रकरणों को पढ़ना चाहिये। इस प्रसंग में दो-एक मनोवैज्ञानिकों के मत का उल्लेख करना आवश्यक है।

लाक् का सिद्धान्त—लाक महाशय के अनुसार मनुष्य का मन आरम्भ मे एक स्वच्छ तख्ती के समान रहता है। इस प्रकार की मन की स्थिति को लाक ने "टेबुलारेसा"[5] कहा है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति अनेक परिस्थितियो में पड़ता है, उसके मन में

---

1 Indeterminate. 2 Undifferentiated 3 Acquaintance of a fact
4 Sensation 5 Tabula rasa

अनेक प्रकार के सस्कार संचित हो जाते है। इन्हीं सस्कारो के द्वारा व्यक्ति को पदार्थों के पहचानने की शक्ति आती है। वास्तव मे व्यक्ति का वस्तु-ज्ञान, लाक महाशय के कथनानुसार, इन्द्रिय-जन्य सवेदन का समुच्चय मात्र है। ऐसे ज्ञान की वृद्धि, जैसे-जैसे मनुष्य अनेक वातावरणो मे पड़ता है, अपने आप होती है।

उपरोक्त ज्ञान-विकास के सिद्धान्त को अनेक तत्त्ववेत्ताओ तथा मनोवैज्ञानिकों ने एकाङ्गी और भ्रमात्मक बताया है। मनोवैज्ञानिकों मे से विलियम जेम्स और मेकडूगल के कथन उल्लेखनीय है।

विलियम जेम्स का सिद्धान्त—विलियम जेम्स के मत से व्यक्ति के समस्त ज्ञान का विकास उसकी क्रियात्मक वृत्तियो पर निर्भर रहता है। चेतना[1] की उपस्थिति का मुख्य प्रयोजन प्राणी की वासनाओ की तृप्ति मे सहायता देना है। अतएव जैसे-जैसे प्राणी की क्रियात्मक वृत्तियो का विकास होता है वैसे-वैसे उसकी चेतना भी समुचित रूप से विकसित होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी व्यक्ति ऐसा ज्ञान प्राप्त करना न चाहेगा जो उसकी स्वार्थ-सिद्धि मे कुछ सहायता न करे तथा जैसे-जैसे किसी व्यक्ति के ज्ञान का सम्बन्ध उसकी क्रियाओ से किया जाता है वैसे-वैसे ज्ञान विकसित होता जाता है। अतएव नवशिशु के ज्ञान-विस्तार का मूल कारण उसकी क्रियात्मक वृत्तियाँ हैं। जो बालक जितना चञ्चल होता है, उसका ज्ञान उतनी ही शीघ्रता से विकसित होता है।

मेकडूगल का सिद्धान्त—मेकडूगल का सिद्धान्त भी विलियम जेम्स के उपरोक्त सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। मेकडूगल ने जीवन का मूल तत्त्व क्रियात्मक[2] माना है। प्रत्येक प्राणी आत्म-प्रकाशन चाहता है। वह अपनी अनेक प्रकार की इच्छाओ की तृप्ति करना चाहता है। व्यक्ति के ज्ञान का विकास आत्म-प्रकाशन का साधन है। नव शिशु के ज्ञान का विकास भी उसकी क्रियात्मक वृत्तियो के विकास के साथ साथ होता है। इस विकास के क्रम मे मेकडूगल ने निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ बताई है।

---

1 Consciousness 2 Hormic

(१) पृथक्करण[1]
(२) बोधीकरण[2]
(३) सम्बन्धीकरण[3]

पृथक्करण—शिशु का प्रथम ज्ञान निष्प्रकारक होता है। वह सब पदार्थों को एक सा ही देखता है। उसमें एक पदार्थ को दूसरे से भिन्न समझने की शक्ति नहीं रहती। ज्यों-ज्यों बालक की इच्छाओं का विकास होता है, और वह बाह्य परिस्थितियों के सम्पर्क में आता है, त्यों-त्यों वह एक पदार्थ को दूसरे से भिन्न समझने की योग्यता प्राप्त करता है। वह माँ के स्तन और लट्टू को पहले एक सा ही मानता है किन्तु जब अनुभव उसे यह दिखाता है कि माँ का स्तन उसकी भूख शान्त करता है और लट्टू ऐसा नहीं करता, तो वह एक को दूसरे से पृथक् समझने लगता है। इसी तरह वह अनेक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है अर्थात् उसके ज्ञान में भेद उत्पन्न होते हैं।

बोधीकरण—पृथक् ज्ञान मे एकता देखने का नाम बोधीकरण है। यह ज्ञान-विकास की दूसरी अवस्था है। जब बालक को किसी वस्तु का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है, तब यह ज्ञान बालक के मन पर अपना संस्कार सदा के लिए छोड़ जाता है। इस प्रकार के संस्कार बालक को उस वस्तु के पहचानने मे सहायता देते है। बालक जब एक बार देखी हुई वस्तु को भली भाँति फिर देखता है तब उसके पुराने संस्कार जाग्रत् हो जाते हैं और बालक को उस वस्तु का बोध करने में वे कार्य करने लगते है। इस क्रिया को मनोवैज्ञानिकों ने बोधीकरण (अपरसेपशन) की क्रिया कहा है। इसी क्रिया के आधार पर किसी वस्तु की प्रकारता का बोध होता है। "यह गौ है", "वह कुत्ता है"—इस प्रकार के ज्ञान का होना बोधीकरण का परिणाम है। छोटे से छोटे बालक से लेकर प्रौढ़ व्यक्तियों तक सभी में इस प्रकार की मानसिक क्रिया चलती है। सांख्य-दर्शन में मन के इस कार्य्य का नाम 'संकल्प' कहा है, किन्तु 'संकल्प' शब्द के भिन्न-

1. Discrimination 2 Apperception 3 Association

भिन्न अर्थ होने के कारण बोधीकरण शब्द ही मन के उपरोक्त कार्य का निर्देश करने के लिए उपयुक्त होगा।

सम्बन्धीकरण—सम्बन्धीकरण ज्ञान-विकास की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था मे बालक एक ज्ञान का सम्बन्ध दूसरे ज्ञान से जान-बूझकर जोड़ता है। अमुक वस्तु अमुक से बड़ी है, अमुक से छोटी है, अमुक के समान है इत्यादि ज्ञान "सम्बन्ध ज्ञान" है; इस प्रकार का कार्य्य प्रौढ़ लोगो की बुद्धि सदा किया करती है। नव शिशु की चेतना मे इस प्रकार के ज्ञान का अभाव रहता है। सम्बन्धीकरण के लिए भाषा-ज्ञान की आवश्यकता होती है। जैसे-जैसे बालक का भाषा-ज्ञान विकसित होता जाता है, उसके सम्बन्धीकरण की शक्ति भी विकसित होती जाती है। मनोविकास के इस पहलू पर हम विचार-विकास वाले परिच्छेद मे भली भाँति विचार करेंगे।

पाँचवाँ प्रकरण

मूल प्रवृत्तियों का विकास

बालक के व्यवहार

प्रत्येक प्राणी का जीवन दो प्रकार के व्यवहारो से संचालित होता है—जन्मजात[1] और अर्जित[2]। जन्मजात व्यवहारो के दो भेद किये गये हैं—सहज क्रियाएँ[3] और मूल प्रवृत्तियाँ[4]। अर्जित व्यवहार दो प्रकार के माने गये है—एक आदत[5] और दूसरा व्यवसायात्मक (सोच समझकर किये गये) कार्य[6]। पिछले प्रकरण मे यह बताया गया है कि नवजात शिशु के व्यवहारो में सहज क्रियाओ की प्रधानता किस तरह होती है। सृष्टि के अनेक प्राणी ऐसे है, जिनका समस्त जीवन सहज क्रिया के ऊपर ही आश्रित रहता है। पतंग के जीवन में अधिकतर सहज क्रियाओ का ही कार्य है किन्तु जिन प्राणियो ने विकास के क्रम मे आगे स्थान पाया है, उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता। पशुओ के जीवन मे उनकी मूल प्रवृत्तियो का स्थान ही प्रधान है। मनुष्य के जीवन के प्रारम्भ में भी मूल प्रवृत्तियो का साम्राज्य रहता है। जैसे-जैसे बालक का जीवन विकसित होता जाता है, वह अनेक प्रकार की परिस्थितियो के सम्पर्क मे आता है, वैसे-वैसे उसके जन्मजात स्वभाव मे मौलिक परिवर्तन हो जाते है अर्थात् उसके जीवन मे आदतो का निर्माण होता जाता है। बालक का मन ज्यों-ज्यो दृढ़ होता जाता है, उसकी व्यवसाया-त्मकबुद्धि[7] महत्त्व के कार्य करने लगती है। वास्तव में बालक के जीवन का विकास, जैसा कि पहले किसी प्रकरण मे बताया

---

1 Inherited 2. Acquired 3 Reflexes 4 Instincts 5 Habits. 6. Voluntary actions. 7 Will.

गया है, प्राणियो के विकास की समस्त सीढ़ियो को पार करता है। नवजात शिशु का जीवन सहज क्रियाओ पर आश्रित रहता है, उसके पश्चात् मूल प्रवृत्तियो का विकास होता है और तब आदते बनती हैं। बालक को मनुष्यत्व की सबसे ऊँची सीढ़ी पर पहुँचने के लिए कीटाणुओ और पशु-पक्षियो की मानसिक स्थिति पार करनी पडती है।

मूल प्रवृत्तियाँ प्रत्येक शिशु के जीवन का आधार है। इनके विकास से ही बालक के जीवन का विकास होता है। हमे उन मूल प्रवृत्तियो के स्वरूप तथा उनके विकास एवं परिवर्तन के नियमो को समझ लेना चाहिये, ताकि बालक का जीवन उन्नति के उन्मुख हो सके।

मूल प्रवृत्तियों का स्वरूप

मूल प्रवृत्तियाँ प्राणियो की वे प्रवृत्तियाँ है जो जन्म से उनके साथ ही है, तथा जिनके सहारे उनका जीवन चलता है। उदाहरणार्थ भोजन को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति, उत्सुकता, सग्रह और काम-प्रवृत्ति आदि। इन प्रवृत्तियो के रहने से ही किसी प्राणी का जीवन रह सकता है तथा उसकी उन्नति हो सकती है। वास्तव मे मूल प्रवृत्तियाँ प्राणी की वे आदतें है जो उसे वंश-परम्परानुसार पूर्वजो से प्राप्त हुई है। जिस कार्य को बार बार किया जाता है वही आदत बन जाता है। मूल प्रवृत्तियाँ हमारी नैसर्गिक आदते है। हमारे पूर्वजो के विशेप प्रकार के कार्य करने से इनकी उत्पत्ति हुई है। ये नैसर्गिक आदते उनके जीवन मे लाभप्रद हुईं, अतएव उनका पीढ़ी दर पीढ़ी सन्तति मे प्रचार होता रहा। मूल प्रवृत्तियो के रूप मे यही आदते हमे वशानुक्रम से प्राप्त होती है। पशुओ के समस्त जीवन मे इनकी प्रधानता रहती है। बालक एक पशु-स्थिति मे ही रहता है। अतएव उसके जीवन मे भी मूल प्रवृत्तियों की प्रधानता रहती है। बालक मे इस पशु-अवस्था से मुक्त होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। समुचित शिक्षा के द्वारा वह पशु-अवस्था से मुक्त होकर मनुष्यत्व को प्राप्त

हो जाता है। सच तो यह है कि अपनी मूल प्रवृत्तियों को भली भाँति काम मे लाना, उनको नियन्त्रण में रखना ही मनो-विकास का तथ्य है।

मूल प्रवृत्तियों को मैकडूगल ने शक्तियो का केन्द्र कहा है। हमारे अनेक प्रकार के व्यवहार मे जो शक्ति काम आती है वह मूल प्रवृत्तियो की ही है। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का संयोग संवेग से रहता है। मूल प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए मेकडूगल ने लिखा है—"मूल प्रवृत्ति वह जन्मजात मानसिक प्रवृत्ति है, जिसके कारण प्राणी का ध्यान विशेष वस्तु को ओर आकर्षित होता है, एवं उसकी उपस्थिति मे वह विशेष प्रकार के सवेगो का अनुभव करता है; और जिसके कारण विशेष प्रकार की क्रियात्मक वृत्ति उसके मन मे जाग्रत् होती तथा किसी कार्य के रूप मे स्फुरण पाती है*"।

उपर्युक्त मूल प्रवृत्ति की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मूल प्रवृत्तियो का एक ओर प्राणी को ज्ञानात्मक और दूसरी ओर उसकी संवेगात्मक वृत्तियो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालक के ज्ञान का विकास उसकी मूल प्रवृत्तियो के विकास के साथ ही साथ होता है। अर्थात् बालक के ज्ञान के विकसित होने मे उसकी मूल प्रवृत्तियाँ बड़ी सहायता देती है। बालक के संवेगो के साथ मूल प्रवृत्तियो का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारण जनता की समझ मे दोनो का अस्तित्व पृथक् पृथक् है ही नहीं। मनुष्यो की साधारण भाषा मे मूल प्रवृत्ति और उनसे सम्बद्ध सवेग का एक ही नाम रहता है। उदाहरणार्थ "भय" शब्द हिन्दी और अँगरेजी दोनो भाषाओ में संवेग और क्रियात्मक वृत्ति का सूचक होता है।

मूल प्रवृत्तियों के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने मूल प्रवृत्तियों को चौदह प्रकार का वताया है। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का सम्वन्ध, जैसे ऊपर वताया जा चुका

---

* मैकडूगल—आउट लाइन आफ साइकोलाजी, पृष्ठ ११०।

है, विशेष प्रकार के संवेग से रहता है। इन चौदह मूल प्रवृत्तियों के नाम तथा उससे सम्बद्ध संवेग निम्नलिखित है—

मूल प्रवृत्ति		सम्बद्ध संवेग
१—भोजन ढूँढ़ना[1]	...	भूख[2]
२—भागना[3]	...	भय[4]
३—लड़ना[5]	...	क्रोध[6]
४—उत्सुकता[7]	...	आश्चर्य्य[8]
५—रचना[9]	...	रचनात्मक आनन्द[10]
६—संग्रह[11]	..	संग्रहभाव[12]
७—विकर्षण[13]	...	घृणा[14]
८—शरणागत होना[15]	...	करुणा[16]
९—काम-प्रवृत्ति[17]	...	कामुकता[18]
१०—शिशुरक्षा[19]	.	स्नेह[20]
११—दूसरों की चाह[21]	..	अकेलापन[22]
१२—आत्मप्रकाशन[23]	...	उत्साह[24]
१३—विनीत भाव[25]	...	आत्म-हीनता[26]
१४—हँसना[27]	..	प्रसन्नता[28]

---

1 Food-seeking instinct — 2 Appetite
3 Instinct of flight — 4 Fear
5. Pugnacity. — 6 Anger
7 Curiosity — 8 Wonder
9 Construction — 10 Feeling of creativeness.
11 Hoarding instinct — 12 Feeling of possession.
13 Repulsion. — 14 Disgust
15 Appeal — 16 Distress
17 Pairing — 18 Lust
19 Parental instinct — 20 Love
21. Social instinct — 22. Feeling of loneliness
23 Assertion — 24. Elation
25 Submission — 26 Negative self-feeling
27 Laughter. — 28 Amusement

उपर्युक्त मूल प्रवृत्तियों को प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहले वर्ग की मूल प्रवृत्तियाँ आत्म-रक्षा-सम्बन्धी, दूसरे वर्ग की सन्तान-सम्बन्धी और तीसरे वर्ग की समाज-सम्बन्धी होती हैं।* ऊपर की सूची की पहली आठ प्रवृत्तियाँ आत्म-रक्षा-सम्बन्धी है। नवीं और दसवीं सन्तान-सम्बन्धी तथा शेष समाज-सम्बन्धी मूल प्रवृत्तियाँ है। इन प्रवृत्तियों मे से पहली तेरह प्रवृत्तियाँ पशु और मनुष्य मे समान रूप से है। चौदहवीं प्रवृत्ति मनुष्य की विशेष प्रवृत्ति है। अतएव यदि हम मनुष्य की परिभाषा उसकी प्रवृत्तियो के अनुसार बनाना चाहें तो यह कहेंगे कि 'मनुष्य वह प्राणी है जो हँस सकता है।' हँसने के विषय में मनोवैज्ञानिको ने अनेक प्रकार के मत प्रकाशित किये है। हँसने का कारण क्या है, और मनुष्य ही क्यो हँस सकता है?—इस विषय का अभी तक कोई सर्वमान्य मत निश्चित नहीं हुआ है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हँसना प्राणी के ज्ञान की वृद्धि का परिचायक है। हँसी हमें तभी आती है जब हम अपनी अपेक्षा दूसरो में किसी प्रकार की कमी देखते है, अर्थात् जब हमारा ज्ञान इतना बढ़ जाता है कि हम अपने अथवा दूसरो के कार्यों की समालोचना कर सकते है।

उपर्युक्त मूल प्रवृत्तियो के अतिरिक्त तीन और जन्मजात प्रवृत्तियाँ है। ये है—अनुकरण, सहानुभूति और खेल। इन प्रवृत्तियों को मूल प्रवृत्ति कहा जाय अथवा नहीं, इस विषय में मनोवैज्ञानिकों मे मतभेद है। मैकडूगल के मतानुसार हमे उन्हीं प्रवृत्तियों को मूल प्रवृत्ति कहना चाहिये, जिनके साथ विशेष

---

*भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियो ने मनुष्य की इच्छाओं को तीन विभागों मे विभाजित किया है। इन विभागों का नाम वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा दिया है। वित्तैषणा आत्म-रक्षा-सम्बन्धी प्रवृत्तियो की प्रतीक है, पुत्रैषणा सन्तान-सम्बन्धी और लोकैषणा समाज-सम्बन्धी प्रवृत्तियो की प्रतीक है।

प्रकार के संवेग का सम्बन्ध हो। उपर्युक्त तीन प्रवृत्तियो के साथ किसी विशेष सवेग का सम्बन्ध नहीं है वरन् परिस्थिति के अनुसार उन प्रवृत्तियो के उत्तेजित होने पर भिन्न-भिन्न सवेग देखे जाते है। अतएव मैकडूगल महाशय ने इन प्रवृत्तियो को "जन्मजात प्रवृत्तियाँ"[1] कहा है। हम इन्हे "सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियाँ" कहेगे। विषय का अच्छे ढङ्ग से प्रतिपादन करने के लिए हमे ऐसे तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं कि हम अनुकरण, सहानुभूति और खेल को मूल प्रवृत्ति कहे या नही। इन प्रवृत्तियो के लक्षण और उपयोगिता जानना ही हमारे लिए पर्याप्त है। ये प्रवृत्तियाँ भी बालक के साथ जन्म से रहती है और बाल-मनोविकास मे बड़ा कार्य करती है।

अब हम क्रम से यह दर्शाने की चेष्टा करेंगे कि बालक की कुछ मूल प्रवृत्तियो का बाल-मनोविकास मे क्या स्थान है।

मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन

मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ दूसरे प्राणियो की मूल प्रवृत्तियो से अधिक परिवर्तनशील हैं। अपनी इस विशेषता के कारण मनुष्य का बालक जहाँ एक ओर पशु-पक्षियो के बच्चो से अधिक असहाय होता है वहाँ उसमे ससार के कठिन से कठिन काम करने की क्षमता भी होती है। यदि बालक को योग्य वातावरण मिले और उचित शिक्षा दी जाय तो वह अपनी प्रतिभा से संसार की सभी प्रकार की परिस्थितियो का सामना कर सकता है। बालक के स्वभाव को भली भाँति पहचानना और उसकी मूल प्रवृत्तियो को उसके मनोविकास के काम मे उचित रूप से लाना माता-पिता तथा शिक्षको का कर्तव्य है।

बालक की मूल प्रवृत्तियो का परिवर्तन निम्नलिखित चार प्रकार से होता है—

(१) दमन[2],

(२) विलयन[3],

---

1 Innate Tendencies 2 Repression, 3 Inhibition

(३) मार्गान्तरीकरण[1],

(४) शोध[2]।

हम बालक की मूल प्रवृत्तियों की तुलना जल के प्रवाह से कर सकते है। जिस प्रकार झरने से जल निकलकर धारा के रूप मे बहने लगता है, उसी प्रकार हमारे अदृश्य व अव्यक्त मन से मूल प्रवृत्ति की शक्ति प्रवाहित होने लगती है। बॉध बॉधकर जल के प्रवाह में परिवर्तन किया जा सकता है, यह प्रवाह का दमन है। उसका रुख मरुस्थल की ओर घुमाकर उसे शोषित किया जा सकता है, यह उसका विलयन है। प्रवाह को नदी या समुद्र की ओर, जो कि उसका सहज मार्ग है, न जाने देकर नहरों द्वारा खेतों की ओर ले जा सकते है, यह प्रवाह का मार्गान्तरीकरण है। यदि जल की भाप बना दी जाय, जो मशीन चलाने का काम दे, तो इस क्रिया को शोध कहेंगे। यह तो निर्विवाद है कि बालक की मूल प्रवृत्तियो को जैसा का तैसा नहीं रहने दिया जा सकता। यदि बालक की मूल प्रवृत्तियों मे कुछ भी परिवर्तन न किया जाय तो सम्भव है, वह अपने जीवन को पशु के समान भी व्यतीत न कर सके। समाज के द्वारा इन प्रवृत्तियों मे अपने आप परिवर्तन होते रहते है। शिक्षा के द्वारा ये परिवर्तन सुगमता से और भली भॉति किये जा सकते है।

यहॉ पाठको का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना आवश्यक है कि उपर्युक्त चार प्रकार की मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन की रीतियो मे उत्तरोत्तर पहली रीति उसके बादवाली रीति की अपेक्षा, बाल-मनोविकास की दृष्टि से, निकृष्ट है अर्थात् यदि हम किसी मूल प्रवृत्ति मे परिवर्तन करने के लिए विलयन की जगह दमन का आश्रय लेते है तो बालक के मनोविकास में बाधा डालते है। इसी प्रकार जहॉ मार्गान्तरीकरण से काम लिया जा सकता है वहॉ विलयन से काम लेना अनुचित है, और जहॉ शोध की सम्भावना है वहॉ मार्गान्तरीकरण से सन्तुष्ट होना उचित नहीं।

---

1 Reduection, 2 Sublimation

अनुसरण करना तथा उसे सबल बनाने के लिए पुरस्कार देना आवश्यक है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि जब हम किसी प्रवृत्ति को निर्बल बनाते है तो साथ ही साथ बालक के व्यक्तित्व को आघात पहुँचाते है। उसका व्यक्तित्व इन्ही प्रवृत्तियो के समुच्चय से बना है। यदि किसी प्रवृत्ति का पूर्ण रूप से दमन किया जाता है तो उस प्रवृत्ति की शक्ति या तो बालक के व्यक्तित्व के विकास मे सहायता नहीं देती अथवा यदि वह अति प्रबल हुई तो बालक के व्यक्तित्व के प्रतिकूल उसके अदृश्य मन मे कार्य्य करने लगती है, अतएव बालक को कम से कम ही दण्ड दिया जाय। बालक को दुराचारो से बचाने के लिए सदा हमे इस सिद्धान्त को ध्यान मे रखना चाहिये कि चिकित्सा की अपेक्षा रोग को न आने देना ही उत्तम है।

विलयन—मूल प्रवृत्तियो के परिवर्तन का दूसरा उपाय विलयन है। यह दो प्रकार से हो सकता है। एक निरोध द्वारा अर्थात् प्रवृत्ति को उत्तेजित होने का अवसर न देना, और दूसरा विरोध द्वारा अर्थात् जिस समय एक प्रवृत्ति कार्य कर रही हो उसी समय उसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति को उत्तेजित करना। यदि हम बालकों मे लड़ने-भिड़ने की प्रवृत्ति को कम करना चाहते हैं, तो हमे बालक के जीवन में ऐसी परिस्थितियो को न आने देना चाहिये जिससे कि उसकी यह प्रवृत्ति उत्तेजित हो। विलियम जेम्स के इस कथन मे आंशिक सत्य अवश्य है कि मूल प्रवृत्तियो का, उपयोग न करने से, विनाश हो जाता है। यह तो निश्चित ही है कि उनका बल कम हो जाता है।*

---

* इस समय भारतवर्ष की अनेक जातियाँ असैनिक जातियाँ कही जाती हैं। वास्तव में असैनिक कोई भी जाति नहीं है। जिस जाति को लडाई की परिस्थिति का सामना नही करना पड़ता, वह स्वभावत: ही असैनिक जाति बन जाती है। भारतवर्ष के प्राय: सभी लोग डेढ सौ वर्ष से पराधीनता की शान्ति का उपभोग करते करते असैनिक बन गये हैं।

में लाया जाना प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण है। इसी तरह जब कोई व्यक्ति अपने प्रेम का पात्र एक व्यक्ति को न बनाकर किसी दूसरे व्यक्ति को बनाता है तब उसकी मूल प्रवृत्ति के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन नहीं होता। किन्तु कामुकता जब कला में परिणत हो जाती है तब मूल प्रवृत्ति के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन होता है। ऐसे परिवर्तन को शोध कहते हैं; अब निन्दनीय वस्तु सराहनीय बन गई। कीचड़ का कमल के रूप में और मल का इत्र के रूप में परिणत होना शोध है। वास्तव में सभ्यता का विकास मनुष्य की मूल प्रवृत्तियो के शोध का ही फल है। मनुष्य जितना ही अपनी मूल प्रवृत्तियो का शोध कर सकता है, उतना ही उसका जीवन विकसित हो जाता है। अतएव बालक के मनोविकास के लिए उसकी मूल प्रवृत्तियो का शोध किया जाना परमावश्यक है।

बालक के ज्ञान-विकास में तथा उसके जीवन को सुन्दर बनाने में मूल प्रवृत्तियो का अनेक प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। हम यहाँ बालक की कुछ मूल प्रवृत्तियों को लेकर यह बात दर्शाने की चेष्टा करेगे।

उत्सुकता

उत्सुकता का स्वरूप—प्रत्येक बालक नई बातें जानने के लिए उत्सुक रहता है। उसे सदा नवीन नवीन वस्तुओ को देखने की इच्छा होती है। बालक मे जिन दिनो बोलने की शक्ति नहीं होती उन दिनो भी वह नवीन वस्तुओं को देखकर प्रसन्न होता है। एक वर्ष का बालक भी यह चाहता है कि हम उसको उठा ले जाकर इधर-उधर घुमावें-फिरावें, जिससे वह संसार के बाह्य पदार्थों को देखे।

उत्सुकता और बालमनोविकास—बालक मे जब बोलने की शक्ति आ जाती है तब वह अपने माता-पिता तथा दाई से नये पदार्थों के बारे में अनेक प्रकार के प्रश्न पूछता है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जो पदार्थ हमारे लिए नया नहीं है वह बालक के लिए बिलकुल नया होता है। प्राय: प्रौढ़ लोग बालक के ऐसे प्रश्नो से तंग आ जाते है और उसे किसी प्रकार चुप करने की चेष्टा करते है। कभी कभी तो उसे डाँटकर

विषय मे वह अपने भावों को सरलता से प्रकाशित कर सकता है। वस्तुओ के नाम न जानने के कारण बालक को अपने भाव प्रकट करने में जैसी अड़चन पड़ती है, इसका अनुमान तभी हो सकता है जब हम ऐसे देश मे भ्रमण करे जहाँ की भाषा न जानते हों। हमे तो भाषा की कमी के कारण भावों के प्रकाशन मात्र में ही कठिनाई होती है किन्तु बालक को इस कठिनाई के अतिरिक्त दूसरी क्षति यह होती है कि भाषा के न जानने से उसके ज्ञान की वृद्धि रुक जाती है।

जब बालक चित्र देखता है तो उसके विषय में अनेक प्रश्न करता है। इन प्रश्नो का उत्तर हमे देना चाहिये। इसके अतिरिक्त हमें भी बालक से ऐसे प्रश्न पूछने चाहिये, जिनसे उसकी उत्सुकता और भी बढ़े। इसी प्रकार कहीं घुमाने ले जाते समय बालक का ध्यान किसी नवीन वस्तु की ओर आकर्षित कर उससे उसके विषय मे पूछ-ताछ करनी चाहिये। पीछे यही बालक जब दूसरी किसी नवीन वस्तु को देखेगा, तो स्वयं उसके विषय मे बड़ो से अनेक प्रश्न करेगा। इस प्रकार उसकी जिज्ञासा की वृद्धि होगी।

बालक के प्रश्न वस्तु-ज्ञान के पश्चात् नवीन क्रियाओं (कामों) के सम्बन्ध मे होते है। यह बाल-मन के विकास का सूचक है। इस प्रकार बालक अनेक वस्तुओ के व्यवहारो और उपयोगिताओं को जान लेता है। जब शान्ति (लेखक की ३ वर्ष की बालिका) कबूतर को देखती है तब पूछती है—"कबूतर क्या कर रहा है?" जब वह बोलता है, तो पूछती है—"कबूतर किसको बुला रहा है?" इसी तरह माली को अथवा उसके लड़के को देखकर अनेक प्रकार के प्रश्न उनके काम-काज के विषय मे करती है। अर्थात् उसके प्रश्न वस्तु-ज्ञान-सम्बन्धी ही नही रहते वरन् क्रिया-ज्ञान-सम्बन्धी भी होते है। इस काल मे बालक को चित्र दिखाते समय हमे बालक से चित्र के अनेक पदार्थों की क्रिया के विषय मे प्रश्न करना चाहिये। इस तरह बालक की कल्पना-शक्ति बढ़ती है।

क्रिया-ज्ञान के पश्चात् बालक में पदार्थों के विशेषणो को जानने की उत्सुकता आती है। बालक का प्रश्न—"यह पदार्थ कैसा है?" उसी काल मे सम्भव है जब बालक मे वस्तुओ और

विषय में वह अपने भावो को सरलता से प्रकाशित कर सकता है। वस्तुओ के नाम न जानने के कारण बालक को अपने भाव प्रकट करने मे जैसी अड़चन पड़ती है, इसका अनुमान तभी हो सकता है जब हम ऐसे देश मे भ्रमण करे जहाँ की भाषा न जानते हों। हमे तो भाषा की कमी के कारण भावो के प्रकाशन मात्र मे ही कठिनाई होती है किन्तु बालक को इस कठिनाई के अतिरिक्त दूसरी क्षति यह होती है कि भाषा के न जानने से उसके ज्ञान की वृद्धि रुक जाती है।

जब बालक चित्र देखता है तो उसके विषय में अनेक प्रश्न करता है। इन प्रश्नो का उत्तर हमे देना चाहिये। इसके अतिरिक्त हमें भी बालक से ऐसे प्रश्न पूछने चाहिये, जिनसे उसकी उत्सुकता और भी बढ़े। इसी प्रकार कहीं घुमाने ले जाते समय बालक का ध्यान किसी नवीन वस्तु की ओर आकर्षित कर उससे उसके विषय मे पूछ-ताछ करनी चाहिये। पीछे यही बालक जब दूसरी किसी नवीन वस्तु को देखेगा, तो स्वयं उसके विषय मे बड़ो से अनेक प्रश्न करेगा। इस प्रकार उसकी जिज्ञासा की वृद्धि होगी।

बालक के प्रश्न वस्तु-ज्ञान के पश्चात् नवीन क्रियाओ (कामों) के सम्बन्ध मे होते है। यह बाल-मन के विकास का सूचक है। इस प्रकार बालक अनेक वस्तुओ के व्यवहारो और उपयोगिताओं को जान लेता है। जब शान्ति (लेखक की ३ वर्ष की बालिका) कबूतर को देखती है तब पूछती है—"कबूतर क्या कर रहा है?" जब वह बोलता है, तो पूछती है—"कबूतर किसको बुला रहा है?" इसी तरह माली को अथवा उसके लड़के को देखकर अनेक प्रकार के प्रश्न उनके काम-काज के विषय में करती है। अर्थात् उसके प्रश्न वस्तु-ज्ञान-सम्बन्धी ही नहीं रहते वरन् क्रिया-ज्ञान-सम्बन्धी भी होत है। इस काल मे बालक को चित्र दिखाते समय हमें बालक से चित्र के अनेक पदार्थों की क्रिया के विषय मे प्रश्न करना चाहिये। इस तरह बालक की कल्पना-शक्ति बढ़ती है।

क्रिया-ज्ञान के पश्चात् बालक मे पदार्थों के विशेषणो को जानने की उत्सुकता आती है। बालक का प्रश्न—"यह पदार्थ कैसा है?" उसी काल में सम्भव है जब बालक मे वस्तुओ और

चुप कर दिया जाता है। किन्तु बाल-मनोविकास की दृष्टि से यह बड़ी भूल है। बालक तो संसार मे एक आगन्तुक के समान है। वह ससार के पदार्थों के विषय मे कुछ भी नहीं जानता। उसको इसी वातावरण मे रहना है और इसी मे रहकर अपना जीवन सफल बनाना है। यदि अभिभावकगण ससार की नवीन वस्तुओ से उसको परिचित नहीं करावेगे तो वह अपने जीवन को कैसे सफल बनावेगा? बालक की उत्सुकता की प्रवृत्ति ही उसके *ज्ञानोपार्जन का साधन है। जब इस प्रवृत्ति का दमन शिशु-काल* मे ही किया जाता है तो बालक के ज्ञान-विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

दमन के दुष्परिणाम—बालक के कुछ प्रश्न वास्तव मे उत्तर देने के योग्य नहीं होते, किन्तु उस समय भी बालक को डॉटकर चुप करना ठीक नही। उसके ध्यान को किसी दूसरी ओर कर देना चाहिये अथात् दमन की जगह हम ऐसे अवसर पर विलयन से काम ले। जिस बालक की जिज्ञासा-प्रवृत्ति का दमन बिना समझे-बूझे किया जाता है उसके मन मे किसी से प्रश्न करने के सम्बन्ध मे एक प्रकार का अज्ञात भय घर कर लेता है। इस प्रकार का भय जब बालक के स्वभाव का अग बन जाता है, तब बालक उत्साह-हीन हो जाता है। उसको तो यह ज्ञात ही नहीं कि कौन से प्रश्न उचित है और कौन से अनुचित। अतएव प्रश्नो के लिए बालको को धमकाना प्रौढ़ लोगो की भूल है। बालको के प्रश्नो से उकता जाना तो उनकी सेवा से मु ह मोड़ना है।

उत्सुकता का उपयोग—अभिभावको एव शिक्षको को बालक की उत्सुकता की वृद्धि करनी चाहिये और उसे मार्गान्तरीकरण द्वारा सुयोग्य कार्यों मे लगाना चाहिये। शैशवकाल मे बालक की जिज्ञासा इन्द्रिय-ज्ञान-सम्बन्धी विषयो तक ही सीमित रहती है। इन दिनो बालक को बाहर घुमाते समय अनेक पदार्थों के नाम बताना चाहिये ताकि वह उनके विषय मे प्रश्न कर सके।

बालक के प्रथम प्रश्न वस्तु-ज्ञान-सम्बन्धी होते है। वह अनेक वस्तुओ के नाम पूछता है। इनका नाम बता देना चाहिये। बालक जिस वस्तु का नाम जान लेता है, उस वस्तु के

विषय में वह अपने भावो को सरलता से प्रकाशित कर सकता है। वस्तुओ के नाम न जानने के कारण बालक को अपने भाव प्रकट करने मे जैसी अड़चन पड़ती है, इसका अनुमान तभी हो सकता है जब हम ऐसे देश मे भ्रमण करे जहाँ की भाषा न जानते हों। हमे तो भाषा की कमी के कारण भावो के प्रकाशन मात्र मे ही कठिनाई होती है किन्तु बालक को इस कठिनाई के अतिरिक्त दूसरी क्षति यह होती है कि भाषा के न जानने से उसके ज्ञान की वृद्धि रुक जाती है।

जब बालक चित्र देखता है तो उसके विषय में अनेक प्रश्न करता है। इन प्रश्नो का उत्तर हमे देना चाहिये। इसके अतिरिक्त हमें भी बालक से ऐसे प्रश्न पूछने चाहिये, जिनसे उसकी उत्सुकता और भी बढ़े। इसी प्रकार कहीं घुमाने ले जाते समय बालक का ध्यान किसी नवीन वस्तु की ओर आकर्षित कर उससे उसके विषय मे पूछ-ताछ करनी चाहिये। पीछे यही बालक जब दूसरी किसी नवीन वस्तु को देखेगा, तो स्वयं उसके विषय मे बड़ो से अनेक प्रश्न करेगा। इस प्रकार उसकी जिज्ञासा की वृद्धि होगी।

बालक के प्रश्न वस्तु-ज्ञान के पश्चात् नवीन क्रियाओ (कामों) के सम्बन्ध में होते है। यह बाल-मन के विकास का सूचक है। इस प्रकार बालक अनेक वस्तुओ के व्यवहारो और उपयोगिताओ को जान लेता है। जब शान्ति (लेखक की ३ वर्ष की बालिका) कबूतर को देखती है तब पूछती है—"कबूतर क्या कर रहा है?" जब वह बोलता है, तो पूछती है—"कबूतर किसको बुला रहा है?" इसी तरह माली को अथवा उसके लड़के को देखकर अनेक प्रकार के प्रश्न उनके काम-काज के विषय मे करती है। अर्थात् उसके प्रश्न वस्तु-ज्ञान-सम्बन्धी ही नहीं रहते वरन् क्रिया-ज्ञान-सम्बन्धी भी होत है। इस काल मे बालक को चित्र दिखाते समय हमें बालक से चित्र के अनेक पदार्थों की क्रिया के विषय मे प्रश्न करना चाहिये। इस तरह बालक की कल्पना-शक्ति बढ़ती है।

क्रिया-ज्ञान के पश्चात् बालक मे पदार्थों के विशेषणो को जानने की उत्सुकता आती है। बालक का प्रश्न—"यह पदार्थ कैसा है?" उसी काल मे सम्भव है जब बालक में वस्तुओ और

उनके गुणों को पृथक् करके विचार करने की शक्ति आ गई हो। विश्लेषणात्मक विचार-शक्ति के अभाव मे ऐसे प्रश्न सम्भव नहीं। इस प्रकार की शक्ति के उपार्जन करने मे शिक्षकगण बड़ी सहायता कर सकते है। बालक की जिज्ञासा को पदार्थों के गुणों की पहचान मे लगाना उसका सदुपयोग करना है। इसी प्रकार बालक अपने आस-पास के पदार्थों से भली भाँति परिचित होता है, तथा उसमे किसी पदार्थ के आकार-प्रकार, रूप-रंग के जानने अथवा विवेचन करने की शक्ति आ जाती है। शिक्षको और अभिभावको को चाहिये कि बालको को नई वस्तु दिखाते समय उनसे अनेक ढंग के प्रश्न करें। जैसे—यह वस्तु कैसी है? इसका रग, आकार-प्रकार कैसा है? इत्यादि। इस प्रकार का अभ्यास हो जाने पर बालक स्वय ही नवीन वस्तुओं को देखकर दूसरो से उसी प्रकार प्रश्न करेगा।

जब बालक का ज्ञान भली भाँति बढ़ जाता है, तब उसके प्रश्न प्रत्यक्ष पदार्थ, उनकी क्रियाओं तथा विशेषणो तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि उन पदार्थों के भूत और भावी रूपो एवं क्रियाओं को भी बालक जानना चाहता है। कभी कभी शान्ति अपनी माँ से यह प्रश्न करती है—"कबूतर कहाँ गया था?" इस प्रकार के प्रश्न बालको की कल्पना को विकसित करते है। शिशु-कक्षा में बालको को पढ़ाते समय शिक्षको को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये कि उनके प्रश्न से बालकों की कल्पना-शक्ति कहाँ तक बढ़ रही है। प्रत्यक्ष पदार्थ को प्रश्नो का केन्द्र बनाकर पाठकों का बालको से ऐसे प्रश्न करना चाहिये जिनसे उन्हे दृष्टि से बाहर की वस्तु के बारे मे सोचना पड़े। इस तरह बालक अपनी कल्पना से काम लेना सीखेगे। उनका पुराना प्रत्यक्ष-ज्ञान अब कल्पना के रूप में आयेगा। जब बालक स्वय इस प्रकार के प्रश्न करे तो हमे उसे प्रोत्साहित करना चाहिये।

बालक की कल्पना-शक्ति की जब पर्य्याप्त वृद्धि हो जाती है तब बालक के प्रश्नो मे कार्य्य-कारण-भाव की जिज्ञासा पाई जाती है। ऐसे प्रश्न प्रायः पाँच वर्ष से ऊपर के बालक ही किया करते हैं। अब बालक के प्रश्न—"यह क्या है? यह क्या कर रहा

है ? यह कैसा है ? यह पहले कहाँ था ?" तक ही सीमित नही रहते। अब वह पूछता है—"ऐसा कैसे हुआ है ?" इस प्रकार के प्रश्न बालक की कल्पना-शक्ति की वृद्धि करते है, उसके विचार-बल को बढ़ाते है। बालक की जिज्ञासा को हम जहाँ तक इन्द्रियो को आकर्षित करनेवाले पदार्थों से मार्गान्तरीकरण करके बुद्धि के विषयो पर ले जाते है, वहाँ तक बालक के मनोविकास मे सहायक होते हैं।

उत्सुकता का विकसित रूप ही जिज्ञासा है। उत्सुकता की प्रवृत्ति का उपयोग जब भली भाँति होता है तब वह बालक को प्रतिभा-शाली बना देती है। संसार के बड़े से बड़े आविष्कारो के पीछे उत्सुकता की प्रवृत्ति ही कार्य करती है। न्यूटन, स्टीफेन्सन, फेराडे आदि अनेक अन्वेषणकर्त्ताओ मे हम उत्सुकता अथवा जिज्ञासा की प्रवृत्ति का सदुपयोग देखते है।

रचनात्मक प्रवृत्ति

रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रथम स्वरूप—बालक की रचनात्मक-प्रवृत्ति एक साल की अवस्था से पहले ही अपना प्रथम लक्षण दिखाती है। बालक अनेक पदार्थों को हाथ मे लेता है और उन्हे तोड़ता-फोड़ता है। यह क्रिया रचनात्मक-प्रवृत्ति का प्रकाशन मात्र है। रचनात्मक-प्रवृत्ति का प्रथम स्वरूप ध्वसात्मक होता है। इस प्रवृत्ति का मुख्य लक्षण पदार्थों मे परिवर्तन करने की चाह है। यह परिवर्तन विघटनात्मक हो सकता है अथवा सृष्ट्यात्मक।

बालक का स्वभाव बड़ा चञ्चल होता है। वह अनेक वस्तुओ को हाथो मे लेने की चेष्टा करता है। खिलौनो को हाथ मे लेता, देखता और फिर तोड़-फोड़ देता है। वह प्रत्येक वस्तु को इसी प्रकार तोड़ना-फोड़ना चाहता है। प्रौढ़ लोग ऐसी प्रवृत्ति से बालक को रोका करते है किन्तु यह हमारी भूल है। बालक इसी प्रकार अनेक पदार्थों को हाथ मे लेकर और उन्हें तोड़-फोड़-कर ही पहचानता है। माता-पिता बालक की इस प्रकार की चेष्टा का निर्दयतापूर्वक दमन न करे। यदि इस काल मे बालक की

तोड़ने-फोड़ने की प्रवृत्ति रोक दी जाय तो वह संसार में कदापि किसी रचनात्मक कार्य में प्रवीण न हो सकेगा।

रचनात्मक-प्रवृत्ति का विकसित रूप—बालक की ध्वंसात्मक प्रवृत्ति ही पीछे से रचनात्मक-प्रवृत्ति में रूपान्तरित हो जाती है। वास्तव में जैसा पहले कहा गया है, पहले प्रकार की प्रवृत्ति दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति का अविकसित रूप मात्र है। जब रचनात्मक-प्रवृत्ति का उदय हो तब बालक को खेलने के लिए अनेक प्रकार के पदार्थ देना चाहिये। धनी घर के लोग 'मेकनो' जैसी खेल की अनेक वस्तुएँ, बालक की इस प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए, दे सकते हैं। ग़रीब बालक धूल और मिट्टी से अनेक पदार्थ बनाते हैं। उन्हे इस प्रकार के खेलो से रोकना ठीक नहीं। अभिभावकों तथा शिक्षको को छोटे बालकों के लिए मिट्टी के तथा काग़ज के अनेक प्रकार के खिलौने बनाने की रीति सीखनी चाहिये और ऐसे खिलौनों को बालक के सामने बनाना चाहिये ताकि वह उनकी नकल करके खिलौने बना सके। बालक जिस कार्य को नकल करता है, वही कार्य्य या उस ढंग का कार्य पीछे वह अपने आप करने लगता है।

रचनात्मक-प्रवृत्ति और कल्पना-विकास—बालक की रचनात्मक-प्रवृत्ति जैसे जैसे प्रकाशित होती है, उसकी कल्पना भी विकसित होती जाती है। रचनात्मक-प्रवृत्ति कल्पना-विकास में बड़ी सहायता पहुँचाती है। बालक जब अपने खेल के बँगले को बनाना चाहता है तब उसे पहले ही उसका सम्पूर्ण खाका सोचना पड़ता है। हमारी हर एक मानसिक शक्ति का विकास आवश्यकता पड़ने पर ही होता है। बालक जब कोई नई वस्तु बनाने की इच्छा करता है तब वह अपने इच्छित पदार्थ के बनाने की अनेक प्रकार की बाते सोचता है। उसके इस प्रकार सोचने से उसकी कल्पना का विकास होता है।

बालक के अनेक खेल उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति के विकसित रूप हैं। बाल्य जीवन में खेलों की जो उपयोगिता है वही उपयोगिता रचनात्मक-प्रवृत्ति की है। खेलो के द्वारा बालक अपने आपको भावी ज़िम्मेदारियों के लिए तैयार करता है। रचनात्मक-प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित किये गये कार्यों का भी यही उपयोग है।

संग्रह की प्रवृत्ति

संग्रह की प्रवृत्ति का स्वरूप—बालक के अनेक वस्तुओं को इकट्ठा करने मे संग्रह की प्रवृत्ति देखी जाती है। गरीब घर के बालक टूटे-फूटे काँच के टुकड़ों और कङ्कड़-पत्थरो को इकट्ठा करते है; धनी घर के बालक तसवीरो और खेल के अनेक पदार्थों को इकट्ठा करते है। इस प्रवृत्ति के कारण ही व्यक्ति अपनी चीजों की रक्षा भली भाँति करता है। इसी के कारण वह धन को एकत्र करता है। जिस व्यक्ति में इस प्रवृत्ति की कमी होती है, वह किसी वस्तु को भली भाँति नहीं रख पाता। जब यह प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है तब वह कजूसी, चोरी इत्यादि दुर्गुणो मे प्रकाशित होती है, किन्तु जब यह सामान्य मिकदार में रहती है तब मनुष्य के ससारी जोवन को सफल बनाने मे सहायक होती है।

संग्रह की प्रवृत्ति का बाल-मनोविकास में उपयोग—अभिभावक और शिक्षक गण इस प्रवृत्ति को बाल-मनोविकास के लिए कई प्रकार से काम मे ला सकते है। इसके सहारे बालक के ज्ञान की वृद्धि की जा सकती है। बालकों को देश-देश के स्टाम्प (डाक के टिकिट) इकट्ठा करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। इससे बालक उन देशों के भौगोलिक ज्ञान मे रुचि रखने लगते है। इसी तरह बालक को कुछ चीजें दे दी जायें, जिनकी रक्षा की जिम्मेदारी उसके ऊपर ही डाल दी जाय। इस प्रकार बालक अनेक वस्तुओं को ठीक ढङ्ग से रखना सीखेगा।

बालक मे पैसा बचाने की आदत इस प्रवृत्ति के सहारे डाली जा सकती है। बालक को कुछ पैसे दे दिये जायँ और उसे अपना कोश बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। इस प्रकार बालक को जब भी पैसे मिलेंगे, वह बचाने की चेष्टा करेगा। किन्तु यहां इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस प्रवृत्ति की अत्यधिक वृद्धि व्यक्ति के चरित्र-विकास मे बाधक होती है। जैसा ऊपर कहा गया है, कजूसी की आदत और चोरी करना इस प्रवृत्ति के अत्यधिक बढ़ने का परिणाम मात्र है।

द्वन्द्व-प्रवृत्ति

द्वन्द्व-प्रवृत्ति का स्वरूप—प्रत्येक प्राणी मे द्वन्द्व-प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति के कारण वह दूसरो से अपनी रक्षा कर सकता और दूसरो को अपने वश मे कर सकता है। हम बालक मे भी इस प्रवृत्ति को अविकल रूप मे पाते है। जब किसी बालक को उससे छोटा बालक तङ्ग करता है तो वह उससे लड़ बैठता है। अपने से अधिक बलवानो से डरना और निर्बलो पर क्रुद्ध होना स्वाभाविक है। इन सवेगो की सहचरी प्रवृत्तियाँ भागना और लड़ना है। अतएव जिन स्थितियो मे उपरोक्त संवेग उत्तेजित होते है, उन्हीं स्थितियो मे उनकी सहचरी प्रवृत्तियाँ भी उत्तेजित होती है। बालक का अपने बल का अनुभव ज्यो ज्यो बढ़ता है, उसकी द्वन्द्व-प्रवृत्ति भी उसे अपने विरोधियो से लड़ने के लिए प्रेरित करती है।

लड़ने की प्रवृत्ति को ध्वसात्मक प्रवृत्ति माना गया है। यदि इस प्रवृत्ति का भली भाँति नियन्त्रण न किया जाय तो वह व्यक्ति को समाजविरोधी बना देगी। उग्र द्वन्द्व प्रवृत्तिवाला व्यक्ति न सिर्फ दूसरो को क्षति पहुँचाता है वरन् अपने जीवन को भी दुःख-पूर्ण बनाये रहता है। अनेक लोग उसके शत्रु बन जाते हैं, जो कई प्रकार से उसे हानि पहुँचाने के लिए उतारू बने रहते है। जिस बालक मे द्वन्द्व-प्रवृत्ति अत्यधिक है, और भली भाँति नियन्त्रित नहीं है, वह अपने जीवन को समाजोपयोगी कदापि न बना सकेगा। उसका जीवन अविकसित ही रह जायगा।

यहाँ हमे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अपने आप मे द्वन्द्व-प्रवृत्ति स्वयं बुरी नहीं है, यदि उसका उपयोग ठीक ढंग से किया जाय तो वह बालक के जीवन को सुखमय और बड़ा सुन्दर बना सकती है। जिस व्यक्ति अथवा समाज मे इस प्रवृत्ति की कमी होती है वह व्यक्ति अथवा समाज दूसरो के द्वारा सरलता से त्रस्त हो जाता है। द्वन्द्व-प्रवृत्ति के कारण मनुष्य मे अनेक सद्गुणो का विकास होता है। जब एक व्यक्ति को दूसरे से लड़ना पड़ता है तब वह अपने सहायको की खोज करने लगता है। अर्थात् जितनी तीव्रता से मनुष्य की द्वन्द्व-प्रवृत्ति उत्ते-

जित होती है उतनी ही तीव्रता से उसकी दूसरों की चाह की प्रवृत्ति भी उत्तेजित होती । जहाँ एक ओर इस प्रवृत्ति के कारण अनेक ध्वंसात्मक काम होते है वहाँ दूसरी ओर यह रचनात्मक कार्य भी करती है । इस प्रकार मनुष्य का अनुभव बढ़ता है और उसका जीवन भली भाँति विकसित होता है । संगठन-शक्ति का प्रादुर्भाव लड़ने की प्रवृत्ति के अभाव मे संभव नहीं ।

द्वन्द्व प्रवृत्ति और बाल-मनोविकास—बालक की द्वन्द्व-प्रवृत्ति को मार्गान्तरीकरण द्वारा लाभकारी बनाया जा सकता है। वह प्रवृत्ति उसकी सामाजिक भावनाओ को दृढ़ करने के कार्य मे लाई जा सकती है । जब बालक व्यक्तिगत बातो के लिए नहीं, किन्तु सामाजिक बातो के लिए लड़ता है तो वह सरलता से अनेक जीवनोपयोगी गुणो को उपार्जित कर लेता है । अपने जीवन को सफल बनाने के लिए बालक को अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा और उसे अनेक लोगों से लड़ना पड़ेगा । अभिभावको को चाहिये कि वे बालक को इस बात की शिक्षा दे कि दूसरो से किस प्रकार सफलतापूर्वक लड़ना चाहिये । जिस बालक की द्वन्द्व-प्रवृत्ति का दमन कर दिया जाता है वह कदापि वीर बालक नहीं बन सकता । उसका जीवन कायरता मे ही व्यतीत होगा ।

शोध द्वारा भी द्वन्द्व-प्रवृत्ति को जीवनोपयोगी बनाया जा सकता है। हाकी, फुटबाल, कबड्डी इत्यादि खेल ऐसे हैं जिनसे बालक की द्वन्द्व-प्रवृत्ति का शोध होकर वह समाजोपयोगी कार्यों मे रूपान्तरित हो जाती है । इसी प्रकार वाक्य-प्रतिद्वन्द्विता मे भी द्वन्द्व-प्रवृत्ति का शोध होता है । इन खेलो के द्वारा बालक में अनेक सामाजिक गुणो का विकास होता है, उसका व्यक्तित्व दृढ़ और सुडौल बनता है तथा वह समाज मे प्रतिष्ठित स्थान पाता है ।

आत्मप्रदर्शन

आत्मप्रदर्शन का स्वरूप—आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति प्रत्येक ऊँचे वर्ग के प्राणी मे रहती है । यह एक सामाजिक प्रवृत्ति है । इसके कारण मनुष्य दूसरो को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है । कोई भी

व्यक्ति अपने आप मे सुखी नहीं रहता। वह चाहता है कि दूसरे लोग उसकी ओर ध्यान दे। इस प्रवृत्ति के कारण मनुष्य अनेक ऐसे कार्य करता है जिनके कारण दूसरे उसका स्मरण करते है।

वाल-मनोविकास में आत्मप्रदर्शन की उपयोगिता—बालक मे इस प्रवृत्ति के कार्य बहुत छोटी अवस्था से ही देखे जाते है। बालक जब कोई खेल खेलता है तब वह यह चाहता है कि दूसरे लोग उसे देखे और उसके कार्यों की प्रशसा करे। बालक की बोलने, गाने और अपने आपको सजाने आदि क्रियाओ मे आत्म-प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति कार्य करती है। बालक की आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को उसके पढ़ने-लिखने, तथा अनेक सामाजिक गुणो के विकास करने के काम मे लाया जा सकता है। जिस बालक मे इस प्रवृत्ति की कमी होती है वह किसी कार्य मे दूसरो से आगे बढ़ने की चेष्टा नही करता। अतएव ऐसा व्यक्ति सम्मान के योग्य कोई कार्य भी नही करता। संसार के अनेक भले कार्य आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के प्रकाशन मात्र है। क्या चित्रकार की कला, क्या कवि की कविता और क्या समाज-सेवको की सेवा, सभी कार्यों मे आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का कार्य देखा जाता है। जिस बालक की इस प्रवृत्ति का दमन किया जाता है, अथवा जब वह अपने प्रकाशन के अनुकूल वातावरण नही पाती तब विकृत रूप मे प्रकाशित होती है। फिर ऐसा बालक दूसरो को चिढ़ाने तथा दूसरो का नुकसान करने मे आनन्द पाने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति ससार मे प्रसिद्ध होकर रहना चाहता है। जिस व्यक्ति मे यह योग्यता नही है वह प्रशसनीय कार्य करके ख्याति पाने की चेष्टा न करके कोई दूसरे विचित्र कार्य—फिर वे निन्दनीय ही क्यो न हो—करके ख्याति पाने की चेष्टा करता है। नये नये फैशनो का आविष्कार इसी प्रकार होता है।

शिक्षकगण देखते हैं कि कितने ही बालक कक्षा के योग्य बालको को अनेक प्रकार से चिढ़ाने का प्रयत्न करते रहते है। कभी कभी वे कक्षा मे ऐसे कार्य कर बैठते है जिससे शिक्षक भी त्रस्त हो जाता है। किन्तु सच तो यह है कि ऐसे सभी कामो के पीछे आत्म-प्रकाशन का भाव छिपा रहता है। जो बालक अच्छे कामो से ख्याति पाने मे

असफल रहते हैं वे बुरे कामों को करके ही दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। अतः शिक्षकों को चाहिये कि पाठशालाओं की पढ़ाई-लिखाई में सामान्य योग्यतावाले बालकों को किसी बात में विशेष योग्यता के प्रदर्शन करने का अवकाश देते रहे। जो बालक पढ़ने-लिखने में पिछड़े रहते है वे खेल-कूद में दूसरो से आगे बढ़े रहते है। अतएव खेद-कूद मे उन्हे अपनी योग्यता दिखाने का तथा आत्म-प्रदर्शन की तृप्ति का अवसर मिलता है। शिक्षकों को बालकों के इन सब कार्यों में रुचि रखनी चाहिये।

विनीतता की प्रवृत्ति

विनीतता की प्रवृत्ति का स्वरूप—बालक में जिस प्रकार दूसरो के ऊपर अपना प्रभाव डालने की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार उसमें अपने से बड़ों के प्रति नम्रता से चलने तथा उनका कहना मानने की प्रवृत्ति भी होती है। अपने दल के नेता के प्रति बालक का नम्रता का भाव रहता है। इसी प्रकार बालक शिक्षक के प्रति विनीत भाव रखता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपने से अधिक योग्यतावालों, एवं अवस्था और धन में बड़े लोगो के प्रति नम्रता का भाव रहता है। इसके कारण ही एक व्यक्ति दूसरे का कहना मानता है, और समाज मे नियमो का पालन होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको ही बड़ा माने तो सामाजिक जीवन सम्भव ही न हो। हम दूसरो के प्रति विनीत भाव प्रकट करके उनके अनुभव और बुद्धिवर्धन का लाभ उठाते है। बालक भी अपनी नम्रता से दूसरो से अनेक प्रकार के लाभ उठाता है।

विनीतता की प्रवृत्ति का उपयोग—बालक की इस प्रवृत्ति से हम उसे नियमित रहने की आदत सिखा सकते है। पाठकों को चाहिये कि वे बालको का अपने प्रति सम्मान का भाव कभी न खोवे। यह तभी सम्भव है जब वे हर एक बात में अपने आपको योग्य सिद्ध करते रहें। प्रत्येक परिश्रमी शिक्षक अपने विद्यार्थियों के हृदय से सम्मान पाता है और उनकी विनीत भाव की प्रवृत्ति को अच्छे काम में लगाता है।

इस प्रवृत्ति का भी अत्यधिक होना बुरा है। जिस व्यक्ति मे यह प्रवृत्ति वहुत वढ़ी-चढ़ी रहती है, वह सदा दूसरो की मानसिक दासता किया करता है। ऐसा व्यक्ति ससार मे कोई प्रतिष्ठा पाने योग्य कार्य नहीं कर पाता। वह सदा दूसरो का ही काम, लद्दू टट्टू के समान, किया करता है। संसार उसी व्यक्ति का आदर करता है, जिसमें कुछ तेजस्विता होती है और जो समय समय पर दूसरो का विरोध करने का भी साहस करता है। सुन्दर चरित्र, मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियो के सामञ्जस्य का प्रतिफल है। किसी प्रवृत्ति का अत्यधिक वढ़ना चरित्र-विकास के लिए घातक है।

दूसरों की चाह

दूसरों की चाह की प्रवृत्ति का स्वरूप—इस प्रवृत्ति के कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की खोज करता है और समाज मे रहना चाहता है। यदि किसी वालक को अकेला छोड़ दिया जाय तो वह वहुत दुखी हो जाता है। जव दूसरे वालको की छुट्टी हो जाती है तव काम न करनेवाले वालक को दण्ड के रूप में स्कूल मे रोक लिया जाता है। इससे वालक को जो दु.ख होता है वह दूसरो की चाह की प्रवृत्ति के कारण ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप मे सन्तुष्ट नहीं रहता। यदि किसी साधारण व्यक्ति को अकेले ही किसी कमरे मे चार-पॉच महीने तक रहना पड़े तो वह पागल सा हो जाता है। जव किसी क़ैदी को अधिकारी लोग कड़ा दण्ड देना चाहते हैं तो उसे एकान्त कोठरी मे वन्द करके रखते है।

यह प्रवृत्ति व्यक्ति मे अनेक सद्‌गुण उत्पन्न कर देती है। यह सामाजिक जीवन की भित्ति है। इसी के ऊपर नैतिकता भी अवलम्बित रहती है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि यदि मै अधिक स्वार्थी होऊँगा तो दूसरे लोग मुझे त्याग देंगे। पर समाज द्वारा अपना वहिष्कृत होना कोई भी नहीं सह सकता। अतएव प्रत्येक व्यक्ति ऐसे कार्य करता है जिससे उसके स्वार्थ का साधन भी हो और दूसरे लोग भी उससे सन्तुष्ट रहे। आगे चलकर व्यक्ति समाज के सुख मे ही अपना सुख देखने लगता है।

दूसरों की चाह की प्रवृत्ति का विकास—बालक में दूसरों की चाह की प्रवृत्ति का उदय शिशुकाल से ही देखा जाता है। बालक जिस समय से बोलना सीखता है उसी समय से वह दूसरो के साथ रहने में भी प्रसन्न रहता है। वह ऐसे सभी काम करना प्रारम्भ कर देता है जिससे दूसरे लोग उससे सन्तुष्ट रहे। किन्तु इस प्रवृत्ति का विशेष कार्य किशोरावस्था के ठीक पूर्व बाल्यावस्था में ही देखा जाता है। इस काल में बालक झुण्डो में रहना पसन्द करते हैं। उनके समाज का कोई नेता होता है और उस समाज के नियम रहते है। बालकगण इस नेता का हुक्म मानने तथा नियमो के पालन में बड़ी ही लगन दिखाते हैं। इसी काल में बालक की सामाजिक भावनाओ का विकास होता है और नैतिकता की अभिवृद्धि होती है। बालको के खेल इस विकास के कार्य में बड़े सहायक होते है।

विकास के उपाय—अभिभावको को चाहिये कि वे बालकों की इस प्रवृत्ति को भली भाँति विकसित होने के लिए अनेक प्रकार की सुविधाएँ दे। बालको को सामूहिक खेल खेलने से रोकना उचित नहीं। दूसरे बालको से मिलने-जुलने में उन्हें अधिक रुकावट न पड़नी चाहिये। कितने ही माता-पिता अपने बालको को दूसरो से इसलिए नहीं मिलने देना चाहते कि कहीं वे उनकी सामान्य बुराइयो को ग्रहण न कर लें, किन्तु ऐसा करके वे बालक के मनोविकास को रोक देते है। बालक मे यदि दूसरे बालको से मिलने से कुछ दुर्गुण आते हैं, तो उनकी सङ्गति से अनेक गुण भी आते है। अतएव बालको को सामूहिक जीवन से रोकने की अपेक्षा उसके लिए उन्हे प्रोत्साहित ही करना चाहिये।

काम-प्रवृत्ति

काम-प्रवृत्ति का स्वरूप—मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियो मे से काम-प्रवृत्ति एक प्रबल प्रवृत्ति है। कितने ही तत्त्ववेत्ताओ ने भोजन और काम-वासना की तृप्ति को ही जीवन के अनेक व्यवहारो का कारण बताया है। शोपनहावर के कथनानुसार यह प्रवृत्ति "लड़ाइयों का कारण, शान्ति का हेतु, गम्भीरता का

आधार, मज़ाक का लक्ष्य" आदि होती है*। इस प्रवृत्ति के कारण विपरीत लिंग के व्यक्ति की ओर प्रत्येक व्यक्ति आकर्षित होता है और अनेक प्रकार की चेष्टाओ से उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। साधारण लोगो की धारणा है कि यह प्रवृत्ति प्रौढ़ावस्था मे ही सक्रिय होती है। यदि किसी व्यक्ति मे इसके पूर्व काम प्रवृत्ति की चेष्टाएॅ देखी जाती है तो उसे अस्वाभाविक समझा जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने उपर्युक्त धारणा को भ्रमात्मक सिद्ध किया है। मनोविश्लेपण-वैज्ञानिको का कथन है कि बालक मे काम-प्रवृत्ति की चेष्टाएँ शैशवावस्था से ही देखी जाती है। उनके कथनानुसार प्रत्येक प्रेम-प्रदर्शन की क्रिया का स्रोत काम-प्रवृत्ति ही होती है। प्रत्येक बालक हर अवस्था में किसी न किसी व्यक्ति को प्यार किया करता है। यह प्यार करने का भाव काम-प्रवृत्ति का ही कार्य है।

काम-प्रवृत्ति के विकास की अवस्थाएँ—मनोविश्लेषण-वैज्ञानिको ने काम-प्रवृत्ति के विकास की चार अवस्थाएॅ मानी हैं। अरनेस्ट जोन्स के कथनानुसार ये चारो अवस्थाएॅ बालक के मनोविकास की हैं। शैशवावस्था मे बालक अपने आपको, तथा लिंग-भेद के अनुसार माता या पिता को प्यार करता है। बाल्यावस्था मे उसका प्यार सवर्गीय साथी की ओर प्रवाहित होता है; शैशवावस्था मे वह विपरीत लिंग के बालक की चाह करने लगता है। प्रौढ़ावस्था मे वह अपना प्रेम एक व्यक्ति को दे देता है और उसके साथ जीवन व्यतीत करने का इच्छुक रहता है। शैशवावस्था और बाल्यावस्था के प्रेम-प्रदर्शन मे प्रायः हम काम-प्रवृत्ति को नही पहचान पाते। वास्तव मे जब तक हम बालक की काम-प्रवृत्ति-सम्बन्धी विशेष इन्द्रियो को

---

* "It is the cause of war, the end of peace, the basis of all that is grave, the aim of jest, the inexhaustible source of wit and the meaning of all mysterious hints"—Metaphysics of the Love of the Sexes in *Selected Essays of Schopenhauer*

उत्तेजित होते नहीं देखते तब तक बालक की किसी भी चेष्टा को काम-चेष्टा नहीं कहते। किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार यह एक भूल है। काम-प्रवृत्ति की बाह्य चेष्टा के अभाव में उसके आन्तरिक भावो को न पहचानना मनोवैज्ञानिक अज्ञान को सिद्ध करना है। काम-प्रवृत्ति की बाह्य क्रिया आन्तरिक मनोभाव का प्रदर्शन मात्र होती है जो उस भाव की परिपक्व अवस्था में अपने आप ही होता है। पर अपरिपक्व अवस्था में भी आन्तरिक भाव को अनुपस्थित मानना तर्क-संगत नहीं है।

बाल्यावस्था में बालक अपने खेल के साथी सवर्गीय बालक को प्यार करता है। यह स्वाभाविक है। इस प्रकार बालक के जीवन में अनेक प्रकार के सामाजिक गुणों का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु माता-पिताओ और अभिभावकों को इस ओर ध्यान रखना चाहिये कि बालक अपने साथियों में रहने के कारण किसी कुटेव में न पड़ जाय। जब अभिभावक असावधान रहते है तो बालक काम-प्रवृत्ति-संबंधी अनेक ऐसी आदतें डाल लेते है, जिनके कारण उनका भावी जीवन दुःखमय हो जाता है।

काम-प्रवृत्ति का वास्तविक बाह्य रूप किशोरावस्था में देखा जाता है। बालक के संवेगो की दृष्टि से यह बड़े महत्त्व का काल है। किशोर बालक की काम-वासनाएँ बाह्य लक्षणो में भी प्रदर्शित होती हैं। कितने ही बालक इस अवस्था में विकृत-मार्ग से काम-प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं। इससे उनके मनोविकास मे बड़ी क्षति पहुँचती है। बालक की नैतिक भावनाएँ भी इस काल में परिपक्वता पाती है, अतएव जब बालक की पाशविक प्रवृत्तियाँ उसे बरबस किसी बुराई की ओर ले जाती है, और उनके वश में होकर जब वह कोई अनुचित कार्य कर बैठता है तब उसका नैतिक मन उसे कोसता है। इससे बालक को भारी आन्तरिक वेदना होती है और इस वेदना के परिणाम-स्वरूप उसके मन में अनेक प्रकार की जटिल भावना-ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। बालक के चरित्र के अनेक दोप इन्हीं भावना-ग्रन्थियो के फल होते है। अतएव अभिभावको को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

काम-प्रवृत्ति का सदुपयोग—बालक की काम-प्रवृत्ति का सदु-पयोग उसके शोध द्वारा किया जा सकता है। कला, कविता, नाचना-गाना आदि काम-प्रवृत्ति के शोध के परिणाम हैं। बालक को गाने तथा चित्र बनाने मे अभिभावकगण प्रोत्साहित कर सकते हैं। इससे उसकी काम-प्रवृत्ति समाजोपयोगी कार्यों मे लग जाती है और उसके जीवन को सुन्दर बना देती है।

साधारणतः बालको को किसी न किसी काम मे लगाये रहना चाहिये। जो बालक निकम्मा रहता है, उसके चरित्र मे अनेक प्रकार के दोष आते है। खेल-कूद, दौड़ना, खेत मे काम करना, स्काउटिङ्ग आदि ऐसे कार्य है, जिनमे बालक की शक्ति खर्च हो जाती है। जब इस शक्ति की पूर्ति प्रकृति करने लगती है, तो बालक की काम-प्रवृत्ति अपने आप नियमित हो जाती है। अर्थात् काम-प्रवृत्ति की शक्ति ही रूपान्तरित होकर बालक के अनेक शारी-रिक एव मानसिक व्यवहारो मे प्रदर्शित होती है।

———

छठा प्रकरण

जन्मजात प्रवृत्तियाँ

मनोवैज्ञानिकों ने उन प्रवृत्तियों को जन्मजात प्रवृत्तियाँ कहा है, जिनसे कोई विशेष संवेग सम्बद्ध नहीं रहता। जैसे भागने की प्रवृत्ति के साथ सदा भय का सम्बन्ध रहता है और लड़ने की प्रवृत्ति का सम्बन्ध क्रोध से रहता है। इस प्रकार जन्मजात प्रवृत्तियों के सहगामी कोई विशेष संवेग नहीं रहते। इन प्रवृत्तियों को हम दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं—अनुकृति अथवा अनुकरण और खेल। हम यहाँ अनुकृति का विवरण देंगे।

अनुकृति तीन प्रकार की होती है—कार्य-सम्बन्धी, विचार-सम्बन्धी और भाव-सम्बन्धी। कार्य मे दूसरो की नक़ल करना ही प्रायः अनुकृति[1] कहलाती है। विचार मे अनुकरण करने को निर्देश[2] और भाव में अनुकरण करने को सहानुभूति[3] कहते है। अब हम इन तीनो प्रकार की अनुकृतियो तथा उनसे संबन्धित विषय—स्पर्धा पर विस्तार से विचार करेंगे और यह देखेंगे कि इनका विकास किस प्रकार होता है तथा इनका बाल-मनोविकास में क्या स्थान है। इसके पश्चात् अगले प्रकरण मे खेल पर विचार किया जायगा।

अनुकृति

अनुकृति की प्रवृत्ति का स्वरूप—अनुकृति उस मूल प्रवृत्ति का नाम है जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे के कार्यों एवं चेष्टाओं की नकल करता है। यह प्रवृत्ति पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है। जब एक भेड़ किसी ओर चलती है तब दूसरी भेड़ें भी उसी ओर चलने लगती है। रात को एक गीदड़ बोलने लगता

---

1 Imitation. 2 Suggestion.
3. Sympathy

है तो आस-पास के सभी गीदड़ चिल्लाने लगते हैं। चिड़ियों का चहकना और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना आदि अनेक कार्य अनुकृति का प्रवृत्ति के कारण हुआ करते हैं। समाज में रहनेवाले सभी जानवरो के कार्यों में अनुकृति का स्थान बड़े महत्त्व का होता है। अनुकृति के द्वारा पक्षियो के बच्चे बोलना, उड़ना, चारा ढूँढ़ना और घातक प्राणी से बचना सीखते हैं। इसी प्रकार पशुओं के बच्चे भी चलना, फिरना और जीवन-रक्षा के अनेक कार्य अनुकृति द्वारा सीखते है।

मनुष्य के जीवन-विकास मे भी अनुकृति का स्थान बड़े महत्त्व का है। पशु-पक्षियो के बच्चो की अपेक्षा मनुष्य के बालक मे अनुकृति की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है। माँ इसी प्रवृत्ति का लाभ उठाकर उसे चलना और बोलना सिखाती है। बालक कपड़े पहनना, उठना-बैठना और दूसरो के साथ व्यवहार करना आदि सभी बाते अनुकृति द्वारा ही सीखता है। बालकों के अनेक खेल अनुकृति के कारण ही होते है। लड़की अपनी माँ को खाना पकाते देखती है तो स्वयं खाना पकाने का खेल खेलती है। देखा गया है कि रामलीला होते समय अनेक छोटे-छोटे बालक राम और रावण आदि बनकर रामलीला का खेल खेलने लगते है। बालक जब सिपाही को देखता है तब खेल में स्वयं सिपाही बनने की चेष्टा करता है। यह सब अनुकृति का कार्य है।

अनुकृति के प्रकार—अनुकरण दो प्रकार का होता है, एक तो सहज और दूसरा विचार-पूर्ण। सहज अनुकरण मे व्यक्ति का अनुकरण स्वाभाविक होता है। उसे अनुकरण का कोई विशेष प्रयत्न नही करना पड़ता। इस सहज अनुकृति का कार्य बालको के खेलो मे भली भाँति देखा गया है। बालक के मन मे किसी कार्य का बार-बार संस्कार पड़ने से वह क्रिया के रूप मे परिणत हो जाता है। यह एक सहज क्रिया है, जिसके करने से बालक को आनन्द होता है। इस तरह बालक जिस घर मे पैदा होता है, उस घर के व्यवसाय को सीखने की चेष्टा करता है। बड़ा होने पर बालक विचार-पूर्ण अनुकरण करता है। वह अनुकरणीय क्रिया को निश्चित करता है और फिर

उसी प्रकार अपना कार्य करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार बालक किसी व्यक्ति को बड़ा मानकर उसके सब आचरणों और व्यवहारों का अनुकरण करता है। प्रौढ़ावस्था के लोगों में ऐसे अनुकरण का कार्य पर्याप्त रूप से देखा जाता है। वास्तव में समाज उपर्युक्त दोनों प्रकार के अनुकरण की भित्ति पर स्थित है। जो समाज जितना ही दृढ़ है, उसमें अनुकृति का कार्य उतना ही अधिक देखा जाता है। समाज में नई बात के सोचने-वाले तो एक दो ही होते हैं, किन्तु उस बात का प्रचार अनुकृति के द्वारा समाज में हो जाता है। यदि सभी लोग अपनी स्वतन्त्र बुद्धि ही से काम ले, और एक दूसरे का अनुकरण न करें, तो किसी भी विशेष आविष्कार से समाज के लोग लाभ नहीं उठायेगे और समाज सदा गिरी हुई अवस्था में रहेगा तथा उसे अन्य अनुकृति-शील समाज द्वारा परास्त होकर उसकी दासता स्वीकार करनी पड़ेगी।

मनुष्य-जीवन में अनुकृति की उपयोगिता—लोग प्रायः अनुकृति की प्रवृत्ति की निन्दा किया करते हैं। इसको ग़ुलामी या दासता का भाव कहा जाता है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। यह प्रवृत्ति जीवन तथा समाज-विकास के लिए बड़ी उपयोगी है। इसी के कारण पुरानी संस्कृति की रक्षा होती है, समाज के बहुत पुराने अनुभव से वर्तमान काल के लोग लाभ उठाते है तथा नये-नये विचारो का प्रचार भी इसी प्रवृत्ति के ही कारण होता है। अनुकरण और आविष्कार मनुष्य-समाज के चलने के लिए दो पैरो के समान हैं। समाज की रक्षा और उन्नति के लिए दोनों आवश्यक है। आविष्कार के बिना अनुकृति की प्रवृत्ति मनुष्यो को जड़ता की ओर ले जाती है। ऐसी दशा मे समाज सदा पुरानी रूढ़ियो में फँसा रहता है, उन्नतिशील नहीं हो सकता। इसी तरह जिस समाज मे अनुकृति की प्रवृत्ति कम है, वह शिथिल हो जाता है। आविष्कार की बुद्धि जब सभी मे रहती है, तब दूसरों के आविष्कारो का लाभ उठाने की चेष्टा कोई भी नहीं करता।

उन्नत समाज में सहज अनुकरण का कार्य्य कम रहता है और विचार-पूर्ण अनुकरण का अधिक। समाज के लोग उस नेता

के नेतृत्व को मानने लगते हैं, जिसमें विशेष बुद्धि, बल, त्याग तथा सेवा-भाव देखते हैं। उसके विचारों का प्रचार देश में तुरन्त हो जाता है। जर्मनी मे आज से दस वर्ष पहले साम्यवाद का ज़ोर था, हिटलर, जो कि इसका विरोधी था, क़ैद मे रक्खा गया था; किन्तु उसके विचारो का प्रचार होता रहा और कुछ दिन बाद देश के प्रमुख नेताओ ने उसके त्याग, देश-प्रेम तथा बुद्धि-बल की प्रशंसा की, फलस्वरूप सम्पूर्ण देश उसका अनुयायी हो गया।

अनुकृति और बाल-मनोविकास—बालक सदा अपने से वड़ो का अनुकरण करता है। वे लोग जैसे-जैसे काम करते है वैसे ही वह भी करने लगता है, अतः हमे अपने कार्यों मे सदा सचेत रहना चाहिये। शव्दो का उच्चारण, लिखना-पढ़ना तथा व्यायाम आदि को बालक अनुकरण से ही सीखता है। इसी प्रकार उसकी अनेक प्रकार की लोक-व्यवहार की आदतें दूसरो को देखकर ही पड़ती है। जिस घर के प्रौढ़ावस्था के लोगो की आदतें अच्छी और नैतिक रहती हैं, उस घर के बालको की भी आदतें सुन्दर होती हैं। सत्य वोलना, समय पर काम करना, सफाई रखना, ये सव आदते वालको मे अनुकरण से ही पड़ती हैं। बीड़ी पीना, दूसरो को धोखा देना आदि को लड़के प्रायः माता-पिता के अनुकरण से ही सीखते है। इसी प्रकार बालको मे शिक्षक के अवगुण आ जाते है। वुरी आदतो का पड़ना वड़ा सरल होता है, पर भली आदतो के पड़ने मे देर लगती है; क्योकि वुरी आदतें इन्द्रियों को झूठा सुख देती है और भली आदतो मे मन को रोकना पड़ता है। जव बालको से कोई वादा किया जाय तो उसे अवश्य पूरा करना चाहिये। ऐसा न करने से वालको को झूठ वोलने का उदाहरण मिलता है।

अनुकृति और शिक्षा—छोटे-छोटे वालको को पढ़ाने-लिखाने के लिए उनकी सहज अनुकृति से काम लिया जा सकता है। उनके आस-पास ऐसा वातावरण वनाया जाय कि हम जिस काम को करना चाहते हैं उसे वे अपने आप करने लगे। यदि

बालक को किसी विषय में ज़बर्दस्ती ध्यान लगाना पड़ता है तो वह जल्दी थक जाता है। यदि उसकी सहज अनुकृति से काम लिया जाय तो वह काम रुचि के साथ करेगा और उसे थकावट भी न होगी।

शिक्षक से सीखने की अपेक्षा बालक दूसरे बालकों से अधिक सीखता है। कक्षा के सभी बालक होशियार बालक की नकल करने की चेष्टा करते है तथा एक दूसरे की नक़ल करके भी वे बहुत सी बातें सीखते है। इसलिए शिक्षक को चाहिये कि कक्षा के सबसे अच्छे बालक को ठीक ठीक शिक्षा दे, उसको सदा अनुशासन मे रक्खे। जो बात एक बालक को सिखाई जाती है, वह दूसरो मे शीघ्र फैल जाती है। अतएव योग्य बालक को प्रोत्साहन देते रहना चाहिये।

बड़ों का अनुकरण सदा छोटे करते है। बड़े लोग छोटे से अधिक बलवान् होते है, यह बल चाहे शारीरिक हो चाहे आर्थिक, बौद्धिक हो अथवा आध्यात्मिक। बालक से शिक्षक सभी प्रकार से बली होता है। इसी से बालक उसी का अनुकरण सहज ही करने लगता है। युवकों को अनुकरण मे बुद्धि तथा आध्यात्मिक बल की प्रधानता का ही विचार प्राय: रहता है। अतएव ऊँचे वर्गों के शिक्षको में विद्या एव बल इतना होना चाहिये कि विद्यार्थियों को उस बल की थाह ही न मिले तथा उनका चरित्र भी आक्षेप के परे हो। विद्यार्थी लोग जब शिक्षक के चरित्र को शङ्का की दृष्टि से देखने लगते है, तब उन पर से शिक्षक का प्रभाव जाता रहता है। वे उसका अनुकरण नहीं करते। ऐसी दशा में प्रतिकूल अनुकरण की प्रवृत्ति जाग्रत् हो जाती है। शिक्षक जो कुछ करता है उसका उल्टा उसके विद्यार्थी करने लगते हैं।

अनुकृति का प्रवाह—अनुकरण के दो नियम ध्यान में रखने योग्य है। पहला नियम यह है कि अनुकरण का कार्य भीतर से बाहर की ओर होता है अर्थात् पहले मनुष्यो के विचारो मे परिवर्तन होता है फिर तदनुसार उनके कार्य्य होते है। अनुकरण केवल निर्देश मात्र नहीं है। निर्देश मे विचार का ही कार्य

रहता है, पर अनुकरण मे ये विचार शारीरिक क्रियाओ के रूप मे प्रकाशित होते है तथा अनेक प्रकार की नई संस्थाएँ बनकर समाज में स्थायी रूप से स्थित हो जाती हैं।

उदाहरणार्थ सेवा-समिति को ही लीजिए। यह संस्था मनुष्यो के विचारो के परिवर्तन का प्रतिफल है। पहले देश मे कुछ लोगो के विचार फैले। फिर वे लोग विचारो के समान अपना अपना आचरण बनाने लगे। कुछ दिनो बाद यह अनुकरण का कार्य्य एक सस्था के रूप मे प्रकाशित हो गया। अतएव अनुकरण करवाने के लिए यह आवश्यक है कि अनुकरण करने-वालो के विचारो को अपने वश मे किया जाय। विचार जब प्रतिकूल हो जाते है तब फिर विपरीत अनुकरण का उदय हो जाता है और उसके परिणाम-स्वरूप अनुकरण का सभी कार्य नष्ट हो जाता है। कोई भी देश का नेता पहले मनुष्यो के हृदय मे स्थान पाता है, फिर जनसाधारण उसका अनुकरण अपनी वेष-भूषा, रहन-सहन तथा सामाजिक कार्यों मे करने लगते है।

दूसरा नियम यह है कि अनुकरण की गति बड़ी तीव्र होती है, अर्थात् अनुकरणीय वस्तु का प्रचार दिन दूना, रात चौगुना होता है। भारतवर्ष मे और बाहर भी बौद्ध धर्म का प्रचार इसी भाँति हुआ। मनुष्य यदि किसी देश मे दृढ़ता से अपने सिद्धान्तो पर डटा रहे तो थोड़े ही दिनो मे उसके अनुकरण करनेवाले हजारो हो जाते है। इसी तरह दुनियाँ मे परिवर्तन होते रहते है। मैजिनी ने अपने जीवन-काल मे ही सारे देश मे अपने विचारो को फैला दिया और उसकी काया-पलट कर दी। इसी प्रकार लोकमान्य तिलक ने नव-जीवन का प्रवाह कर दिया। अनुकृत बातो का फैलना उसके जन्मदाता के व्यक्तित्व पर निर्भर रहता है। यदि किसी नये भाव के जन्मदाता मे बुद्धिबल और आध्यात्मिक शक्ति है, तो उस भाव का प्रचार समाज मे शीघ्र हो जायगा। स्वर्गीय स्वामी दयानन्द अकेले थे। अकेले ही उन्होने अपने विचारो का प्रचार प्रारम्भ किया, और उनके जीवनकाल मे ही उनके हजारो अनुयायी हो गये थे। यह अनुकृति की संक्रामकता को प्रदर्शित करता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है उसी का अनुकरण और-और लोग भी करते है। श्रेष्ठ व्यक्ति जिसे उत्तम समझ कर करता है उसी को दूसरे लोग भी उत्तम समझते है।

इस प्रकार सारे समाज में दृढ़ निश्चयवाले व्यक्ति के विचारों का प्रचार होता है। जो लोग नये विचारो का प्रचार होने देना नहीं चाहते वे शुरू ही में उसका दमन करते है। पर जब वह अनेक व्यक्तियों में फैल जाता है, तब उसका दमन करना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसर पर विपरीत अनुकरण की शक्ति को काम में लाना पड़ता है, जिससे नये भाव का नाश हो जाय।

स्कूल के नियमो की पाबन्दी होने के लिए यह आवश्यक है कि बालकों को ऐसा उदाहरण न मिले कि कोई दुराचारी, लम्पट बालक अध्यापकों के अनुशासन में नहीं आता, नहीं तो उसका अनुकरण करके सब बालको में दुराचार फैल जायगा। नियम की अवहेलना की रोक-थाम का उचित उपाय तुरन्त करना चाहिये जिससे फिर ऐसा न हो। बालको के सामने सदाचार का आदर्श रखना चाहिये, ताकि दुराचारी बालक का अनुकरण अन्य विद्यार्थी न करें। अच्छे बालक की ख़ूब प्रशंसा करनी चाहिये। उसका उदाहरण देखकर दूसरे बालक अपना आचरण सुधार लेते है।

जिस व्यक्ति के प्रति बालकों के विचार श्रद्धा के होते हैं, उसका अनुकरण वे सरलता से करने लगते हैं। अतएव शिक्षक सदा ऐसा कार्य करे जिससे वह बालको की श्रद्धा और प्रेम का पात्र बना रहे। शिक्षक और अभिभावक गण अनेक भली आदते बालकों मे, उनकी अनुकृति की प्रवृत्ति से काम लेकर, डाल सकते हैं। अतएव उन्हें बालक के जीवन को सुधारने के लिए इस प्रवृत्ति का उपयोग सचेत होकर करना चाहिये।

स्पर्धा[1]

स्पर्धा का स्वरूप—स्पर्धा वह मानसिक प्रवृत्ति है जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे से अपने आपको अच्छा बनाना चाहता है। जब एक बालक दूसरे बालक से पढ़ाई में आगे बढ़ना चाहता है तो वह स्पर्धा का प्रदर्शन करता है। इसी तरह जब एक खिलाड़ी बालक दूसरे खिलाड़ी बालक से खेल में आगे बढ़ना चाहता है तब वह स्पर्धा की प्रवृत्ति से प्रेरित होता है। हम स्पर्धा को बालकों के प्रायः प्रत्येक कार्य में देखते हैं। जहाँ पर हम विचार करते हैं कि स्पर्धा अनुपस्थित है वहाँ भी स्पर्धा की प्रवृत्ति रहती है।

स्पर्धा मे दो प्रवृत्तियाँ सम्मिश्रित रहती हैं—एक अनुकृति और दूसरी द्वन्द्व-प्रवृत्ति। जब अनुकृति के साथ द्वन्द्व-प्रवृत्ति कम मात्रा में रहती है, तो मिश्रितप्रवृत्ति का नाम 'स्पर्धा' कहलाता है, किन्तु जब द्वन्द्व-प्रवृत्ति की मात्रा अधिक हो जाती है तो 'स्पर्धा' ईर्ष्या और डाह के रूप मे परिणत हो जाती है। जो बालक अपने सहपाठी से स्पर्धा करता है वह अपना कल्याण चाहता है किन्तु अपने सहपाठी का अकल्याण नहीं चाहता। जब किसी बालक के मन में अपने साथी बालक से आगे बढ़ने के हेतु उसके प्रति दुर्भाव आने लगते है तो हम इस प्रकार की प्रवृत्ति को ईर्ष्या कहते है। ईर्ष्या एक अवाञ्छनीय मानसिक प्रवृत्ति है। इसके कारण ईर्ष्या करनेवाले बालक और ईर्ष्या किये जाये बालक दोनो की हानि होती है।

स्पर्धा का बाल-मनोविकास मे उपयोग—जिस प्रकार अनुकरण से बाल-मनोविकास मे बड़ी सहायता मिलती है उसी प्रकार स्पर्धा से भी सहायता मिलती है। बालक जब दूसरे बालको को उन्नति करते देखता है तो उसकी स्पर्धा की प्रवृत्ति जाग्रत होती है जिसके कारण वह स्वयं भी उन्नति करना चाहता है। शिक्षकगण देखेंगे कि बालक जितना अपने सहपाठियो के साथ रहकर पढ़ सकता है उतना

---

1 Emulation.

अकेला नहीं पढ़ सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने काम का माप रखना चाहता है। जब वह इस माप के द्वारा देखता है कि मैं उन्नति कर रहा हूँ तब उसे आत्मोत्साह होता है। इस आत्मोत्साह के कारण वह दिन-प्रतिदिन उन्नति करता चला जाता है। दूसरों की उन्नति प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी उन्नति का माप बन जाती है। इस तरह वह अपना कार्य उत्साह के साथ करता रहता है। कक्षा के बालक इस तरह एक दूसरे को देख-कर दिन-प्रतिदिन सीखने के कार्य करते रहते हैं।

शिक्षकों को चाहिये कि बालकों की स्पर्धा की प्रवृत्ति से उनके शिक्षा-कार्य में काम लें। जो बालक किसी विशेष प्रकार का कार्य कर दिखाये, उसकी प्रशंसा दूसरे बालकों के समक्ष करना अनुचित नहीं। इस प्रकार प्रशंसित होने से पहले बालक का उत्साह बढ़ेगा और दूसरे बालकों में स्पर्धा की प्रवृत्ति उत्तेजित होगी। इस प्रकार वे भी उन्नति करने की चेष्टा करेंगे।

किन्तु शिक्षक को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बालकों की स्पर्धा-प्रवृत्ति को प्रतिक्षण उत्तेजित न किया जाय। जब स्पर्धा को बार-बार उत्तेजित किया जाता है तब वह ईर्ष्या का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार कक्षा का वातावरण दूषित हो जाने की आशङ्का है।

आत्म-स्पर्धा[1]—बालकों में दूसरे के प्रति स्पर्धा करने की अपेक्षा आत्म-स्पर्धा की प्रवृत्ति को बढ़ाना अधिक अच्छा है। आत्म-स्पर्धा में व्यक्ति सदा अपने वर्तमान और अतीत के कार्यों की तुलना किया करता है और सदा यह चेष्टा करता है कि मैं प्रतिदिन पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा बनूँ। जिस व्यक्ति में आत्म-स्पर्धा का भाव है उसमें दूसरों के प्रति ईर्ष्या पैदा होने की आशङ्का ही नहीं। ऐसे व्यक्ति में आत्म-निरीक्षण की शक्ति हो जाती है जो कि उसके चरित्र-गठन तथा जीवन को सफल बनाने में बहुत सहायक होती है।

सामूहिक-स्पर्धा[2]—सामूहिक स्पर्धा दो समूहों के बीच होती है। जब बालकों के समूहों में इस प्रकार की स्पर्धा होती है, तो

---

1 Self emulation 2. Group-emulation.

वालक अपनी स्वार्थ-वुद्धि छोड़कर समूह के लिए अनेक प्रकार के त्याग करने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार की स्पर्धा से बालक के नैतिक जीवन का विशेष प्रकार से विकास होता है। बालक समाज मे रहना सीखता है और समाज का एक प्रिय व्यक्ति वन जाता है। वालक मे सामाजिक भावनाएँ दृढ़ करने के लिए और उसकी स्वार्थ-वुद्धि को नियमित रखने के लिए समय-समय पर सामाजिक स्पर्धा को उत्तेजित करना आवश्यक है। हाकी, फुटबाल, कवड्डी इत्यादि खेलों से सामाजिक स्पर्धा उत्तेजित होती है और बालक अपने आप को समाज के हितार्थ अर्पण करना सीखता है। स्पर्धा की प्रवृत्ति व्यक्ति के विचार-वल को वढ़ाती है। यह प्रवृत्ति निर्वल को सवल, चरित्र-हीन को चरित्रवान और अवनत को उन्नत वनाती है।

निर्देश

निर्देश का स्वरूप—विचारो में दूसरों के अनुकरण करने की क्रिया को निर्देश कहते है। जव एक व्यक्ति दूसरे के विचारो का अनजाने अनुगामी वन जाता है तो हम पहले व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से निर्देशित समझते हैं। यहाँ इस वात को ध्यान मे रखना आवश्यक है कि निर्देशित व्यक्ति जान-बूझकर अथवा इच्छित पदार्थ पाने के लिए दूसरे के विचारो को ग्रहण नहीं करता, प्रत्युत ये विचार या तो उस व्यक्ति के प्रभाव के कारण अथवा निर्देशित व्यक्ति की मानसिक निर्वलता के कारण सरलता से उसके मन मे स्थान पा लेते हैं। वास्तव मे यदि किसी निर्देशित व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाय कि मै निर्देश से प्रभावित किया जा रहा हूँ तो उसके ऊपर निर्देश का प्रभाव ही न पड़ेगा।

इस क्रिया के प्रभाव को हम भली भाँति इन्द्रजाल और सम्मोहन[1] में देखते हैं। सम्मोहन की अवस्था मे प्रभावित व्यक्ति को जो कुछ सुझाया जाता है उसी को वह बिना सोचे

1 Hypnosis

समझे सही मान लेता है। यदि साधारण पानी, यह कहकर दे दिया जाय कि यह शरबत है तो निर्देश से प्रभावित व्यक्ति उसे शरबत ही मान लेगा और पीते समय उस पानी मे उसे शरबत जैसा स्वाद मिलने लगेगा। यदि उसी पानी को कुनैन का पानी कह दिया जाय तो वह तुरन्त ही उसे कड़वा लगने लगेगा। सम्मोहन की अवस्था मे व्यक्ति का मन इतना निर्बल हो जाता है कि निर्देष्टा उसे जो कुछ निर्देश देता है उसे वह तुरन्त ग्रहण कर लेता है।

इस प्रकार का निर्देश मन की असाधारण अवस्था मे ही चलता है। किन्तु मन की साधारण अवस्था में भी निर्देश का कार्य देखा जाता है। हम सभी लोग थोड़ा बहुत दूसरो के विचारो से प्रभावित होते है। ये विचार हमारे अनजाने हमारे मन में प्रवेश कर लेते हैं और उन विचारो के अनुसार हम अपने कार्य करते है। बालक के जीवन मे निर्देश का महत्त्व का स्थान है अतएव हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि निर्देश ग्रहण करने के कौन से कारण है, उसके क्या क्या प्रकार हैं तथा बाल-मनोविकास मे उसकी कौन सी उपयोगिता है।

निर्देशित होने की स्थिति—निर्देश का प्रभाव बालक की अवस्था, बुद्धि और चरित्र-बल पर निर्भर रहता है। छोटी अवस्था का बालक बड़ी अवस्था के बालक से प्रभावित होता है; कम बुद्धिवाला बालक अधिक बुद्धिवाले से। इसी तरह कमज़ोर मन-वाला बलवान् मनवाले से प्रभावित होता है। निर्देश की प्रक्रिया चलने के लिए यह आवश्यक है कि निर्देशित व्यक्ति का मान-सिक बल निर्देष्टा से कम हो। जब ऐसा नहीं होता तो निर्देश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ज्यों ज्यो बालक का मन बलवान् होता है, वह दूसरो के निर्देशों से प्रभावित नहीं होता।

निर्देश का प्रभाव संख्या पर भी निर्भर रहता है। जिस विचार से एक व्यक्ति एक पूरे समूह को प्रभावित देखता है उससे वह स्वयं भी प्रभावित हो जाता है। किसी जन-समुदाय में प्रवेश करने से प्रत्येक व्यक्ति का मानसिक बल कम हो जाता है। ऐसी अवस्था मे निर्देशित होना स्वाभाविक है।

निर्देश के प्रकार—मनोवैज्ञानिको ने निर्देश को तीन प्रकार का बताया है—व्यक्ति-निर्देश[1], समूह-निर्देश[2] और आत्म-निर्देश[3] । प्रत्येक प्रकार के निर्देश मे, निर्देश से प्रभावित व्यक्ति, निर्देश देनेवाले के समान अपने विचार अपनी अनिच्छा से बनाता है।

व्यक्ति-निर्देश—निर्देश देनेवाले की प्रतिष्ठा पर व्यक्ति-निर्देश निर्भर रहता है। जिस व्यक्ति के ऊपर बालको की श्रद्धा है, उसके विचारो का अनुकरण वे सरलता से करते है। वह उनके मन मे जैसे विचारो का प्रवेश करना चाहता है, कर सकता है। किसी भी व्यक्ति की प्रतिष्ठा उसकी आयु, बुद्धि-बल एवं चरित्र-बल पर निर्भर रहती है। शिक्षकगण बालक से सभी बातों मे बड़े रहते है अतएव उनका प्रभाव बालक के मन पर सरलता से पड़ता रहता है । बालको के कल्याण के लिए शिक्षक अपनी प्रतिष्ठा को न खोवे। जो शिक्षक या अभिभावक चरित्रहीन अथवा अपरिश्रमी होता है उसके ऊपर से बालक की श्रद्धा उठ जाती है, फिर वह बालको में कोई सुधार नहीं कर पाता। जो कुछ वह कहता है उसके प्रतिकूल चलने की ही प्रवृत्ति बालक मे उत्तेजित होती है। इस प्रकार के निर्देश को प्रतिनिर्देश कहते हैं। बालक का प्रतिनिर्देश द्वारा प्रभावित होना न तो उसके लिए कल्याणकारी है न शिक्षक या अभिभावक के लिए। बालको को इस प्रकार की प्रवृत्ति से बचाना चाहिये।

समूह-निर्देश—बालक जब अधिक सख्या मे इकट्ठा होते हैं, तब प्रत्येक बालक सख्या से प्रभावित होने लगता है। एक बालक अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से सोचने पर जिस बात को भला नहीं मानता उसी को जब वह समूह मे रहता है, भला मानने लगता है। हम संख्या के प्रभाव से बालक को नियमितता का अभ्यास करा सकते हैं। जब कक्षा के सभी बालक नियम का पालन और बड़ो का आदर करते है तो नया बालक भी उन्हीं के समान आचारण करने लगता है। शिक्षको को

---

1 Prestige suggestion 2 Mass suggestion
3. Anto-suggestion

चाहिये कि स्कूल मे नियमितता का वातावरण रक्खें, फिर वालको को दण्ड देने का अवसर वहुत कम पड़ेगा।

सामूहिक निर्देश से वालको मे देश-भक्ति, ग़रीवो की सेवा तथा दूसरे भले विचारो का प्रचार किया जा सकता है। जिस शिक्षालय का कोई विशेष उद्देश होता है उसमें प्रवेश करते ही प्रत्येक वालक का अनजाने वही उद्देश वन जाता है।

आत्मनिर्देश—अपने विचारों से स्वयं प्रभावित होना आत्म-निर्देश का कार्य है। यदि कोई वालक किसी वस्तु से अकारण ही एक वार डर गया है तो वह उससे वार वार डरने लगता है। वालक के मन मे जव कोई विचार दृढ़ता से वैठ जाता है, तो वही वार वार सूझता रहता है। वास्तव में किसी व्यक्ति को दूसरो के निर्देश तव तक प्रभावित नहीं करते जव तक कि वे आत्म-निर्देश नहीं वन जाते। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति सदा अपने विचारो से ही सुखी और त्रस्त होता है। यदि हम वालक के मन को दृढ़ वनावें तो वह दूसरो के बुरे विचारो को अपने मन मे स्थान न देगा। इस प्रकार उसका जीवन सुखी रहेगा।

शारीरिक अस्वस्थता अथवा मन की छिपी ग्रन्थियाँ वालक के मन मे अवाञ्छनीय विचार लाती हैं। इन विचारो से वालक को बचाना अत्यावश्यक है। वालक के विचारो को बुरे परिणामो मे परिणत न होने देने के लिए उसको सदा सुन्दर वातावरण मे रखना तथा सदा काम में लगाये रहना चाहिये।

सहानुभूति

का है। सहानुभूति सामाजिक जीवन के लिए परमावश्यक है। इसी के कारण हम दूसरो के समान तथा उनको प्रिय लगनेवाले व्यवहार करते है। सहानुभूति के कारण समाज में अनेक सद्गुणों का प्रचार होता है। जब कोई संवेग समाज के किसी व्यक्ति को उद्विग्न कर देता है तो उससे दूसरे व्यक्ति भी उद्विग्न हो जाते है। इस प्रकार समाज की अनेक बार रक्षा होती है। कभी-कभी इससे हानि भी होती है। यदि मूर्खता से कोई संवेग किसी व्यक्ति को प्रभावित कर दे और दूसरो को भी सहानुभूति के कारण प्रभावित करे तो इससे पूरे समाज की क्षति होने की सम्भावना रहती है। लड़ाई के समय भय के कारण यदि कोई सिपाही भागने लगता है तो उसका भय दूसरो को भी प्रभावित करता है और कभी-कभी पूरी सेना भाग खड़ी होती है। इससे उसका पराजय सरलता से हो जाता है।

वाल-मनोविकास मे सहानुभूति की उपयोगिता—सहानुभूति द्वारा वालको में सामाजिक सद्गुणों का प्रचार किया जा सकता है। यदि किसी दुर्गुणी वालक को अच्छे वातावरण मे रख दिया जाय तो उसके दुर्गुण अपने आप हट जायँगे। सहानुभूति द्वारा वालक को देशसेवक और समाजसेवी वनाया जा सकता है। कितने ही समाज-वैज्ञानिको का कथन है कि मनुष्य मे नैतिकता का आधार सहानुभूति की ही प्रवृत्ति है। वालक के मन मे नैतिकता का विकास सहानुभूति को उत्तेजित करके किया जा सकता है।

पाठकों को चाहिये कि वालको को समूह मे एकत्र होने की सुविधाएँ दें। कक्षा मे इकट्ठे होने के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर वालको को इकट्ठा करना चाहिये। ऐसी अवस्था मे उनको सहानुभूति की प्रवृत्ति की सहायता से उनमे सद्गुणों का वीजारोपण करना चाहिये।

सातवाँ प्रकरण

खेल

खेल का स्वरूप

खेल एक स्फूर्तिमय क्रिया है। खेल का लक्ष्य उस काम को छोड़कर और कुछ नहीं होता। खेल का प्राण स्वतन्त्रता है। जब कोई काम बाध्य होकर किया जाता है तो वह खेल नहीं कहा जा सकता। एक ही काम एक व्यक्ति के लिए 'काम' और दूसरे के लिए 'खेल' हो सकता है। बागीचे में जो मजदूर काम करता है वह उस काम को खेल नहीं समझता, वरन् मजदूरी समझता है। लेकिन जब बागीचे का मालिक माली का काम अपनी रुचि से करता है तो वह उसके लिए खेल है।

स्टर्न महाशय के कथनानुसार खेल एक स्वतन्त्र और स्वलक्ष्य कार्य है। खेल में नियम अवश्य होते हैं, किन्तु उन नियमों का पालन स्वेच्छा से किया जाता है। किसी खेल में बालक स्वेच्छा से ही शामिल होता है तथा खेल के आनन्द के लिए उसके नियमों का पालन करता है। स्वतन्त्रता का अर्थ कुछ यह नहीं कि खेल के नियमों को ही न माने। बिना नियमों के पालन के सामूहिक खेल नहीं खेला जा सकता। अतएव स्वतन्त्रता का अर्थ यहाँ नियमितता का पूर्ण अभाव नहीं। ऐसी स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता कही भी तो नहीं जा सकती।

एक प्रकार से देखा जाय तो बालक बाध्य होकर ही खेल खेलता है। प्रकृति जिस तरह बालक को खाये बिना रहने नहीं देती, उसी प्रकार उसे खेले बिना भी नहीं रहने देती। पर इस प्रकार की बाध्यता परतन्त्रता नहीं कही जा सकती। यह तो स्वभाव-जन्य बाध्यता है, अतएव इसे स्वतन्त्रता ही कहना चाहिये। खेलने से बालक के जीवन का विकास होता है। इन खेलों द्वारा प्रकृति बालक के भविष्य जीवन की तैयारियाँ करवाती है।

खेल के सिद्धान्त

प्रवृद्ध शक्ति-व्यय[1]—मनोवैज्ञानिको ने खेल के विषय में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त स्थिर किये है। हर्वर्ट स्पेन्सर के कथनानुसार अनेक खेलो के कारण प्राणी की जीवनी-शक्ति का आवश्यकता से अधिक सचय होता है। बालक इस शक्ति को खेल से खर्च करता है। खेल एक प्रकार की इस बढ़ी हुई शक्ति के लिए सेफ्टीवाल्व का काम करता है। जब इञ्जन मे भाप अधिक बढ़ जाती है तो उसको निकालने के लिए सेफ्टीवाल्व खोल दिया जाता है। इसी प्रकार बालक अपनी अतिरिक्त संचित शक्ति को खेलो द्वारा बाहर निकाल देता है।

स्पेन्सर साहब का उपर्युक्त कथन एकाङ्गी है। बालक खेल के द्वारा अपनी संचित शक्ति को अवश्य खर्च करता है किन्तु यह शक्ति का खर्च व्यर्थ नहीं होता। इससे बालक के अवयव सुदृढ़ होते हैं, उसका अनुभव बढ़ता है और मन विकसित होता है। अतएव खेल की क्रिया की उपमा सेफ्टीवाल्व द्वारा इञ्जन के भाप छोड़ने से देना भ्रमात्मक है। इस भाप को छोड़ देने से इञ्जन को कोई लाभ नही होता, किन्तु बालक को खेल खेलने से अवश्य लाभ होता है।

भावी जीवन की तैयारी[2]—खेल का मनोविकास मे क्या स्थान है और बालक के जीवन मे उसकी क्या मौलिकता है ? इस बात की ओर कार्ल ग्रूस ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

कार्ल ग्रूस का सिद्धान्त है कि बालक अपने खेलो द्वारा प्रौढ़ावस्था के कामो की तैयारी करता है। छोटी लड़कियाँ गुडियो से खेलती हैं, उनके लिए खाना पकाती हैं, कपडे सीती है, उनके विवाह कर विदा करती है। लड़के हल जोतते है, खेती-बारी का खेल खेलते हैं। एक तरह से खेल द्वारा बालक अपने जीवन-संग्राम की तैयारी करता है। खेलने से बालक का शरीर गठित होता है और वह ससार के विषय

---

1 Surplus Energy Theory 2 Anticipatory Theory

में अनेक बातें सीख जाता है। बालक जो कुछ देखता है, उसे कार्य-रूप में करने लग जाता है। यही उसका खेल है। एक छोटी बालिका अपनी माँ को रोटी पकाते देखती है, तो वही काम करने लग जाती है। बालक पिता को पढ़ते देखता है तो वह किताब खोलकर बैठ जाता है और पढ़ने का खेल खेलने लगता है। लड़के साहूकार और चोर का, डाक्टर और सिपाही आदि का खेल खेलते हैं। ये खेल उन्हे भावी जीवन की ज़िम्मेदारियाँ सँभालने के लिए तैयार करते है।

उपर्युक्त कथन से यह तो निश्चित है कि खेल के द्वारा बालक की अनेक प्रकार की भलाइयाँ होती है। खेल से उसका जीवन उत्तरोत्तर विकसित होता है। वह अनेक समाजोपयोगी बाते सीख जाता है और उसके जीवनोपयोगी व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि होती है।

खेलों के भेद

भेद के कारण—वातावरण और बालक के स्वभाव के अनुसार खेलों के अनेक भेद होते है। ग्रामीण बालक गाँव के खेल खेलते हैं और नगर के बालक नगर के। जो बालक सिपाही, डाक्टर और न्यायाधीश को देखता है वह सिपाही, डाक्टर तथा न्यायाधीश का खेल खेलता है और जो लुहार, बढ़ई और किसान को देखता है वह उनके कामो के खेल खेलता है। जो बालक जिस प्रकार के वातावरण में रहता है, वह उसी प्रकार के खेल खेलता है। बालक जो कुछ सुनता अथवा देखता है वही उसके खेल की सामग्री वन जाती है। शिक्षक के पास रहनेवाला बालक शिक्षा के और सिपाही के पास रहनेवाला बालक सिपाही के खेल खेलेगा।

बालक का मानसिक गठन, स्फूर्ति और रुचि भी खेल के स्वरूप को निश्चित करते है। वातावरण मे बालक के सामने खेल की अनेक प्रकार की सामग्री रहती है किन्तु बालक उन्हीं वातो से आकर्षित होते हैं, जो उनके मानसिक गठन या रुचि के अनुसार होती हैं। एक ही वातावरण के होते हुए भी भिन्न भिन्न रुचि के वालको के खेल भिन्न भिन्न होते हैं। बालको की आयु और लिङ्ग-भेद पर उनकी रुचि उतनी ही निर्भर रहती है जितनी कि वातावरण पर।

खेलों में वालक की अवस्था के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। जो खेल तीन वर्ष का वालक वड़ी रुचि से खेलता है उसी को जब वह पाँच वर्ष का हो जाता है तव पसन्द नहीं करता। वालक के प्रारम्भिक खेल वैयक्तिक होते है। उसके वादवाले खेल सामाजिक होते हैं। छोटी अवस्था के सामाजिक खेल अनुकरणात्मक[1] होते है और वड़ी अवस्था के खेल स्फूर्त्यात्मक[2] होते है।

इसी तरह लिङ्ग-भेद के अनुसार खेलों मे भेद होते हैं। गुड़िया और रोटी वनाने का खेल लड़की को अधिक पसन्द आता है किन्तु लड़का इस खेल को पसन्द नहीं करता। सिपाही का खेल कोई विरली ही लड़की खेलती पाई जाती होगी। पर प्रत्येक लड़के को सिपाही के खेल मे आनन्द आता है। वास्तव मे जीवन-विकास के तथा भावी आवश्यकताओ के अनुसार वालक की रुचि में प्रकृति भेद पैदा कर देती है। वालक के किसी विशेष प्रकार के खेल की रुचि उसके भावी जीवन की ज़िम्मेदारियों का प्रदर्शन मात्र है।

खेलों के प्रकार—प्रोफेसर कार्ल ग्रूस महाशय ने खेलो के ५ भेद वतलाये हैं—(१) परीक्षणात्मक,[3] (२) दौड़-धूपवाले,[4] (३) रचनात्मक,[5] (४) लड़ने-झगड़ने-वाले[6] और (५) मानसिक खेल[7]।

परीक्षणात्मक खेल वे हैं, जिनमें वालक रक्खी हुई चीज़ो के उलटने-पलटने में लगा रहता है। वह सामने पड़े हुए पदार्थों को हाथ मे लेता है, हिलाता-डुलाता है, पर कुछ समय मे वह इन पदार्थों के रूप-रंग मे परिवर्तन करने को प्रस्तुत हो जाता है। वह उन्हे तोड़ने-फोड़ने लगता है।

पहले पहल तो वालक अपने शरीर को ही खिलौना वना लेता है। जिस प्रकार शरीर से खेलकर वह शरीर पर प्रभुत्व जमाना चाहता है, उसी प्रकार वह पदार्थो से खेलकर उनकी परीक्षा करता है तथा उन पर प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करता है। इनमे कोई उद्देश्य नहीं होता। पर इन खेलो से वालक को अपनी शक्तियो

---

1 Imitative Play
2 Inventive Play
3 Experimental Play
4 Movement Play
5. Constructive Play
6 Fighting Play
7 Intellectual Play

ज्ञान हो जाता है और उसकी इन्द्रियाँ संसार के अनेक
ार्थों को पहचानने मे कुशल हो जाती है।

दौड़-धूपवाले खेल बालकों के एक दूसरे को दौड़ाने, ऊपर-
चे आने-जाने, छिपने आदि में पाये जाते है। ऐसे खेल सामूहिक
ते हैं। कुछ लड़के आपस मे मिलकर दौड़ते है, कुछ उन्हें
ड़ने की कोशिश करते है। इन खेलों के द्वारा बालक का शरीर
ाठित होता है तथा शरीर के भिन्न भिन्न अङ्ग बलवान् होते है।

रचनात्मक खेलो में बालक अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाता
। ग्रामीण बालक गाय, बैल, घर, चिड़िया आदि बनाते
। शहर के बालक मेकोनो के साथ खेलते है। रचनात्मक खेल में
ड़के लड़कियो से आगे बढ़े होते हैं। लड़कियों मे जिस प्रकार
ानुकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है उसी प्रकार लड़कों में
ाविष्कार की प्रवृत्ति अधिक होती है। बालक की पहली रचनाएँ
ड़ों का अनुकरण मात्र होती है। पीछे वह स्वयं आविष्कार
रने लगता है। अतएव प्रौढ़ व्यक्तियो को चाहिये कि बालकों
ा अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाकर दिखलावें। इस प्रकार वे
ालक की रचनात्मक-कल्पना के विकास मे सहायता करेगे। बालक
रचनात्मक खेल उसे अनेक कार्यों के करने में दक्ष कर देते हैं।
ूल के बालकों को ऐसे अनेक काम देना चाहिये जिसमें उनकी
चनात्मक खेलो की प्रवृत्ति से काम लिया जा सके।

लड़ने-झगड़ने की प्रवृत्तिवाले खेल है कबड्डी, हाकी आदि जिनमें
ड़ने-झगड़ने की प्रवृत्ति निहित है। ऐसे खेलो से बालक के मन
अनेक प्रकार के गुणो का विकास होता है। लड़ने-झगड़ने के
ल प्रायः सामूहिक होते है। ऐसे खेलो मे बालक सुसंगठित
कर नियम के अनुसार कार्य करना और अपने व्यक्तित्व को
ाकर समाज के हित के लिए कार्य करना सीखता है।

खेल एक आनन्दमयी क्रिया है। इसमें खेलनेवाले के हृदय
अनेक सुखदायक संवेग उठते है। हमारे संवेगों का एक
ियम यह है कि जो वस्तु किसी सवेग की अवस्था में हमारे
मक्ष आ जाती है उसका उस सवेग से अटूट सम्बन्ध हो जाता है।
ानन्द के समय जो व्यक्ति हमारे पास रहते हैं वे भी सुखात्मक

मन की वृत्ति से सम्बन्धित हो जाने के कारण प्रिय हो जाते है। अतएव जो बालक जितने अधिक सामूहिक खेल खेलते है, उनमे उतनी ही अधिक दूसरो की चाह रहती है। वे दूसरो को प्रसन्न करने की चेष्टा करते रहते हैं। इस प्रकार से बालको के सामूहिक मन का विकास होता है। जिस देश या जाति के लोग जितने ही अधिक सामूहिक खेल खेलते है उनमें उतनी ही सुसगठित रहने की शक्ति रहती है। बाल्य-जीवन ही खेल का जीवन है। अतएव सामूहिक जीवन व्यतीत करने तथा सुसंगठित रहने की शक्ति का विशेष विकास बचपन मे ही हो सकता है।

सामूहिक खेलो के भावी परिणाम को विचार कर बालको मे हर प्रकार के सामूहिक खेलों की वृद्धि करनी चाहिये। उन्हे इस प्रकार के खेल खेलने मे तरह तरह से प्रोत्साहन देना चाहिये।

मानसिक ,प्रयत्नवाले अथवा विचारात्मक खेल मनुष्य की विचार-शक्ति को विकसित करते हैं। शतरञ्ज, चौपड़ आदि के खेल इसी प्रकार के खेल है। नये शब्दो को बनाने एव पहेलियो के अर्थ लगाने के खेल इसी श्रेणी में आते है। इन खेलो से बालक की बुद्धि का विकास होता है।

बालकों के खिलौने

बच्चो के खिलौने कैसे हो, यह प्रश्न प्रत्येक माता-पिता के सामने आता है। बच्चो को बहुत से खिलौनो की जरूरत होती है। वह नई नई वस्तुओ की खोज मे रहता है, वह दो एक खिलौनो से सन्तुष्ट नहीं होता। वह तो सारी दुनिया को टटोलना चाहता है। उसकी दृष्टि प्रत्येक पदार्थ पर रहती है। वह चॉद को और तारो को पकड़ने के लिए हाथ ऊपर को उठाता है। बच्चो को जब खिलौने दिये जाते है तो पहले पहल वे उनको बड़े चाव से लेकर खेलते हैं, फिर दो चार रोज मे उनसे जी ऊब जाता है और उन्हे छूते तक नहीं। बच्चे नवीनता के उपासक होते हैं। अतएव उनके खिलौनो में सदा परिवर्तन करते रहना चाहिये।

एक साल के बच्चों को बजनेवाले डिब्बे और अन्य वस्तुएँ, जिन्हें वे आसानी से उठा सकें और जो खुरदरी न हों, देनी चाहिये। बजनेवाली चीज़ों को बच्चा अधिक पसन्द करता है। अतः उसे ऐसी वस्तुएँ दी जायँ जिन्हे वह आसानी से बजा सके जैसे चम्मच, कटोरी आदि। जानवरो की तस्वीरें, लकड़ी के खिलौने, नाव, गाड़ी, घुनघुने, हाथी-घोड़े—जिन्हे वे घसीट सके—दो वर्ष के बच्चे को देने चाहिये। बच्चो को ऐसे खिलौने न दे जिन्हे वे आसानी से तोड़-फोड़ दें, नहीं तो उनकी आदत तोड़ने-फोड़ने की पड़ जायगी। खिलौने काफी मज़बूत और सुन्दर हो। खिलौनो के देने में माता-पिता को चतुराई से काम लेना चाहिये। इनके द्वारा बच्चो को मौलिक शिक्षा मिलती है जो जीवन-संग्राम मे उन्हे विजयी बनाती है।

खेल और बाल-मनोविकास

बालक के मनोविकास मे खेल का स्थान बड़े महत्त्व का है। हम देखते हैं कि प्रत्येक जानवर के बच्चे खेलते है। कार्ल ग्रूस का यह कथन सत्य है कि खेल के द्वारा बालक अपने भावी जीवन के लिए मानसिक तैयारी करता रहता है। बिल्ली के बच्चे गेंद से खेलते हैं, कुत्ते के पिल्ले आपस में झूठ-मूठ लड़ने का खेल खेलते हैं। इस तरह इन प्राणियों के बच्चे अपने भावी जीवन की तैयारी करते रहते हैं। जिस प्राणी की प्रौढ़ जीवन की ज़िम्मेदारियाँ जितनी अधिक होती है, उसके खेल का समय उतना ही अधिक रहता है। मनुष्य-जीवन की ज़िम्मेदारियाँ पशुओ की अपेक्षा कहीं अधिक है, अतएव मनुष्य के खेल का काल भी अधिक होता है। खेलो के द्वारा बालक अपनी अनेक प्रकार की शक्तियो की अभिवृद्धि करता है।

बाल्यकाल खेलने का समय है। इन्हीं दिनो व्यक्ति स्वतन्त्रता के साथ उन अनेक क्रियाओ को करता है जिन्हे पीछे करना कठिन होता है। जिस बालक को जितने अधिक समय तक खेलने का अवसर मिलता है वह उतना ही अपने जीवन को सफल और समाजोपयोगी बना सकता है। बालको की खेलने की स्वतन्त्रता का अपहरण करना उनके व्यक्तित्व की क्षति करना है। जिस बालक को

खेलने का पर्याप्त अवसर नहीं मिलता, उसका न तो शरीर सुगठित होता है और न उसके मन का भली भाँति विकास होता है। बालक खेलने मे अपने शरीर के अनेक अङ्गो से काम लेता है, इस कारण वे अङ्ग पुष्ट हो जाते है। बालक की इन्द्रियाँ भी अपना अपना कार्य करने मे खेल के द्वारा निपुण हो जाती हैं।

इन्द्रियों का बल-वर्धन—बालक जब दौड़ता और कूदता-फाँदता है तब उसके पैर मजबूत होते है, फेफड़ो पर ज़ोर पड़ने से वे अपना काम भली भाँति करने लगते है। वालक का सारा शरीर स्फूर्तिमय हो जाता है। बालक जब हाथ से उठाकर गेद फेकता अथवा ऊपर से गिरती हुई गेद को पकड़ता है तो उसके हाथ बलवान् होते है। गुल्ली-डण्डा, बैडमिंटन, क्रिकेट, हाकी इत्यादि खेल खेलते समय बालक के आँख और हाथ सहयोग से काम करना सीखते हैं। स्नायुओ की वृद्धि उसी ओर होती है जिस ओर उनका अभ्यास होता है। यदि बचपन मे किसी प्रकार का कार्य नहीं किया गया तो उसे पीछे करने मे बड़ी अड़चन पड़ती है।

ज्ञान का विकास—खेल के द्वारा बालक के बाह्य ससार का ज्ञान बढ़ता है। बालक किसी खेल मे जब किसी व्यक्ति का अभिनय करता है तब उसे अपने आपको उस व्यक्ति की मानसिक परिस्थिति मे रखना पड़ता है। इसके लिए बालक को पर्याप्त सासारिक ज्ञान होना आवश्यक है तथा उसकी कल्पना-शक्ति भी प्रवीण होनी चाहिये। अतएव ऐसे खेलो से बालक के ज्ञान की वृद्धि होती है और उसको अपनी कल्पना-शक्ति के उपयोग करने का अवसर मिलता है।

चरित्र-विकास—खेल के द्वारा बालक के मन मे अनेक प्रकार के सद्‌गुणो का प्रादुर्भाव होता है। खेल को सफल बनाने के लिए अनेक सामाजिक नियमो का पालन करना पड़ता है। खेलनेवालो मे यदि नियम-पालन की शक्ति नही है, तो कोई भी खेल खेला जाना सम्भव नहीं। खेल मे प्रत्येक व्यक्ति को अनुशासन पालन करने का अभ्यास होता है। बालक खेल के द्वारा समाज मे रहना सीखता है। जो बालक दूसरो के साथ खेलना चाहता है, उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि मुझसे

कोई ऐसा काम न हो जाय जिससे और बालकों को दुःख हो। दूसरे बालकों को दुःख देनेवाला बालक समाज से बहिष्कृत किया जाता है। यों बहिष्कृत होने से बालक को वैसा ही दुःख होता है जैसा हमें अपने समाज से बहिष्कृत होने पर। आरम्भ मे बालक समाज के बहिष्कार के भय से ही सदाचारी बनता है, पीछे सदाचार की मौलिकता को पहचान लेता है। भय का स्थान अपने बन्धुओ से प्रशंसा पाने की इच्छा ले लेती है। कुछ काल के पश्चात् बालक को सदाचारी जीवन से इतना आनन्द मिलने लगता है कि वह अपने साथियों के प्रेम का पात्र बनने के लिए ही दुराचार का त्याग कर देता है, फिर सदाचार उसके स्वभाव का अङ्ग बन जाता है।

इस तरह हम देखते है कि खेल के द्वारा बालक के व्यक्तित्व का दिन प्रतिदिन विकास होता जाता है और बालक में अनेक प्रकार के नागरिकता के गुणों की वृद्धि होती है। मनुष्य के जीवन में नैतिकता या नियम-बद्धता की आदत वास्तव मे बालक के सामाजिक खेलों से ही पड़ती है। नियमितता या नैतिकता सुख को बढ़ाने का साधन है। यह बात बालक को खेल ही सिखाता है।

अनेक खेल ऐसे है जो बालक की हानिकारक प्रवृत्तियों का शोध या विलयन अथवा रेचन कर देते है। चोर और साहूकार के खेल मे बालक की चोरी करने कीं प्रवृत्ति का शोध हो जाता है। चोरी करने की मूलप्रवृत्ति मनुष्य मात्र मे होती है। जब इस प्रवृत्ति का सदुपयोग नहीं किया जाता तब वह समाज को हानि पहुॅचानेवाले कार्यो के रूप मे प्रदर्शित होती है किन्तु इसी प्रवृत्ति का शोधन या विलयन हो जाने पर वह समाजोपयोगी कार्य्यो में प्रकाशित होती है। खेलों के द्वारा ऐसी प्रवृत्ति व्यक्ति मे अनेक सद्गुणो का विकास करती है। बालक की काम-प्रवृत्ति, सग्रह करने की और लड़ने की प्रवृत्ति खेल के द्वारा व्यक्ति या समाज को क्षति पहुॅचानेवाले कार्यो के रूप मे प्रदर्शित न होकर उसका कल्याण करनेवाले कार्य्यों के रूप मे प्रदर्शित होती है। खेल हमारी नीच प्रवृत्तियो को ऊॅचा बनाने का अच्छा साधन है। इससे मनुष्य की कुप्रवृत्तियाॅ समाजोपयोगी काम मे लगाई जा सकती है।

आठवाँ प्रकरण

संवेग

पिछले प्रकरणों में हमने बालक की प्रकृति के क्रियात्मक अंग पर विचार किया है। अब इस प्रकरण में क्रियात्मक वृत्ति से सम्बन्ध रखनेवाले विषय 'संवेग' पर विचार करेंगे। बाल-मनोविकास में संवेगों का स्थान महत्त्व का है। उनके सुव्यवस्थित होने पर बालक के भावी जीवन का सुख और उन्नति निर्भर रहती है। मनोविज्ञान की नई खोजों से पता चलता है कि मनुष्यों की अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक बीमारियों के कारण उनके संवेग ही होते हैं। इसी तरह उनकी सफलता और विफलता भी उनके संवेगों पर निर्भर रहती है। यहाँ हम संवेगों के स्वरूप, नियंत्रण के उपाय तथा उनके विकारों पर विचार करेंगे।

संवेगों का स्वरूप

वैयक्तिक अनुभव—संवेग मनुष्य के वैयक्तिक तथा आन्तरिक अनुभव हैं। व्यक्ति की प्रवृत्तियों को बिना समझे, उसकी मानसिक वृत्तियों का परिचय बिना प्राप्त किये हम बाहर से उसके संवेगों के विषय में कुछ भी नहीं जान सकते। विलियम मैकडूगल ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक ही विषय के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न व्यक्तियों के मनोभाव भिन्न भिन्न हो सकते हैं। यही नहीं, एक व्यक्ति के भी भाव उस वस्तु या विषय के सम्बन्ध में, परिस्थितियों के परिवर्तित होने पर, भिन्न भिन्न हो जाते हैं। मान लीजिए कि दो बालक पास पास खड़े होकर बड़े ध्यान से गेंद का खेल देख रहे हैं। ऊपर से देखने में उनकी मानसिक स्थितियाँ, उनके संवेग, एक ही से लगते हैं। देखते देखते एक खिलाड़ी फुटबॉल को विपक्ष के गोल में मार देता है। यह देखकर

उन दोनो बालको में से एक प्रसन्नता से नाच उठता है, पर दूसरा खिन्न हो जाता है। उसका मुँह लटक जाता है। दृश्य विषय दोनो के सामने एक ही है पर इसके कारण दोनो के हृदयो मे दो भिन्न भिन्न प्रकार के भावो की सृष्टि हुई। इसी प्रकार किसी सवाद का किसी व्यक्ति पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, यह उसकी उस विषय से सम्बद्ध मानसिक स्थिति पर निर्भर रहेगा। जापानियों द्वारा रूस के हराये जाने की घटना ले लीजिए। इस घटना से रूस के ज़ार को बहुत मानसिक वेदना हुई, पर वहाँ के क्रान्तिकारी इससे प्रसन्न ही हुए। दूसरे लोगो के संवेगो के सम्बन्ध में हम प्रायः भ्रमपूर्ण धारणाएँ बना लेते है। इसका कारण यह है कि हम व्यवहारो को देखकर संवेगो के विषय मे अनुमान करते है, पर अनुमानो पर भरोसा नही किया जा सकता।

भावों[1] की प्रधानता—किसी भी संवेग का मूल कोई न कोई भाव होता है। भाव प्रारम्भिक दशा मे किसी न किसी कोटि तक सदा वर्तमान रहते है। हमारे ज्ञान-क्षेत्र के भीतर आने-वाली जितनी भी वस्तुएँ है, सबके विषय मे हमारे हृदय में कुछ भाव होते है। मूल भावना को हम सुखात्मक तथा दुःखात्मक दो भागो मे बॉट सकते है। सीशोर महाशय ने कहा है कि भाव के दो रूप होते है—प्रिय और अप्रिय। एक वे है जो आकर्षण उत्पन्न करते है और दूसरे वे हैं जो घृणा उत्पन्न करते है। इन्हीं दो मूल भावो से सब सवेगों की उत्पत्ति होती है। भाव हमारे संवेदन की बहुत प्रारम्भिक अवस्था है जिसमे अधिक वेग नहीं होता। जब हमारे भाव प्रबल हो जाते है, तो वे संवेगो के रूप मे प्रकाशित होते है। इस प्रकार भाव और संवेग दोनों ही सुखात्मक और दुःखात्मक दो प्रकार के होते हैं।

संवेगों का क्रियात्मक वृत्ति से सम्बन्ध—प्रत्येक सवेग के साथ क्रियात्मक वृत्ति रहती है। भाव जब सवेग का रूप प्राप्त कर लेते है तब उनका वेग मनुष्यो की क्रियाओ में व्यक्त होने लगता है। संवेग में जितना ही वेग तथा बल होगा,

---

1 Feelings

क्रियाओ मे उतनी ही स्फूर्ति प्रदर्शित होगी। मूल प्रवृत्ति के प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ एक विशेष प्रकार का सवेग रहता है। बहुत से मनोवैज्ञानिक सवेगो का नामकरण तथा विभाजन उन मूल प्रवृत्तियो के आधार पर ही करते है, जिनसे सवेगो का अटूट सम्बन्ध हो। जब कोई मूल प्रवृत्ति अपना काम करने लगती है तो उसके कार्य मे सहूलियत मिलने से आनन्ददायक संवेग उत्पन्न होता है अथवा बाधा पड़ने से दु:खदायक सवेग उत्पन्न होता है। यदि सवेग से क्रियात्मक वृत्ति अलग कर ली जाय, तो उसमे बड़ा अन्तर हो जायगा। क्रियात्मक स्फूर्ति के बिना संवेग फीके पड़ जायँगे। उनमे पहले का बल तथा वेग न रह जायगा। इस प्रकार हम देखते है कि संवेगो से क्रियात्मक स्फूर्ति को पृथक् नही किया जा सकता। प्रत्येक सवेग के साथ एक न एक क्रियात्मक वृत्ति रहती है। उदाहरण के लिए जब किसी बिल्ली के बच्चे या गाय के बछड़े को छेड़ा जाता है तो उसकी माँ को क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध की उत्पत्ति के पहले ही बच्चे की रक्षा करने की प्रवृत्ति वर्तमान थी। इस क्रियात्मक प्रवृत्ति के सक्रिय होने मे बाधा उपस्थित होने पर क्रोध उपजता है। इसके विपरीत जब उसका प्रसार होता है, जब उसे अपना काम कर लेने का अवसर प्राप्त होता है—तो आनन्द की उत्पत्ति होती है।

संवेगों का आरोपण—कोई भी सवेग एक बार उत्पन्न होकर कुछ देर तक स्थिर हो जाता है। यह ऊपर से देखने पर शान्त हो जाता है किन्तु एक विशेष भावधारा[1] का प्रभाव डाल जाता है। यह भाव-धारा सामने उपस्थित होनेवाले विषय को अपना आश्रय बना लेती है। किसी घटना-विशेष से उत्पन्न क्रोध बहुत काल तक हृदय मे घर किये रहता है और सामने पड़नेवाले किसी भी व्यक्ति पर उतरने को उद्यत हो जाता है। क्रोध के सवेग से वशीभूत व्यक्ति इस बात का विचार नहीं करता कि यह व्यक्ति वास्तव मे क्रोध का पात्र है भी या नहीं। घर की मालकिन से फटकार खाकर रसोइया अपना क्रोध

1. Mood

दूसरे नौकरों पर उतारता है। पशुओं को तो यहाँ तक देखा गया है कि जब वे क्रोधावेश में आ जाते हैं तो अपने साथियों से ही लड़ने लगते है। इसका कारण यही होता है कि उस समय उनका ध्यान उन्हीं पर लगा रहता है। उन्हे कोई दूसरा विषय नहीं दिखाई पड़ता। घर की किसी उद्वेगजनक घटना से क्षुब्ध अध्यापक के संवेग का कुफल कभी कभी विद्यार्थियो को भोगना पड़ता है। कभी कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि माताएँ अपने बालक का उलहना देनेवाली पड़ोसिन पर उत्पन्न क्रोध को अपने ही बालक को पीटकर निकालती है। दूसरो पर क्रुद्ध होकर अपना ही सिर पीट लेनेवाले दुर्वल लोगो को किसने नहीं देखा है। जब रात को कोई कुत्ता भूँकने लगता है तब दूसरे कुत्ते भी भूँकते हुए उसकी रक्षा करने को दौड़ पड़ते है और जब वे किसी आगन्तुक को नहीं देखते तो आपस में एक दूसरे को काटने लगते है। इँगलैंड के गुलाव-युद्ध तथा भारत के हिन्दू-मुस्लिम दंगे इस प्रकार के क्रोध के अच्छे उदाहरण है।

संवेगों का रूप-परिवर्तन—यह आवश्यक नहीं कि सवेग अपने मूल रूप को ही ग्रहण किये रहे। वे एक रूप से दूसरे में, परिस्थिति के अनुसार, परिवर्तित हो जाते है। क्रोध भय का रूप धारण कर सकता है अथवा प्रेम के रूप मे प्रकट हो सकता है। संवेगो के इस प्रकार रूप वदलने से भी हमारा वहुत वड़ा हित होता है। संवेग भिन्न भिन्न परिस्थितियो से सामञ्जस्य स्थापित करने में हमें सहायता पहुँचाते है। यदि संवेग अपरिवर्तनशील रहें तो हमारे जीवन मे उपयोगी न वन-कर हानि-प्रद सिद्ध हो। किसी संवेग-विशेष को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि आगे चलकर उसका यही रूप वना रहेगा। यदि हमे किसी व्यक्ति की अनुकूलता प्राप्त करनी है तो उसके हृदय में अपने प्रति किसी भाव का उत्पन्न हो जाना, चाहे वह भाव अवाञ्छनीय ही क्यो न हो, अधिक सहायक हो सकता है। एक राग से दूसरा राग उत्पन्न किया जा सकता है पर भाव-हीनता की स्थिति से भाव का उत्पन्न होना

सम्भव नहीं। अपनी बहन को चिढ़ाते हुए जब हम किसी बालक को देखते हैं तो उसे डाँट देते हैं, पर हमें जानना चाहिये कि चिढ़ानेवाला बालक वास्तव में अपनी बहन का प्रेम प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है।

संवेगों का शारीरिक विकारों से सम्बन्ध—संवेगो का शारीरिक विकारो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्रोध मे आँखे लाल होना, दाँत पीसना, काँपने लगना इत्यादि अनुभाव प्रकट होते हैं। शरीर की भीतरी क्रियाओ से भी सवेगो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब कोई संवेग जाग्रत् होता है तो हमारे शरीर के कुछ स्नायु-जाल सक्रिय हो उठते है। क्रोध की दशा मे शरीर एक विशेष प्रकार के रस को उत्पन्न करता है, जो सम्पूर्ण रक्त मे फैल जाता है। इससे सारे शरीर मे शक्ति-संचार होता और व्यक्ति आगे आनेवाली परिस्थितियो का सामना करने को प्रस्तुत होता है। इस क्रोधजनक रस के पैदा होने से क्रोध का वेग अपने आप प्रबल हो जाता है।

संवेगों का नियन्त्रण

मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन पर सवेगो का बहुत प्रभाव पड़ता है। मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य सवेगो के नियन्त्रण पर निर्भर रहता है। उन्हीं पर यह भी निर्भर रहता है कि कोई व्यक्ति समाज में सम्मान पावेगा, अथवा अपमानित होकर घृणा का पात्र बनेगा। चिड़चिड़े अथवा सदा उदास रहनेवाले व्यक्ति को बहुत कम लोग चाहते हैं।

ऊपर हम दिखा चुके हैं कि संवेगो का शरीर के भीतर होनेवाले कतिपय परिवर्तनो से सम्बन्ध है। सवेगो के उभड़ने से भीतर की कुछ ग्रन्थियाँ वेग से काम करने लगती है। कुछ संवेगो की उत्पत्ति के समय शरीर मे कुछ विशेष रस उत्पन्न हो जाते है तथा कुछ दूसरे प्रकार के रसो की उत्पत्ति कम हो जाती है। चित्त मे खेद उत्पन्न करनेवाले संवेगो से उन रसो की उत्पत्ति में बाधा पहुँचती है जो पाचन-क्रिया मे सहायक होते है। यदि ऐसे संवेग बार-बार जागा करें तो पाचन-शक्ति के मन्द पड़ जाने

की आशंका रहती है। चिड़चिड़े स्वभाव के व्यक्तियों की पाचन-शक्ति प्रायः मन्द पड़ जाती है। जो व्यक्ति अधिक क्रोधित हुआ करता है, उस पर अनेक भयानक रोगों का आक्रमण होना स्वाभाविक है। इन संवेगो के जागने के समय शरीर में ऐसे अनेक उत्पात उत्पन्न हो जाते हैं, जो बढ़ जाने पर शरीर को क्षीण तथा नष्ट कर सकते है। आर० डबल्यू० ट्राइन ने अपनी "इन ट्यून विथ दी इनफिनिट" नामक पुस्तक मे लिखा है कि क्रोधावेश में एक माता का दूध इतना विषैला हो गया कि उसे पीने से बालक की मृत्यु ही हो गई।

कुछ ऐसे भी संवेग हैं जो पाचन-शक्ति को उद्दीप्त करते हैं तथा शरीर को हृष्ट-पुष्ट करने में सहायक होते है। स्नेह तथा आनन्द के संवेग ऐसे ही है। स्नेह की अवस्था में शरीर आनन्द से पूर्ण हो जाता है और भीतर ऐसे रसों की उत्पत्ति होने लगती है जो पाचन-क्रिया में सहायता पहुँचाते है। मित्र-मण्डली के साथ बैठकर भोजन करने से स्वास्थ्य को लाभ पहुँचता है। भोजन करते समय चित्त को प्रसन्न बनाये रहना चाहिये। भोजन-सामग्री का ही व्यक्ति के शरीर पर प्रभाव नहीं पड़ता प्रत्युत भोजन करने के ढंग का भी पड़ता है। आनन्द और स्नेह के सवेग आयुष्य बढ़ाते हैं तथा क्रोध और भय के संवेग उसे क्षीण बना देते है। यह बात आध्यात्मिक सत्य है और भौतिक भी।

इस प्रकार हमने देखा कि संवेगों का स्वास्थ्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मानसिक स्वस्थता पर तो इनका और भी अधिक प्रभाव पड़ता है। सवेग मनोवृत्ति के रूप मे स्थित हो जाते है। यदि यह मनोवृत्ति स्थायी हुई तो स्वभाव में परिणत हो जाती है। इसे हम मनुष्य की अर्जित अथवा कृत्रिम प्रकृति कह सकते है। मनुष्यों के व्यक्तित्व का अध्ययन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि संवेगो का समुचित नियन्त्रण और व्यवस्था न होने से बहुत से मनुष्यो का विकास बहुत ही अनुचित दिशा मे हो जाता है। अहङ्कारी, चिड़चिड़े और खिन्नचित्त रहनेवाले व्यक्ति संवेगो की समुचित व्यवस्था के अभाव के परिणाम है। जिन लोगो के सवेगों की समुचित व्यवस्था

बाल्यकाल में नहीं हो पाती वे ही बड़े होने पर ऐसे व्यक्तियों के रूप में सामने आते हैं जिनसे समाज में आनन्द और सुख के स्थान में दु:ख और अशान्ति की उत्पत्ति होती है। बाल्यावस्था में बालकों के अनेक मनोवेगों को दबा दिया जाता है। यही दबे हुए मनोवेग भीतर ही भीतर, अलक्षित रूप से, षड्यन्त्र किया करते हैं और समय पाकर ज्वालामुखी के विस्फोट के समान प्रत्यक्ष हो जाते तथा बड़ा अनर्थ कर डालते हैं। इन्हीं के कारण अनेक मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। बालपन में भय की अव्यवस्था होने से व्यक्ति का स्वभाव भीरु बन जाता है। जो व्यक्ति किसी कारण वश बहुत कष्ट उठाते हैं, वे मनुष्य मात्र से घृणा करने लगते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि बचपन के संवेगों का व्यक्ति के विकास में बहुत बड़ा हाथ है। उनके सुनियन्त्रण से सुन्दर व्यक्तित्व की सृष्टि की जा सकती है तथा उनके अनियन्त्रण से व्यक्ति-विकास में बड़ी हानि होती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि बाल्यावस्था में संवेगों की सुव्यवस्था अवश्य होनी चाहिये।

बाल-मनोविकास में संवेगों का उपयोग

बाल-मनोविकास में संवेगों का कई तरह से उपयोग किया जा सकता है। जिस तरह बालकों की मूल प्रवृत्तियों का उनके मनोविकास में सदुपयोग किया जा सकता है उसी तरह उनके संवेगों का भी सदुपयोग किया जा सकता है। संवेगों के सदुपयोगों के निम्नलिखित उपाय मनोवैज्ञानिकों ने बताये हैं—

(१) निरोध[1]
(२) मार्गान्तरीकरण[2]
(३) शोध[3]
(४) अध्यवसाय[4]
(५) रेचन[5]

---

1. Inhibition 2. Redirection 3. Sublimation
4. Mental occupation 5. Catharsis

हम इन उपायों पर पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

निरोध—बालक के अनेक संवेगों का सदुपयोग निरोध द्वारा हो सकता है। जिन संवेगों के उभड़ने से बालक को हानि होती है उनको उत्पन्न होने का अवसर न देना ही उन संवेगों का निरोध कहा जाता है। यह तो निश्चित ही है कि बालक के प्रत्येक मनोभाव को उसकी इच्छा के अनुसार प्रकाशित नहीं होने दिया जा सकता। अभिभावकों और शिक्षकों का यह परम कर्तव्य है कि बालक को आत्म-नियन्त्रण की शिक्षा दें। जो बालक अपने संवेगों को किञ्चित् भी वश में नहीं रख सकता, वह कदापि अपना जीवन सुखी नहीं बना सकता। ऐसा बालक समाज का भी कोई उपकार नहीं कर सकता। संवेगों को नियन्त्रण में रखने के लिए पहले इस बात की आवश्यकता है कि वे अत्यधिक न उभाड़े जायँ। जिस बालक के मन में किसी प्रकार के संवेग बार बार उठते हैं उसका मन स्वभावतः निर्बल हो जाता है। ऐसा बालक अपने ऊपर नियन्त्रण रखने में बिलकुल असमर्थ रहता है। अतएव संवेगों का निरोध करना बालकों के लिए बड़ा कल्याणकारी है।

मार्गान्तरीकरण—मार्गान्तरीकरण द्वारा संवेग के प्रवाह को एक ओर जाने देने की अपेक्षा दूसरी ओर ले जाया जाता है। संवेगों का विषय बदल देना उनका मार्गान्तरीकरण कहलाता है। मित्रों के प्रति क्रोध के भाव को बदलकर शत्रुओं की ओर ले जाना उसका मार्गान्तरीकरण है। बालकों के एक दूसरे के प्रति क्रोध-प्रदर्शन के भाव को दुराचारी बालक के प्रति क्रोध-प्रदर्शन करने में परिणत करना क्रोध के भाव का मार्गान्तरीकरण कहा जाता है। इसी प्रकार दुराचारी बालक के प्रति प्रेम को सदाचारी बालक के प्रति बदला जा सकता है।

शोध—जब किसी संवेग का रूप इतना बदल जाता है कि हम मूल संवेग को पहचान नहीं सकते तो इस प्रकार के रूप को बदलने को उस संवेग का शोध कहते हैं। तुलसीदास का अपनी स्त्री के प्रति प्रेम जब हरि-भक्ति में परिणत हो गया, तो उस प्रेम का शोध हुआ। इसी तरह कामुकता का शोध संगीत, कविता, कला तथा सौन्दर्योपासना में हो जाता है। संवेगों

के शोध से ही मनुष्य-समाज की उन्नति होती और सभ्यता का विकास होता है। हम बालक की कामुकता को शोध द्वारा कला-उपासना मे परिणत कर सकते हैं। सवेगो का निरोध उनके शोध के हेतु होना चाहिये। जब संवेगो का निरोध स्वयं लक्ष्य बन जाता है तो सवेगो का दमन उसका सहज परिणाम होता है। संवेगों के दमन से बालक के मन का विकास रुक जाता है। उसके मन मे ऐसी अनेक ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं, जिनके कारण उसका सारा भावी जीवन दुःखी बन जाता है। इस विषय पर विस्तार-पूर्वक हम आगे यथास्थान विचार करेंगे।

अध्यवसाय—सवेगो को वश मे रखने का एक सुन्दर उपाय अध्यवसाय है। जो मनुष्य सदा काम मे लगा रहता है, उसके पास दुखी करनेवाले सवेग जा ही नही सकते। 'खाली मन भूतो का घर कहा जाता है।' कार्लाइल का यह कथन कि निकम्मे आदमी को ही सब प्रकार के बुरे भाव सताते हैं,* मनोवैज्ञानिक सत्य से परिपूर्ण है। बालक को हमे सदा व्यवसाय मे लगाये रहना चाहिये। इससे उसके अवाञ्छनीय सवेगों का निरोध, मार्गान्तरीकरण तथा शोध अपने आप हो जाता है।

यहाँ इस बात पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि मनुष्य की भावात्मक और ज्ञानात्मक वृत्तियों मे परस्पर विरोध का सम्बन्ध है। जो व्यक्ति जितना ही अध्ययन और विचार मे मग्न रहता है वह उतना ही कम सवेगो का दास रहता है। इसके प्रतिकूल जो जितना ही बुद्धि का कार्य कम करता है वह उतना ही अधिक सवेगों के वश मे रहता है। सदा गहन विषय पर चिन्तन करनेवाले व्यक्ति की अधिक मानसिक शक्ति चिन्तन के कार्य मे ही व्यय हो जाती है। अतएव ऐसे व्यक्ति

---

1 'Doubt desire, sorrow, remorse, indignation, despair itself he like hell dogs beleaguering the soul of the poor day worker as of every other man, but he bends himself against his task and all these are quelled, all these shrink murmuring far off into their caves"—Essay on *Dignity of Labour*

के संवेगों मे वैसी प्रबलता नहीं होती, जैसी साधारण लोगों के संवेगों में होती है। अवाञ्छनीय संवेगों का बल कम होने के कारण उनका विचार द्वारा नियन्त्रण करना सरल होता है। पढ़ने-लिखनेवाले बालक में हम बुरे संवेगो की उत्तेजना उतनी अधिक नहीं देखेंगे जितनी दूसरे बालकों मे। इससे यह स्पष्ट है कि बालको को सोचने के लिए जटिल प्रश्न देना उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए, जो कि संवेगो के सुनियन्त्रण पर निर्भर है, परमावश्यक है।

यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि आधुनिक शरीर-रचना-शास्त्र तथा मनोविश्लेपण-शास्त्र ने उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि की है। शरीर-रचना-शास्त्र के अनुसार मनुष्य के उन स्नायुओ मे, जो विचार करते समय कार्य करते हैं और उनमे जो संवेगो की उत्पत्ति के समय क्रियमाण होते हैं, इस प्रकार का सम्बन्ध है कि जब पहले प्रकार के स्नायु अधिक काम करते है तो दूसरे प्रकार के स्नायुओ की शक्ति भी काम मे आती है। परिणाम-स्वरूप यदि विचार करते समय किसी व्यक्ति का कोई सवेग उत्तेजित हो उठे तो वह सवेग उस भीपणता के साथ अपना स्वरूप नहीं दिखावेगा, जैसा कि वह अन्यथा दिखाता*। विलियम जेम्स का कथन है कि यदि क्रोध आने के समय आप

दस तक गिनती गिनने लग जायँ तो क्रोध अपने आप शान्त हो जायगा। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी संवेग के आते समय यदि विचार काम करने लगे तो संवेग दूर हो जायगा। इसी लिए विवेकी पुरुष संवेगो का दास नहीं होता।

मनोविश्लेषण-विज्ञान के अनुसार भी विचार-वृद्धि के द्वारा संवेगों का नियंत्रण किया जा सकता है। युंग महाशय का कथन है कि भाव-प्रधान और विचार-प्रधान स्वभावो मे पारस्परिक विरोध है। जिस व्यक्ति मे जितना ही विचार का आधिक्य होता है उसका जीवन उतना ही कम भावमय रहता है तथा भाव के आधिक्य के साथ साथ विचार की कमी रहती है। युग महाशय के अनुसार चेतना के चार प्रकार के कार्य होते हैं*--विचार[1], भाव[2], विज्ञान[3] और संवेदना[4] (इन्द्रियजन्य ज्ञान)। प्रत्येक व्यक्ति का मन इन चारो प्रकार के कार्यों को करता है, किन्तु किसी व्यक्ति मे एक प्रकार के कार्यों की प्रधानता होती है और किसी में दूसरे प्रकार की। अर्थात् कोई विचारप्रधान होता है तो कोई भाव-प्रधान, कोई विज्ञान-प्रधान होता है तो कोई संवेदनाप्रधान। विचार-प्रधान व्यक्ति प्रत्येक कार्य मे तर्क से काम लेता है और हर एक विषय पर निष्पक्ष भाव से चिन्तन करने की चेष्टा करता है। भाव-प्रधान व्यक्ति किसी विषय के प्रति अपना दृष्टिकोण भावो के अनुसार परिवर्तित करता है। विज्ञान-प्रधान व्यक्ति अलौकिक सूझ से किसी जटिल विषय पर निश्चय करता है। इसी तरह सवेदना-प्रधान व्यक्ति अपने निश्चयो में प्रत्यक्ष इन्द्रियज्ञान से प्रभावित होता है।

ऊपर कहे गये चेतना के प्रत्येक कार्य का दूसरे कार्यों से आंशिक अथवा पूर्ण पारस्परिक विरोध रहता है। अर्थात् जिस व्यक्ति की चेतना एक प्रकार का कार्य अधिक करती है उसके

---

* क्रिचटन मिलर—साकोएनालैसिस एण्ड इट्स डेरीवेटिव्ज
—तीसरा प्रकरण

1 Thought 2 Feeling 3 Intuition 4 Sensation

दूसरे प्रकार के कार्य में उतनी ही कमी रहती है। चेतना के इन चारो प्रकार के कार्यों का सम्बन्ध नीचे दिये हुए चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है—
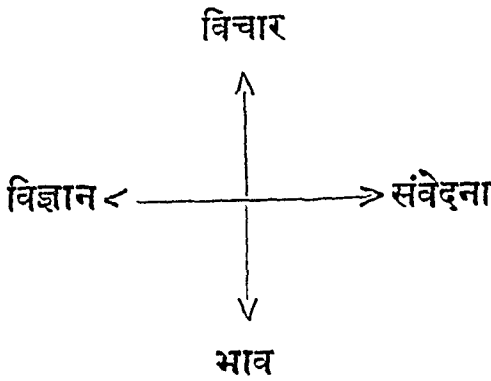
ऊपर दिये हुए चित्र से यह स्पष्ट है कि विचार और भाव में पूर्ण विरोध है। इसी तरह विज्ञान और संवेदना (इन्द्रियजन्य-ज्ञान) में भी पूर्ण विरोध है। जिस व्यक्ति की चेतना में एक प्रकार के कार्यों की अभिवृद्धि देखी जाती है, उसमें उसके विरोधी कार्यों की अवश्य कमी रहेगी। यदि कोई व्यक्ति विचार-प्रधान है, तो उसमे भावो की कमी होगी। इसी तरह यदि वह विज्ञान-प्रधान है, तो इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर उसकी निर्भरता कम होगी। भावों की प्रबलता के साथ विचार की कमी और संवेदना के आधिक्य के साथ विज्ञान की कमी पाई जाती है। युंग महाशय के कथनानुसार स्त्रियाँ प्रायः भाव-प्रधान होती हैं और पुरुष विचार-प्रधान।

युंग महाशय के उपर्युक्त सिद्धान्तो से हम संवेगों के नियन्त्रण के विषय में एक उपयोगी निष्कर्ष निकाल सकते हैं। वह है—विचार और भाव में पूर्ण विरोध है, अतएव यदि हम किसी व्यक्ति के जीवन मे विचारो की अभिवृद्धि करें तो उसके जीवन मे भावो की कमी अपने आप हो जायगी। अतएव उसके संवेग इतने प्रबल न होगे कि वे विवेक के नियन्त्रण में न रहे। बालक का जीवन जैसे जैसे विकसित होता जाता है तथा उसके विचारो की अभिवृद्धि होती जाती है, वैसे वैसे उसके संवेग भी सुनियन्त्रित होते जाते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि

जाने-बूझे किसी प्रकार की चेष्टा न करने पर भी अध्यवसाय बढ़ाने से हम बालकों के संवेगों को सुचारु रूप मे चलाने मे समर्थ होते हैं।*

रेचन—दबे हुए संवेगो को समय समय पर उभड़ने का अवसर देना उनका रेचन कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति व जाति के स्वास्थ्य के लिए इस प्रकार का रेचन परमावश्यक है। जिन भावो की शक्ति अन्य किसी प्रकार से व्यय नही होती उन्हे रेचन द्वारा बाहर निकाल देना वैसा ही आवश्यक है जैसा कि सेफ्टी-वाल्व द्वारा इञ्जिन की अतिरिक्त भाफ को निकाल देना। व्यक्ति के जीवन मे हँसी-मज़ाक और समाज के जीवन मे होली जैसे त्यौहार दबी हुई अनैतिक भावनाओं के लिए सेफ्टीवाल्व का कार्य करते है। होली के त्यौहार के समय हिन्दू मात्र तरह तरह की गालियाँ बकते हैं। इस प्रकार से उनकी काम-वासना का रेचन हो जाता है। यूनान देश में पुराने समय मे डानोसियस का त्योहार भी इसी प्रकार का था। ऐसे समय काम-वासना-संबंधी विचारो का प्रकट करना बुरा नही समझा जाता था। आज-कल भी यूरोपीय देशो मे इस प्रकार के त्यौहार साल मे एक न एक होते ही हैं जिनसे नैतिकता से दबे संवेगो का रेचन होता है। हँसी-मजाक आदि नैतिकता से दबे संवेगो का रेचन है। बालको के जीवन से ऐसी बातो का पूर्णतः लोप करने की आशा करना व्यर्थ है। इनका

---

* यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि स्वयं युंग महाशय के अनुसार इस प्रकार का निष्कर्ष उनके मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल होगा। उनके कथनानुसार उपर्युक्त चार प्रकार के चेतना के कार्यों की मात्रा व्यक्ति में जन्म से ही निश्चित रहती है और वह घटाई बढाई नहीं जा सकती। उनके इस कथन को स्वीकार करने में हम असमर्थ हैं। यदि इसे मान लें, तो भी इतना तो निश्चित है कि भाव और विचार में पूर्ण विरोध है। अतएव जिस व्यक्ति के जीवन में जितना ही विचारों का प्राधान्य होगा उतना ही उसके संवेग उसके वश में रहेंगे।

भी बाल-मनोविकास में वैसा ही स्थान है जैसा दूसरे कार्यों का। जिन बालको को हँसी-मज़ाक का अवसर बिलकुल नहीं दिया जाता उनका चरित्र सुविकसित नहीं हो पाता। उनके मन में दबे हुए संवेग अनेक ग्रन्थियाँ पैदा कर देते हैं जिनके कारण बालक के भावी जीवन मे अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ होती है।

स्थायी भाव[1]

स्थायी भाव का स्वरूप—प्रत्येक व्यक्ति के मन में अनेक स्थायी भाव होते है। उनकी उत्पत्ति सवेगो से होती है। जब किसी पदार्थ, व्यक्ति अथवा वस्तु के प्रति बार बार किसी विशेप संवेग का अनुभव होता है, तब वह स्थायी भाव में परिणत हो जाता है। यह स्थायी भाव फिर अनेक संवेगो का उद्गम-स्थान होता है। हिन्दुओ के हृदय मे गौ के प्रति स्थायी प्रेम-भाव है, अतएव गौ को देखने से उनके मन मे आनन्द होता है। जो व्यक्ति गौ की सेवा करता है, उस पर उनकी श्रद्धा होती है। इसके प्रतिकूल जो गौ को कष्ट देते हैं, उनके प्रति क्रोध का संवेग उनके हृदय मे उठता है। इसी तरह देश-भक्ति एक स्थायी भाव है। जिस व्यक्ति के हृदय में यह स्थायी भाव रहता है वह देशभक्तो को अपने आप प्यार करने लगता है। देशभक्तो को देखते ही उसका हृदय बाँसों उछलने लगता है। वह जब देश के वीरो की गाथा सुनता है तो उसका हृदय प्रफुल्लित हो जाता है किन्तु जब अपने देश की निन्दा अथवा देश-द्रोही का नाम सुनता है तो उसको क्रोध आ जाता है। जब देश की दुर्दशा पर विचार करता है तो उसे आन्तरिक वेदना होती है। देश पर आनेवाली विपत्ति से उसके मन में भय होता है। इस प्रकार एक ही स्थायी भाव अनेक संवेगो का कारण बन जाता है।

स्थायी भावों की प्रतिक्रिया—हमारे अदृश्य मन मे अनेक स्थायी भाव वर्तमान हैं। इन भावो के कारण हम अनेक वस्तुओ के प्रति रुचि तथा अरुचि प्रकट करते है। पाठको को अनुभव होगा कि

---

1 Sentiment

किसी विशेष व्यक्ति को देखते ही हम उसकी ओर आकर्षित हो जाते है और किसी दूसरे को देखकर हम उससे द्वेष करने लगते है। हम प्रायः इस प्रकार की रुचि अथवा अरुचि का कोई कारण नहीं जानते। जब कोई कारण पूछना चाहता है तो हम यही उत्तर दे देते है कि हमारा हृदय अमुक व्यक्ति को चाहता है अमुक को नहीं। कभी कभी अनजाने ही हम झूठे उत्तर और कारण भी दे देते हैं। जिस व्यक्ति को हम हृदय से नहीं चाहते उसका छिद्रान्वेषण ही करते रहते है। ऐसी अवस्था में हम उसके दोष ही दोष देखते है, उसके गुणों को ओर हमारी दृष्टि जाती ही नहीं। सम्भव है, दूसरे लोग उसी व्यक्ति में अनेक गुण देखे, पर हमारे लिए तो उनका अस्तित्व है ही नहीं।

ऐसी मनोवृत्ति का कारण हमारे अदृश्य मन मे किसी स्थायी भाव की उपस्थिति ही है। दो व्यक्ति जब एक दूसरे को देखते ही मोहित हो जाते है तो उसका कारण उनके मन के स्थायी भाव ही होते हैं। जिस स्त्री को कोई पुरुष पहली बार देखते ही प्यार करने लगता है, वह पुरुष उस स्त्री के समान दूसरी स्त्री को पहले ही से प्यार करता था। इस प्रकार का स्थायी भाव बचपन मे ही बन जाता है। नया प्रेम-प्रदर्शन पुराने स्थायी भाव का ही क्रियमाण रूप है। इस प्रकार का प्रेम स्थायी भावो का विषयान्तर मात्र है, जो सदा जीवन मे होता रहता है*। यह कभी कभी एकाएक भी हो जाता है।

---

* यहाँ सिरिल बर्ट महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

'This transference may sometimes be a sharp and violent one. The singular phenomenon described as love at first sight" is of this order. The child or youth has already built up a sentiment or interest for some idealised personality, modelled in its ultimate beginnings upon the person who interested him first, namely, his mother or father. Into this preconception—in virtue, it may be, of some entirely trivial similarity in name, in feature, in mode of speech or in characteristic manner of behaviour—the new comer fits instantly, like wax cameo into the intaglio from which it was cast As a result of this connec-

स्थायी भावों का जीवन में महत्त्व—हम देखते है कि प्रत्येक व्यक्ति के कुछ न कुछ स्थायी भाव रहते है। प्रायः इन्हीं से उसका जीवन नियन्त्रित रहता है। इन स्थायी भावों का गठन बाल्यावस्था में होता है। अतएव इस दृष्टि से व्यक्ति के जीवन मे बाल्यावस्था का बड़ा महत्त्व है।

सिरिल बर्ट महाशय का कथन है कि दुराचारी बालकों मे अच्छे स्थायी भावों की कमी पाई जाती है। दुराचारी बालकों मे न तो अपने कुटुम्बियों, सम्बन्धियों अथवा मित्रो के प्रति विशेष राग रहता है और न उनके मन मे किसी विशेष विषय के लिए लगन रहती है। इस प्रकार बालक के जीवन मे स्थायी भावो के अभाव का बड़ा दुष्परिणाम होता है। स्थायी भाव अनुपयोगी शक्ति को काम मे लाने के सुन्दर साधन हैं। उनसे जीवन की मशीन सुचारु रूप से चलती है। इस प्रकार की नियन्त्रक सत्ता के अभाव मे बालक का मन संवेगो के आभारो को सहन नही कर सकता। प्रेमी अपनी प्रेयसी की लगन मे, माता पुत्र की लगन मे, देश-भक्त देश की लगन मे ससार के सभी सुखो और दुःखो को भूल जाते है जिससे उनके साधारण कार्य सुचारु रूप से होते हैं। जिस समय इन लोगो के स्थायी भावो के विषयों का अभाव हो

---

tion, a stranger may receive, in full flood, the concentrated volume of transferred emotion that had originally collected about the thought of the parent In the same sudden way, unreasoning prejudices, illogical hatred, abrupt dislikes may be based on a first impression.

'I do not like thee, Dr. Fell,
The reason why I cannot tell.'

—*Young Delinquent* pp. 539-540

उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि स्थायी भावों का आरोपण कभी कभी एकाएक हो जाता है। एक व्यक्ति का दूसरे से पहली दृष्टि में प्रेम हो जाना अथवा एकाएक द्वेष होना इसी का परिणाम है। वास्तव मे पहले व्यक्ति के मन मे बहुत पुराने समय से दूसरे से मिलते-जुलते किसी व्यक्ति के विषय में एक स्थायी भाव बना हुआ था जो कि अब नये व्यक्ति के ऊपर आरोपित हो गया।

जाता है वे विक्षिप्त जैसे कार्य करने लगते है। हमारी रागात्मक वृत्तियाँ निर्विषय नहीं बनाई जा सकतीं। विक्षिप्तता की अवस्था में ही मनुष्य के स्थायी भाव के विषय स्थिर नहीं रहते। जो व्यक्ति अपने स्थायी भावो को सुन्दर बनाता है उसके चरित्र के अनेक दोष अपने आप लुप्त हो जाते है। सिरिल बर्ट महाशय अपनी यंग डिलिनक्वेंट नामक पुस्तक में लिखते हैं—"सदाचार अथवा सदाचारी व्यक्ति का प्यार दुराचार और पाप के निवारण का सबसे अचूक साधन है। जिस बालक के हृदय मे अपने शिक्षक अथवा अपनी पाठशाला के प्रति प्रेम है वह कदापि दुर्व्यसनों मे मदान्ध होकर न पड़ेगा। जिस बालक के हृदय मे इस प्रकार का कोई भी स्थायी भाव नहीं है उसके पास अपने मन को दुर्व्यसनो से रोकने के लिए कोई भी लगाम नहीं है। स्थायी भाव के अभाव मे व्यक्ति की पाशविक प्रवृत्तियों को मनमानी करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता हो जाती है"*।

स्थायी भाव और भावना-ग्रन्थि—प्रत्येक मनुष्य को अपने स्थायी भाव ज्ञात रहते हैं। यदि वे ज्ञात न हो तो उसे जब उनकी उपस्थिति का बोध कराया जाता है तो उन्हे वह स्वीकार करता है। अर्थात् स्थायी भाव व्यक्त मन में आने योग्य भाव होते हैं। जो स्थायी भाव व्यक्ति के अदृश्य मन में ही रहते है और जिन्हें व्यक्ति का व्यक्त मन स्वीकार करने को भी तैयार नहीं रहता उन्हें भावनाग्रन्थियाँ (काम्प्लेक्स) कहते हैं। ऐसी ग्रन्थियाँ मनुष्य के अनेक दुर्व्यवहारो का कारण बनती है। इनसे अनेक मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं।

---

* "The love of virtue or of a virtuous person is one of the most effective inhibitors of vice and crime It acts both as a brack and as a bridle The child who is held in by a sincere affection for his teacher, or a loyal enthusiasm for his school, is not likely to go galloping headlong into cruder forms of temptations The child who has no such attachments, no other attachments to do their office has nothing whatever behind him to rein him back when face to face with some seductive mischief The want of sentiments leaves the original instincts a free and unrestricted play" — *The Young Delinquent* pp 542

संवेगों की अनावस्था[1]

आजकल मनोविज्ञान ने संवगो की विकृत अवस्था की विशेष प्रकार से जाँच-पड़ताल की है। इस जाँच-पड़ताल से मनुष्य की अनेक प्रकार की विक्षिप्तता की जड़ संवेगो का विकृत होना पाया गया है। जब किसी संवेग का किसी कारणवश दमन होता है तो वह अनेक प्रकार की मानसिक बीमारी की जड़ बन जाता है। ऐसा संवेग मनुष्य के अदृश्य मन मे एक ग्रन्थि के रूप में सदा वर्तमान रहता है और परिस्थितियों के अनुसार नये नये विषयो पर आरोपित हो जाता है। ऐसे संवेगो के नये विषयों पर जमने की प्रक्रिया को सवेगो की अनवस्था कहा जाता है। दो-एक संवेगों का उदाहरण लेकर उपर्युक्त सिद्धात को स्पष्ट किया जा सकता है। शिक्षकों और अभिभावको को इस प्रकार की प्रक्रिया की जानकारी भली भाँति कर लेनी चाहिये; क्योंकि संवेगों का दमन अधिकतर बाल्यकाल में ही होता है और इस काल में व्यक्ति के मन मे जो गाँठ पड़ जाती है उसका दुष्परिणाम वह जीवन भर भोगता है।

अनवस्थित भय—जिस पदार्थ से कोई व्यक्ति हानि की आशंका देखता है उससे उसे भय हो जाता है। ऐसा भय मनुष्य के पुराने अनुभव के ऊपर निर्भर रहता है। यदि किसी बालक को घर से बाहर जाते समय कुत्ते ने काट खाया तो उसको कुत्तों से भय हो जाना स्वाभाविक है। जब जब यह बालक घर से बाहर जाता है तब तब यदि कुछ न कुछ कष्ट होता है तो इसे घर से बाहर निकलने में ही भय होगा। यदि बालक इस प्रकार के वातावरण में रहे कि प्रत्येक आगन्तुक उससे प्रेम से बोले तो उसके हृदय मे प्रत्येक आगन्तुक के लिए प्रेम के भाव होगे। इसके प्रतिकूल यदि बालक को आगन्तुको से दुःख ही मिला हो तो वह हर नये आदमी से डरने लगेगा। इसी तरह जब कभी किस्सा-कहानियो मे किसी पदार्थ अथवा जानवर को भयावना चित्रित किया जाता है तो उससे बालक सदा के लिए

---

1 Displacement of Emotions

डरने लगता है। इस प्रकार के डर का निवारण बालक की ज्ञान-वृद्धि से किया जा सकता है। आगन्तुको का डर, भूतो का डर तथा जानवरो का डर बालक का ज्ञान बढ़ाकर अथवा उसे अपनी शक्तियो से परिचित कराकर दूर किया जा सकता है।

किन्तु बालक के जीवन मे ऐसे अनेक भय हो सकते हैं जिनका कारण प्रत्यक्ष पदार्थ न रहकर कोई दूसरा पदार्थ हो। इस प्रकार के भय के उदाहरण कुछ विक्षिप्त प्रौढ़ व्यक्तियो मे सरलता से देखे जा सकते है। यहाँ एक ऐसे विक्षिप्त पुरुष का उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा।

थोड़े दिन हुए लेखक एक ऐसे प्रौढ़ व्यक्ति से मिला जिसे यह भय रहता था कि उसे मेहतर झाड़ू मार देगा और इससे उसको फाँसी हो जायगी। यह व्यक्ति इस विचार को छोड़कर बाकी सभी बातो मे साधारण मनुष्यो जैसा व्यवहार करता था। वह अपना रोज़गार बड़ी पटुता के साथ करता था। उसने फाँसी लगने के कारणो को अनेक वकीलो से पूछा और उनसे यह निश्चित कर लिया कि वह ऐसे किसी अपराध का भागी नही, जिसके कारण उसे प्राण-दण्ड मिले, फिर भी यह बुरा विचार उसे नहीं छोड़ता था। वह इतना व्यथित हो चुका था कि उसे जीवन भाररूप हो रहा था। इस तरह के भय का कारण कोई मानसिक ग्रन्थि रहती है। सम्भव है इस व्यक्ति ने ऐसा काम किया हो अथवा करने की इच्छा की हो, जिसका दण्ड, प्राण-दण्ड ही होता। इस व्यक्ति से बात-चीत करने पर पता चला कि किशोरावस्था मे उसकी दुश्मनी अपने से अधिक अवस्था-वाले गाँव के एक व्यक्ति से हो गई थी। उस व्यक्ति ने इसे मारा भी था, जिसके प्रतिकार-स्वरूप उस व्यक्ति को इसने पिटवाया था, तब से उस व्यक्ति के प्रति उसकी भय की धारणा हो गई। धीरे धीरे यह धारणा दूसरे पदार्थों पर आरोपित होती रही। एक बार कोई ख़ूनी उसके अनजाने में उसके घर आकर ठहरा। पीछे पुलिस को पता चला। तब से उसे पुलिस से डर हो गया। उसे यह भय हो गया कि कहीं अपराधी व्यक्ति उसे भी न फँसा ले और अपराधी का दण्ड उसे ही न

मिल जाय। पीछे उसके भय ने एक नया विषय ढूँढ़ लिया और अब उसे अकारण ही फाँसी का डर हो गया।

इस भय के कारण पर विचार करने से पता चलता है कि इस व्यक्ति ने क्रोध में आकर किसी प्रियजन की हत्या करने की इच्छा की होगी। पीछे उसे उसकी नैतिक भावना ने यन्त्रणा दी। इसी यन्त्रणा के कारण उसके मन में एक भावना-ग्रन्थि बन गई जो नये नये रूपों में प्रकाशित होती थी। यहाँ इस बात को समझना आवश्यक है कि जिस घटना से इस प्रकार के भय की उत्पत्ति होती है वह अवश्य ही ऐसी होती है जिसे दूसरे लोगों के सामने रोगी प्रकट नहीं कर सकता तथा जिसे वह भुलाना चाहता है। जब किसी प्रकार का भय ऐसे विषय से सम्बन्धित रहता है, जो हमारी नैतिक भावना के प्रतिकूल है तो वह व्यक्त मन के समक्ष नहीं आता। ऐसा भय एक मानसिक ग्रन्थि में परिणत हो जाता है और रूपान्तरित होकर नये नये विषयों पर आरोपित होकर प्रदर्शित होता रहता है।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिये यहाँ हम निम्नलिखित उदाहरण जॉन० जै० बी० मार्गन की "साइकोलाजी आफ दी अन एडजेस्टेड स्कूल चाइल्ड" नामक ग्रन्थ से उद्धृत करते है—

एक बार एक औषधालय में एक ऐसी विक्षिप्त स्त्री लाई गई जिसे अपने बालक को अपने-आप मार डालने का भय था। उसने अपने सब चाकू-छुरे छिपा दिये, जिससे कहीं वह मानसिक कमजोरी की अवस्था में उसे मार न डाले किन्तु यह सब कर चुकने पर उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मैं उसे रोटी बनाने के बेलन से भी तो मार सकती हूँ। अब उसने इसे भी छिपा दिया। फिर उसके मन में भय उत्पन्न हुआ कि कहीं मैं बालक को कुर्सी पर पटककर ही न मार डालूँ। इस भय से वह इतनी अधिक त्रस्त हो गई थी कि उसे औषधालय में लाना पड़ा। यह स्त्री जानती थी कि मेरा भय मूर्खतापूर्ण है। वह इस बालक को बहुत प्यार करती थी और उसके मारने की उसके हृदय में तनिक भी इच्छा न थी। इसके प्रतिकूल उसका प्रेम बालक के प्रति इतना अधिक था कि बालक बिगड़ा जा रहा था।

वह अपने आप से कहती कि मै भला अपने बालक को कैसे मार सकती हूँ। मै तो दयालु हूँ—मै एक मक्खी तक को हानि पहुँचाना नहीं चाहती। परन्तु ऐसा विचार करने पर भी उसके भय का निवारण नहीं होता था।

ऐसे भय का कारण अदृश्य-मन मे रहता है। नये नये विषय पर यही भय आरोपित होता रहता है। वास्तव मे इस प्रकार का भय, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, किसी ऐसे विषय या क्रिया से सम्बन्धित रहता है जिसे व्यक्ति की नैतिक भावना व्यक्त मन में आने से रोकती है तथा जिसे वह अपनाने के लिए तैयार नहीं है।

उपर्युक्त उदाहरण मे स्त्री को बच्चे पैदा करने का भय था। वह स्वय ही अपनी कमाई से अपना जीवन चलाती थी। बच्चे के पैदा होने पर उसे दोनो का भरण-पोषण करने मे कठिनाई होती, अतएव जब वह गर्भवती हुई तो उसे एक समय गर्भ को गिरा देने का विचार आया। किन्तु इस विचार के आते ही उसकी नैतिक भावना जाग्रत हो गई और वह मन मे ऐसा विचार लाने के लिए अपने को कोसने लगी। उसकी नैतिक भावना ने कहा कि गर्भ को गिराना तो बालक की हत्या करना है। इस प्रकार का विचार करना ही पाप है। वह दूसरो के सामने यह स्वीकार भी नहीं करना चाहती थी कि उसके मन मे कभी गर्भ गिराने का विचार आया था। इतना ही नहीं, वह इस प्रकार की स्मृति को भी भुला देना चाहती थी। उसे अपनी दूषित स्मृति के भुलाने मे तो सफलता मिल गई किन्तु उसके भय ने अब नया रूप धारण कर लिया। और वह ऐसे विषय पर आरोपित हो गया जो भय का कारण न होना चाहिये। वास्तव मे वह पुराने बुरे विचारो के कारण ही मानसिक यन्त्रणा भोग रही थी।

रोगी की स्मृति में पुराने अनुभवो को जाग्रत कर इस प्रकार के भय का निवारण किया जा सकता है। इस प्रक्रिया को मनोविश्लेषण-विज्ञान की भाषा मे केथार्सिस (रेचन) कहते हैं।

अनवस्थित आत्मग्लानि—एक दूसरा उदाहरण आत्मग्लानि की अनवस्था का है। इससे भी प्रकट हो जाता है कि

दबे हुए संवेग स्थानापन्न होकर नये नये विषयों पर आरोपित हो जाते हैं।

एक अविवाहित युवक एकाएक अपनी प्रेम-भावना में निराश होने के बाद आत्म-ग्लानि से त्रस्त होने लगा। वह कभी एक बात के लिए अपने को कोसता था, कभी दूसरी के लिए। इस तरह वह दिन भर अपने आपको कोसता रहता था। जिन विषयों के सम्बन्ध में उसे आत्म-ग्लानि होती थी वे प्राय: तुच्छ होते थे। दो एक उदाहरणों से उसकी विक्षिप्त मनोवृत्ति का परिचय दिया जा सकता है। एक दिन वह युवक एक टोप खरीदने गया। उसने बहुत से टोप देखकर एक को चुन लिया। उसे खरीदकर और पहनकर वह दूकान से चल दिया। ज्योंही वह दरवाजे के बाहर आया त्योंही उसके मन में यह विचार उठा कि मुझे यह टोप खरीदना नहीं चाहिये था। इस प्रकार का विचार उसे मूर्खतापूर्ण दिखाई देता था, किन्तु फिर भी वह अपनी इस मनोभावना से मुक्त नहीं होता था कि मैंने कोई बुरा काम किया है। रास्ते में चलते चलते वह अपने आप यह तर्क करता जाता था

इसी प्रकार बैंक से एक नई चेक की किताब लेते समय कल्पित पाप की भावना ने उसको त्रास दिया था। उसको दो बार बैंक मे जाना पड़ा था। दूसरे अवसर पर उसे इसी प्रकार की आत्म-ताडना अपने एक मित्र से बात-चीत करने मे हो गई। उसके मित्र ने बात-बात मे इस युवक से कहा कि तुम्हे फौज मे भर्ती होना चाहिये। युवक ने बिना सोचे समझे ही उत्तर दे दिया कि मै शीघ्र ही फौज मे भर्ती होऊँगा किन्तु अपने मित्र का साथ छोड़ देने के थोड़ी देर पश्चात् उसके हृदय मे यह भावना उठी कि मुझे फौज मे कदापि भर्ती न होना चाहिये तथा मित्र से फौज मे भर्ती होने का निश्चय बताना बहुत बुरा काम हुआ। उसे अपने इस काम से इतनी आत्म-ग्लानि हुई कि उसने अपने शब्द जब तक मित्र के समक्ष वापस नही ले लिये तब तक उसे शान्ति ही न मिली। अब शब्दो को वापस लेते ही उसको यह भावना त्रास देने लगी कि मैने शब्दो को वापस लेकर बुरा किया। सम्भव है, मेरे लिए फौज मे भर्ती होना ही अच्छा हो। एक दो दिन के बाद इस तरह अपने आपको त्रास देने के पश्चात् वह अपने मित्र के पास गया और उसको जताया कि मैने अब फौज मे सम्मिलित होने का निश्चय कर ही लिया। किन्तु इतना करने पर भी उसे शान्ति न मिली। उसे पहले की भावना फिर त्रास देने लगी। उसे पुन: अपने मित्र के पास जाना पड़ा और अपने शब्दो को वापस लेना पड़ा।

उपर्युक्त उदाहरण संवेगो की अनवस्था को बड़ी सुन्दरता के साथ स्पष्ट करता है। इस मनुष्य के विचित्र व्यवहार का कारण यदि हम उसके व्यक्त मन मे देखें तो उसे न पायेगे। उसकी सशयात्मक वृत्ति का कारण उसके अदृश्य मन मे था। इस व्यक्ति को अपने पिता से आन्तरिक शत्रुता थी, जिसका कारण पिता का बालक के साथ दुर्व्यवहार था। यह युवक जब छोटा बच्चा था, तब उसका पिता उसकी इच्छाओ की पूर्ति मे बाधा डाला करता तथा उसे अनेक दण्ड दिया करता था। इसके प्रतिकार-स्वरूप बालक के मन मे पिता के अनिष्ट की इच्छाएँ उठा करती थी। किन्तु ऐसी भावनाओ का उठना उसकी नैतिक

भावना के प्रतिकूल था। उसका नैतिक मन पिता को हानि पहुँचाने के भावो को उठने के लिए उसे कोसता था। इससे उसने पिता के प्रति दुर्भावना का दमन किया, तथा पिता को मारने की भावना को भी उसी प्रकार भुलाना चाहा। यही आत्मग्लानि स्थानापन्न होकर उसकी छोटी-छोटी क्रियाओ पर आरोपित हो जाती थी। अतएव यह युवक अब अपने प्रत्येक कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा और उसे अपनी हर एक क्रिया से ऐसी आत्मग्लानि हो जाती थी मानो उसने पाप किया हो।

किसी व्यक्ति को जब हम इस प्रकार अकारण भय या अकारण क्रोध से उत्तेजित अथवा अधिक संदिग्धमन देखे, तो उसके विषय मे यह निश्चय करना युक्ति-सगत होगा कि उसके मन मे कोई दबा हुआ संवेग है, जो समय समय पर नये नये विषयो पर आरोपित होता रहता है। ऐसे व्यक्ति को उसकी दुर्भावनाओ से मुक्त करना तब तक सम्भव नही जब तक उसे दबे हुए सवेग से मुक्त न किया जाय। यह कार्य मनोविश्लेषण के द्वारा होता है। मनोविश्लेषण द्वारा व्यक्ति के वास्तविक भय का कारण जानकर जब उससे उसे मुक्त किया जाता है, तब उसके मन की अनेक झंझटें दूर हो जाती हैं।

बालकों का क्रोध

क्रोध की व्यापकता—क्रोध और भय दोनो ऐसे मानसिक सवेग है जो प्रत्येक प्राणी को होते हैं। इन संवेगों से कोई भी प्राणी मुक्त नही। कुत्ता, बिल्ली, हाथी, घोड़ा, गीदड़, शेर, सभी प्राणियो को समय समय पर क्रोध और भय होते हैं। इन सवेगो को हम मूल सवेग कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिको ने इन संवेगो को बीभत्स सवेग[1] कहा है। इनके आवेश में आने-वाला व्यक्ति असाधारण व्यवहार करने लगता है। जब इन सवेगो का अत्यधिक जोर होता है तब मनुष्य की बुद्धि नष्ट-प्राय हो जाती है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है—

क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

अर्थात् क्रोध से सम्मोह पैदा होता है। सम्मोह से स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति का नाश होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य अवश्य ही अपने आपका नाश कर लेता है।

क्रोध का इस प्रकार का परिणाम जानकर हमे इसके स्वरूप का अध्ययन भली भाँति करना चाहिये और यह विचार करना चाहिये कि हम अपने बच्चो को इन संवेगो का दास बनने से किस प्रकार बचा सकते है।

क्रोध का उद्गम—किसी भी मानसिक प्रवृत्ति के अवरोध से क्रोध पैदा होता है। मूल प्रवृत्तियों वाले परिच्छेद मे बताया गया है कि मूल प्रवृत्तियो का संवेगो से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। मूल प्रवृत्तियो की तृप्ति न होने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। यदि किसी कृपण से हम उसका धन छीनने की चेष्टा करे तो उसके मन मे क्रोध सहज मे ही उत्पन्न हो जायगा। इसी तरह किसी कामातुर प्राणी की काम-वासना तृप्त करने मे जब कोई अड़चन डालता है तो उसे क्रोध हो आता है। यदि कोई व्यक्ति गौ के बछड़े को सतावे तो उसकी माँ उस व्यक्ति को अवश्य मारने दौड़ेगी। भूखे कुत्ते से यदि कोई रोटी छीनने की चेष्टा करता है तो कुत्ता उसे काटने दौड़ता है। प्रत्येक दशा मे क्रोध के उद्गम का कारण मूल प्रवृत्तियो का अवरोध ही देखा जाता है।

इसी तरह जब बालक की खाने की या खेलने की इच्छा का दमन किया जाता है तो उसे क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जब हम बालक से कोई खाने की चीज़ छुड़ा लेते है तो वह क्रोधित हो जाता और रोने लगता है। इसी तरह जब हम बालक की इधर-उधर घूमने की इच्छा को तृप्त नहीं होने देते तो वह रोकर अपना क्रोध प्रकट करता है।

क्रोध का स्वरूप—जब किसी प्राणी को क्रोध हो जाता है तो उसके शरीर और मन मे विशेष प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। उसकी शारीरिक चेष्टाएँ भी विशेष प्रकार की हो जाती है। जिस समय मनुष्य क्रोध के आवेश मे होता है, उसका ओठ काँपने लगता है, मुँह सूख जाता है, चेहरा लाल पड़ जाता है

और हृदय की गति तेज़ हो जाती है। पेट में एक विशेष प्रकार की वेदना का अनुभव होता है। अधिक क्रोध की अवस्था में मनुष्य का सारा शरीर कॉपने लगता है। उसे देखकर दूसरे प्राणी को डर लगता है। दाँतो का कटकटाना, हाथो-पैरो का पटकना इत्यादि मनुष्य को भयावना बना देते है। कोई-कोई प्राणी क्रोधा-वेश मे छाती ठोंकते है और जोर से चिल्लाते है। इन सब चेष्टाओं का आन्तरिक अर्थ अपने विरोधी को भय दिखलाना होता है। क्रोध का अवस्था मे मनुष्य की ग्रन्थियाँ विशेष प्रकार का कार्य करने लगती है। इस अवस्था मे एड्रिनल नामक गाँठो से एक उत्तेजक पदार्थ पैदा हो जाता है। यह पदार्थ जब हमारे रक्त मे मिलता है, तब मनुष्य को विशेष प्रकार की शक्ति का अनुभव होने लगता है। जो कार्य साधारण अवस्था में उसे असम्भव दिखाई देते है उन्हीं को क्रोध की अवस्था मे वह सर-लता से कर लेता है। इस समय मनुष्य को यदि किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट हो, उसे चोट लग जाय तो वह उस कष्ट का अनुभव नही करता। इसका मुख्य कारण एड्रिनलीन से पैदा हुई उत्तेजना ही है। इसके नशे मे मनुष्य अपने दुःखो को क्षण भर के लिए भूल जाता है।

क्रोध से हानि—जहाँ क्रोध की अवस्था में शरीर मे शक्ति पैदा करनेवाले उत्तेजक पदार्थों का सचार होता है वहाँ शरीर को सदा स्वस्थ रखनेवाले पदार्थों का शोषण भी होता है। इस अवस्था मे वे गाँठें काम नहीं करतीं, जिनसे हमारे मुँह में लार आती है और जिनसे पैदा किये रस से भोजन पचता है। इतना ही नहीं, इनको अपना काम करने की साधारण योग्यता को क्रोध और भय की अवस्था से बड़ी क्षति पहुँचती है। यदि कोई व्यक्ति बार बार इन संवेगो के आवेश मे आता है तो उसकी सारी शारीरिक शक्ति विनष्ट हो जाती है। क्रोध की अवस्था में कुछ ऐसे जहरीले पदार्थों का रक्त मे सञ्चार हो जाता है, जिससे मनुष्य का स्वास्थ्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

देखा गया है कि कितने ही क्रोधी व्यक्ति सिरदर्द, कब्ज़, हृदय की धड़कन इत्यादि रोगो से पीड़ित रहते हैं। कोई भी

क्रोधी व्यक्ति स्वस्थ नहीं रह सकता। जिस व्यक्ति को किन्हीं परिस्थितियो के कारण बार बार क्रोधित होना पड़ता है उसका स्वभाव एक विशेष प्रकार का हो जाता है, जिसको बदलना असम्भव है।

बालक के क्रोध की विशेषता और उनका नियन्त्रण—क्रोध के लक्षण, जिन्हे हमने ऊपर बतलाया है, प्राय: बालको के क्रोध मे नहीं पाये जाते। विशेष कर शिशु की क्रोधित अवस्था मे तो इनका पूर्णतया अभाव ही देखा जाता है। बालक के पास अपने क्रोध को प्रकाशन करने का एकमात्र साधन रोना ही है। जब बालक सशक्त हो जाता है तब दूसरो को मार देता है। पर अपनी असहाय अवस्था मे वह रोकर ही अपने क्रोध को प्रदर्शित करता है। जब बालक अधिक क्रोधी होता है तो जमीन पर गिर पड़ता है, इधर-उधर हाथ-पैर पटकने लगता है। इसे बालक का मचल जाना कहते है। बालक के मचल जाने से माता-पिता दुखी हो जाते है, अपना दु:ख मिटाने के लिए बालक को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं।

यहाँ इस बात को ध्यान मे रखना आवश्यक है कि बालको के क्रोध की चेष्टाएँ वैसी ही होती है जैसी कि निर्बल असहाय प्रौढ़ व्यक्तियो की। क्रोध का लक्ष्य दूसरे को दु:ख देना होता है। पर जिस समय कोई क्रोध की अवस्था मे दूसरे को दु:ख नही दे पाता उस समय वह स्वय अपने आपको दु.ख देने लगता है। क्या हमारे देखने मे यह नही आया कि क्रोध की अवस्था मे मनुष्य अपने सिर मे पत्थर मार लेता है ?

आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र ने अनेक प्रयोगो द्वारा सिद्ध किया है कि मनुष्य की आत्मघात और परघात की प्रवृत्तियो का उद्गम-स्थान एक ही है। वास्तव में उक्त दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ एक ही प्रवृत्ति के दो रूप है। दूसरे को मारने की प्रवृत्ति की गति जब बाह्य परिस्थितियो के कारण अवरुद्ध हो जाती है तो आत्महत्या करने की प्रवृत्ति मे परिणत हो जाती है। इसी तरह आत्मघात की प्रवृत्ति भी परहत्या मे परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित हो जाती है। बालक अपने क्रोध से स्वयं अपना ही नुकसान करता है। उसका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। जो माता-पिता बालक को सन्तुष्ट करके नहीं रखते, उसके रोने पर ध्यान नही देते वे उसको भारी

मानसिक एवं शारीरिक क्षति पहुँचाते हैं। कभी कभी बालक किसी विशेष प्रकार का असन्तोष प्रकट करने के लिए इतना रोता है कि काला पड़ जाता है और कभी कभी मिनटों तक साँस नहीं लेता। बालक की इस प्रकार की दशा होना उसके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बड़ा हानिकर है। कोई कोई माता-पिता बालक को इतनी देर तक रोने देते है जिससे उसका क्रोध अपने आप शान्त हो जाय। इस प्रकार बालक के क्रोध पर विजय प्राप्त करना उसके व्यक्तित्व का सर्वनाश करना है। ऐसा बालक स्वाभिमानी और आशातीत व्यक्ति कदापि न बनेगा।

बालकों का भय

भय का स्वरूप—भय एक ऐसा मानसिक उद्वेग है जो सभी प्राणियों के जीवन मे रहता है। इसे प्रकृति ने प्राणियों के मन में आत्म-रक्षा के लिए स्थापित किया है। प्रत्येक प्राणी उन सभी परिस्थितियो से भयभीत हो जाता है, जिसमे उसको किसी प्रकार की हानि की सम्भावना होती है। भयातुर होने के कारण ही वह अपने बचाव का उपाय सोचता है और प्रतिकूल परिस्थितियों से अपने आपको मुक्त करता है। सामान्य भय हमें उन परिस्थितियों में पड़ने से बचाता है जिनके कारण हमें किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना हो। भय के कारण ही बिल्ली कुत्ते के पास नहीं जाती और चिड़ियाँ बिल्ली या न्यौले को देखते ही उड़ जाती हैं। किसी भी देहधारी प्राणी को निर्भीकता नहीं प्राप्त होती। किसी न किसी प्रकार का भय सबको रहता है। वास्तव में मनुष्य के जीवन में भय का होना निन्दनीय नहीं। जिस प्राणी को भय नहीं है वह अपनी रक्षा की चेष्टा भी नहीं कर सकता।

भय आनेवाले दुःख का संकेत करनेवाला संवेग है। मनुष्य सदा दुःख से बचना चाहता है, और सुख की खोज मे रहता है। मनुष्य के मन मे जब यह प्रतीति होती है कि मुझे किसी विशेष प्रकार का दुःख होने की पूरी सम्भावना है तब वह भयभीत होता है। मृत्यु भी अत्यन्त दुःखदायक स्थिति है, तभी तो मनुष्य मृत्यु के विचार से अत्यन्त भयभीत होता है।

भय की अवस्था मे जिन जिन असाधारण कार्यों को मनुष्य कर सकता है, वे कार्य सावारण अवस्था मे सम्भव नहीं। हमारे सवेग हमारे स्वभाव मे विशेष प्रकार का वल पैदा कर देते है। इस कारण हम इन संवेगो की अवस्था मे असाधारण कार्य कर सकते हैं। किन्तु जव कोई सवेग अत्यधिक हो जाता है तो वह हमारे हृदय को वलवान् न वनाकर निर्वल कर देता है। भय का भी यही हाल है। जव तक भय सीमित और विचारमय रहता है तव तक वह प्राणी को वहुत लाभ पहुँचाता है। किन्तु जव भय की मात्रा अत्यधिक हो जाती है तव वह प्राणी को नुकसान पहुँचाती है। भयभीत होने पर प्राणियो की वुद्धि नष्ट हो जाता है और वे कुछ का कुछ करने लगते हैं, जो उन्हें नाश की ओर ले जाता है।

वालक के जीवन मे साधारण भय का होना जीवन-निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वालक भय के कारण न तो आगन्तुक के पास एकाएक चला जाता है और न अकेला घर से भाग जाता है। वह सदा अपने घर के लोगो के आस-पास रहता है और उनको देखकर अपना आचरण वनाता है। वालक मे विचार करने की शक्ति परिमित रहने के कारण वड़ो के अनुकरण से ही वह अपने जीवन के कार्य सीखता है और दु.खद परिस्थितियो से अपने को वचाता है।

भय और शारीरिक क्रियाएँ—ऊपर कहा जा चुका है कि किसी प्रकार के संवेग से उत्तेजित होने की अवस्था मे मनुष्य के शरीर में विशेप प्रकार की प्रक्रियाएँ होने लगती है। भय की अवस्था मे चेहरा पीला पड़ जाता है, ओठ और मुँह सूख जाते हैं। अधिक भय होने पर मुँह से वात नहीं निकलती। हृदय जोर से धड़कने लगता है। जो कुछ भी उस समय मनुष्य को सूझ जाय, उसे वह करने के लिए उद्यत हो जाता है। जैसे क्रोध की अवस्था मे हमारे शरीर की ग्रन्थियाँ (ग्लेण्ड) विशेष कार्य करने लगती है, वैसे ही भय की अवस्था मे भी विशेष कार्य होने लगते हैं। एड्रिनल ग्रन्थियों एड्रिनलीन पदार्थ को पैदा कर देती है जिससे प्राणी मे परिस्थिति का सामना करने

के लिए विशेष प्रकार की शक्ति आ जाती है। साथ ही साथ मन को प्रसन्न रखनेवाली ग्रन्थियाँ अपना कार्य्य बन्द कर देती है। अतएव भय की अवस्था मे किसी प्रकार के आनन्द नहीं सुहाते।

जिस व्यक्ति को अनेक प्रकार के भय घेरे रहते हैं वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। उसका स्वास्थ्य अपने आप नष्ट हो जाता है। बीमारी के भय से पीड़ित व्यक्ति बीमारी का आह्वान करता रहता है। उस भय के कारण उसके शरीर का बल घट जाता है। उसके रुधिर के कीटाणुओ में, बीमारी के कीटाणुओं के साथ लड़ाई करने की शक्ति नही रह जाती। अतएव सरलता से बीमारी के कीटाणु उन पर विजय प्राप्त कर लेते है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि बालको के मन में बार बार भय उत्पन्न करना, उनके साथ बड़ा अन्याय करना है। इससे उनकी शारीरिक और मानसिक शक्ति का जो क्षय होता है उसकी पूर्ति किसी प्रकार करना सम्भव नहीं। बालपन मे जिस बालक को सदा भय की अवस्था में रहना पड़ता है, वह वीर कदापि नही हो सकता। न उसे मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त हो सकता है, न शारीरिक।

भय के प्रकार—भय दो प्रकार के होते है, जन्मजात[1] और अर्जित[2]। जन्म से बालक थोड़ी सी बातो से डरता है। किन्तु भिन्न भिन्न परिस्थितियों मे रहने के कारण वह अनेक प्रकार की बातों से डरने लगता है। बालक स्वभावत: अन्धकार से नहीं डरता पर जोर से होनेवाली आवाज़ से वह डर जाता है। अन्धकार मे जब कोई आवाज़ जोर जोर से सुनाई देती है, तो वह अन्धकार से भी डरने लगता है।

बालक के जन्मजात भय का सम्बन्ध जब किसी विशेष परिस्थिति द्वारा हो जाता है, तो वह इस परिस्थिति से डरने लगता है। अर्जित भय का दूसरा कारण बालक का दुःखदायी अनुभव होता है। जिस वस्तु से बालक को कष्ट पहुँचता है, उससे वह डरने लगता है।

---

1 Inborn. 2 Acquired

भय के प्रयोग—वाटसन महाशय ने भय की उत्पत्ति के विषय मे कुछ मौलिक प्रयोग किये है। उनमें से एक प्रयोग को यहाँ उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा। इस प्रयोग से अर्जित भय का कारण स्पष्ट हो जाता है:—

वाटसन महाशय ने देखा कि एक नौ महीने का बालक आग की लपट, कुत्ते, बिल्ली आदि किसी से नही डरता है। जब उसके सामने ये चीजें लाई गईं तो उनसे पीछे हटने के बदले वह उन्हे लेने के लिए झपटा। किन्तु उसी बालक ने जब सहसा एक घटे की आवाज सुनी तब उसके सारे शरीर और मुख पर भय के लक्षण दिखाई पड़े। इससे यह सिद्ध हुआ कि बालक जोर की आवाज़ से स्वभावतः डरता है। एक बार यह बालक एक खिलौने से खेल रहा था। इतने मे उसके सामने एक खरगोश, जिससे वह भली भाँति परिचित था, लाया गया। बालक तुरन्त उस खरगोश की तरफ बढ़ा। इतने मे किसी ने पीछे से घण्टा बजा दिया। घण्टे की आवाज सुनते ही वह चौंक पड़ा। फिर वह खरगोश की तरफ न बढ़ा। दूसरी बार जब फिर खरगोश उसके सामने लाया गया तो वह फिर पहले की भाँति खरगोश को पकड़ने दौड़ा। इस बार फिर एकाएक घण्टे की आवाज कर दी गई। वह अब भयभीत हो गया। उसके मुँह पर भय के चिह्न थे। फिर जब कभी खरगोश को बालक के पास लाया जाता था, वह उसे देखकर भयभीत हो जाता था। इस प्रकार खरगोश, जो बालक के भय का पदार्थ नहीं था, एक भयकारी पदार्थ के साथ बालक के मन मे सम्बद्ध हो जाने के कारण भय का पदार्थ बन गया।

बालकों के अवांछनीय भयों के कारण—माता एवं दाइयो की नासमझी के कारण बालक के भय के पदार्थों की संख्या बढ़ जाती है। बालक के मन मे भय-भाव उत्पन्न करके जो बात कही जाती है वह भय का कारण बन जाती है। इस तरह बालक अनेक जानवरो और स्थानो से डरने लगता है। माताएँ और दाइयाँ बालको को कितनी ही ऐसी कहानियाँ सुनाती हैं, जिनमे भूत, प्रेत, पिशाच आदि के भयावने स्वरूप का वर्णन

किया जाता है। कभी-कभी बालक को कह दिया जाता है कि अमुक स्थान पर भूत रहता है। बस, बालक उस स्थान से भी डरने लगता है।

ऐसा ही बालक का हौवा का भय है। पहले हौवा की भयानकता को माताएँ बालकों के समक्ष रखती है और फिर वे उसे भिन्न भिन्न स्थानों मे रहता हुआ बताती है। जब रात हो जाती है तो रोते हुए बालक को चुप करने के लिए माताएँ कहती है कि 'चुप रहो, चुप नहीं तो तुम्हे हौवा पकड़ ले जायगा'। इस तरह बालक के मन में सदा के लिए हौवा का भय बैठ जाता है। जब बालक बड़ा हो जाता है तब भी वह भय उसके हृदय से नहीं निकलता। अब वह हौवा से तो नहीं डरता, किन्तु किसी अज्ञात परिस्थिति मे पड़ने से उसे अत्यधिक भय होता है। भय की वृत्ति एक बार मन मे आ जाने से वह किसी न किसी पदार्थ को अपना विषय बना लेती है।

अनुभवजात भय—हमने ऊपर अर्जित भय का दूसरा कारण बालक का दुःखदायक अनुभव बतलाया है। कहा जाता है कि 'दूध का जला फूँक फूँककर मट्ठा पीता है।' बालक आग के समीप आने से नही डरता, वरन् जलते हुए दीपक को देखकर उसे पकड़ने दौड़ता है, किन्तु जब वह एक बार आग से जल जाता है तब फिर उसे देखकर भागने लगता है*।

बालक की बुद्धि प्रवीण न होने के कारण वह उस पूरी परिस्थिति से ही डरने लगता है जिसमे उसे किसी प्रकार का दुःख हुआ हो। संवेगो का यह स्वभाव है कि वे उसी पदार्थ तक

---

*लेखक की बालिका शान्ति जब १० महीने की थी, लालटेन को देखते ही उसे पकड़ने के लिए दौड़ पड़ती थी। उसकी माँ ने बहुत प्रयत्न किया कि वह लालटेन से न जल जाय। लेखक ने एक दिन शान्ति को लालटेन के पास जाने दिया और उसकी एक अँगुली को गरम लालटेन से छुआ दिया। जब अँगुली कुछ जली तो वह दर्द के मारे रोने लगी। तब से वह लालटेन के पास कभी नहीं जाती। वरन् जब उसके पास लालटेन लाई जाती है तो वह दूर भाग जाती है।

सीमित नहीं रहते जो उसके वास्तविक कारण होते है, किन्तु वे उन सब पदार्थों पर आरोपित हो जाते है जो उस कारण से किसी प्रकार सम्बन्धित हो जायँ। यदि किसी बालक को पाठ-शाला पहुँचने पर पाठिका मिठाई देती है तो यद्यपि बालक की प्रसन्नता का कारण मिठाई होगी तो भी बालक के प्रेम का प्रसार पाठशाला के सब व्यवसायों तक चला जायगा और उसे पढ़ना लिखना सभी अच्छा लगेगा। यदि बालक को पाठशाला जाने पर किसी कारण से पीटा जाय तो वह न केवल पाठशाला को घृणा की दृष्टि से देखेगा, वरन् उसे पढ़ना-लिखना सभी अप्रिय हो जायगा।

उपर्युक्त सत्य रामकृष्ण खद्दर जी के बाल-हित मे प्रकाशित निम्नलिखित उदाहरण से भली भाँति प्रकट होता है:—

"प्रभा जब केवल ६ वर्ष की थी तब उसने एक भयानक स्वप्न देखा। दूध की गाड़ी मे एक घोड़ा जुता हुआ था। वह एकाएक भड़क गया और पागल की तरह इधर-उधर दौड़ने लगा। सड़क के आदमी भी डरकर इधर-उधर भागने लगे। दूध की गाड़ी उलट गई। दूध की बोतलें टूट फूट गईं। सड़क पर दूध बहने लगा। घोड़ा जङ्गले मे जकड़ा बेतरह हिनहिना रहा था। इस दृश्य को देखकर प्रभा एकदम घर से भागी, उसका चेहरा पीला पड़ गया। मुँह से आवाज तक न निकलती थी। उक्त दृश्य ने हमेशा के लिए उसके दिमाग मे घर कर लिया। उसने स्कूल जाने से इन्कार कर दिया। यहाँ तक कि वह उस सड़क से नहीं गुजरती थी। सोते समय उसे सपने दिखाई देते थे जो उसी दृश्य से सम्बन्धित होते थे।"*

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि बालक उन सभी परि-स्थितियों से भयभीत होने लगता है जो उसके भय के वास्तविक कारण से सम्बन्धित हो। यदि बालक को पाठशाला जाने मे किसी प्रकार का दुःख हो जाय तो वह पाठशाला जाने से डरने लगता है।

बालक के भय की विशेषताएँ—बालक के भय की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं, जिन पर अभिभावकों को भली भाँति ध्यान

---

* बालहित—नवम्बर १९४०।

देना चाहिए। इनको न जानने के कारण हम अपने आचरण से बालक के भावी जीवन को अत्यन्त दुःखदायक बना देते है। बालक के अनेक भय न तो जन्मजात ही होते है और न अनुभवजन्य। उसके अधिक भय उसके साथियो तथा अभिभावकों द्वारा पैदा किये रहते है। दूसरे लोग बालक के मन में दो प्रकार से भय उत्पन्न करते है। पहले तो वे जान-बूझकर बालको को डरवाने के लिए भय उत्पन्न करते है। ऐसे भय बालक को किसी अनुचित कार्य से रोकने के लिए पैदा किये जाते है। इस प्रकार के भय की सख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है। दूसरे प्रौढ़ लोग अपनी भय-भावना का संचार अपने सपर्क से बालको के मन मे कर देते है। जिस बालक की माँ भूतो से स्वयं डरा करती है वह अज्ञात रूप से अपने बच्चे के मन मे यह भाव उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार बालक के मन मे अनेक भय स्थान पा लेते है। जिस बालक को पालनेवाली माताएँ या दाइयाँ मूर्ख होती है उस बालक के मन मे उपर्युक्त दोनो प्रकार के भयो की सख्या अत्यधिक हो जाती है। कितने खेद की बात है कि हमारे प्रायः सभी बालको का कोमल जीवन मूर्खों को सगति मे बीतता है। भारतवर्ष मे विरली पढ़ी-लिखी अथवा बाल-मनोविज्ञान को जाननेवाली माताएँ है। जो माताएँ पढ़ी-लिखी भी है वे अपने बालको को मूर्ख दाइयो के हाथो सौप देती है, ताकि वे अपना समय और किसी काम मे व्यतीत करें, जिसे वे मूल्यवान् समझती है। इससे यदि शिक्षित घरो के बालक डरपोक, दुराचारी हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या? बालक का प्रारम्भिक जीवन जिस प्रकार के वातावरण मे व्यतीत होता है, वैसा ही उसका भावी जीवन बन जाता है।

बालक के भय की दूसरी विशेषता यह है कि हम उसका विचार द्वारा निवारण नही कर सकते। बालको के कितने ही भय अकारण होते है। किन्तु इन भयों को बालक के मन से निकालना बड़ा ही कठिन है। प्रौढ़ व्यक्तियों मे कारण-कार्य-सम्बन्ध पर विचार करने की शक्ति होती है, अतएव उन्हे अविचार से उत्पन्न हुए भयों से विचार द्वारा मुक्त किया जा सकता है। बालक

मे यह शक्ति ही नहीं रहती, तब फिर उसे भय की वृत्ति से मुक्त करना प्राय: असम्भव हो जाता है।

बालक के भय की तीसरी विशेषता उसकी जटिलता है। बाल्य-काल के भय का प्रभाव मनुष्य के प्रौढ़ जीवन पर पड़ता है। बाल्यकाल के अनुभवो की स्मृति मनुष्य की व्यक्त चेतना से लुप्त होने पर भी सदा उसके अज्ञात मन मे वर्तमान रहती है। भयकारी अनुभव के संस्कार एक भावना-ग्रन्थि के रूप मे परिणत हो जाते है जिनकी खोज करना बड़ी भारी मनोवैज्ञानिक समस्या हो जाती है। इन ग्रन्थियो के कारण प्रौढ़ व्यक्ति के आचरण विशेष प्रकार के हो जाते हैं। इसका एक उदाहरण यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

लार्ड राबर्ट एक भारी योद्धा थे और उन्होने कई बड़े युद्धो मे विजय पाई थी। पर कहा जाता है कि वे बिल्ली से बहुत डरते थे। बिल्ली को उनके कमरे मे न जाने देना उनके बाडीगार्डों का एक प्रधान कार्य था। बिल्ली को देखते ही लाट साहब की बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती थी। कारण का अनुसन्धान करने पर पता चला कि जब वे बहुत छोटे बालक थे, तब एक बिल्ली ने उन्हे धर दबाया था। उसने उन्हे जोर से नोच लिया था। बड़े होने पर वह बचपन की घटना तो उन्हे याद नही रही, पर बिल्ली का भय उनके अव्यक्त मन मे बना ही रहा। इस भय का निवारण तर्क द्वारा भी नहीं हो सकता था, क्योकि उसकी जड़ अव्यक्त मन मे थी। हम ज्ञात मन की अवा-ञ्छनीय घटनाओ का निवारण तर्क द्वारा कर सकते हैं पर अव्यक्त मन की भावनाओ का निवारण इस प्रकार नही किया जा सकता।

कितने ही लोग आपको ऐसे मिलेगे जो उड़ते हुए पतिङ्गो, छिपकलियो और रेंगते हुए जन्तुओ से असाधारण रूप से डरते है। इसका कारण बचपन के सस्कार ही हैं। कभी कभी भय का विषय बदल जाता है। एक विषय का भय किसी दूसरे विषय पर आ जाता है। जैसे शिक्षक का भय अफसर के भय मे रूपान्तरित हो जाता है। इसी तरह भूत और हौवा का भय, अज्ञात का भय बन जाता है।

भय-निवारण के उपाय—हमने ऊपर भय के स्वरूप और उसके कारणों को सक्षेप में बताया है। इन पर विचार करने से भय के निवारण के उपाय भी हमें सूझ जाते है। यहाँ पर हम कुछ उपायों पर विचार करेंगे।

कुसंस्कारों से बचाव—भय एक बीमारी के समान है, जिससे मुक्त रहने के लिए उपचार की अपेक्षा उसे आने से रोकना अधिक लाभदायक है। जब एक बार कोई बीमारी हमारे शरीर को पकड़ लेती है, तब उससे छुटकारा मिल जाने पर भी वह कुछ न कुछ अपना प्रभाव हमारे शरीर पर छोड़ जाती है। यही भय के विषय में होता है। हमे बालक को ऐसे वातावरण मे रखना चाहिये, जिससे उसके मन मे निरर्थक भय उत्पन्न ही न हो। इसके लिए हमे माताओ और दाइयो को शिक्षित बनाना होगा। यदि हम संसार के निर्भीक वीर पुरुषो की जीवनियाँ देखे, तो हम उनके जीवन को मूल्यवान् बनाने मे उनकी माताओ और दाइयो का हाथ हो पायेंगे। शिवाजी, नेपोलियन या वाशिंगटन किसी की जीवनी को देखिए, आपको बालक की माता का हाथ ही दैवी सम्पत्ति का उत्पादक मिलेगा। अतएव माताओ और दाइयों को शिक्षित बनाना हमारा पहला कर्तव्य है जिससे बालक के मन मे ऐसे कुसंस्कार न पड़ें, जिनके कारण वह छोटी छोटी बातो से डरने लगे।

साहस की वृद्धि—भय मानसिक निर्वलता का प्रतीक है। मनुष्य का मन वातावरण से दुर्वल अथवा सवल वन जाता है। भय के किस्से-कहानियाँ मन को दुर्वल बनाती हैं। साहस के काम की कहानियाँ उसे वल प्रदान करती है। यदि कायर को भी किसी वीर पुरुष की सङ्गति में रख दिया जाय, तो वह वीर वन जायगा। देर तक हमारी भावना जैसी रहती है वैसा ही हमारा स्वभाव भी हो जाता है। डरपोक लोगो की कहानियाँ सुननेवाले वालक डरपोक वन जाते हैं और वीर पुरुषो की कहानियाँ सुननेवाले वीर वन जाते हैं।

वालक किसी विशेष परिस्थिति से डरे, तो उसको हिम्मत बँधानी चाहिये। उसे अपने वल का वोध कराना चाहिये। यदि

कोई बालक बिल्ली से डरता है तो उसके हाथ में लाठी दे दें और कह दे कि जाओ, बिल्ली को मारो। हम उसके सामने बिल्ली को मार भगावें। बालक जब इस प्रकार बिल्ली की निर्बलता, और अपने बल से परिचित हो जायगा, तो फिर कभी अकारण बिल्ली से भयभीत न होगा। इसी तरह बालक के अन्य भयो को दूर किया जा सकता है।

विचार की वृद्धि—निरर्थक भय का निवारण विचार के द्वारा किया जा सकता है। वास्तव मे बालक को ज्योंही कारण-कार्य-परम्परागत विचार करने की योग्यता प्राप्त होती है, उसके अनेक भय नष्ट हो जाते है। बालक बादल की कड़क से डरता है। वह सोचता है कि कोई राक्षस चिल्ला रहा है। किन्तु जब वही विचार के द्वारा यह जान लेता है कि यह एक प्राकृतिक घटना है तो उसका भय नष्ट हो जाता है।

विज्ञान की शिक्षा से मनुष्य के अनेक भय दूर हो जाते हैं। हमारे अनेक भयो का कारण हमारा अज्ञान ही है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अँधेरे में दीखनेवाले अनेक आकृतियो के भयावने पदार्थ लुप्त हो जाते है उसी प्रकार मन में ज्ञान के आते ही अज्ञान-जन्य अनेक भय नष्ट हो जाते है।

बालक जब किसी नई अथवा अपरिचित चीज़ से डरता है तो उसका उस चीज़ से परिचय करा देने पर भय नष्ट हो जाता है। यह परिचय कराने का कार्य धीरे-धीरे करना चाहिये। 'बाल-हित' मे दिये हुए निम्नलिखित प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है :—

"सुषमा ख़रगोश से बहुत डरती थी। जहाँ ख़रगोश दिखाई देता, वह भाग जाती। उसको ख़रगोश की बहुतेरी कहानियाँ सुनाई गई। उसको एक बार गोदी मे ले जाकर बच्चों को ख़रगोश से खिलवाड़ करते दिखलाया गया। फिर फुसलाकर उसका हाथ ख़रगोश पर फिरवाया गया। एक दिन उसके हाथ से ख़रगोश को दाना डलवाया गया। दूसरे दिन ख़रगोश को उसकी गोद मे बिठा दिया गया। सुषमा को पता चल गया कि ख़रगोश कोई डरने की चीज़ नहीं है।"

उपर्युक्त प्रयोग में बालक के ज्ञान और साहस दोनों बढ़ाये गये। इस तरह हम बालक के अनेक डरों को उसके मन से निकाल सकते हैं* ।

रेचन—हम बालक का साहस और ज्ञान बढ़ाकर व्यक्त मन के भय को नष्ट कर सकते हैं, किन्तु इन उपायों से बालक के अज्ञात मन के भय का नाश नहीं किया जा सकता। जब वह एक भावनाग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है तो बालक को उससे मुक्त करना जटिल समस्या बन जाती है। बालक ऐसी अवस्था मे उसी पदार्थ से नहीं डरता, जिससे उसको प्रथम भय उत्पन्न हुआ है वरन् वह अनेक नये कल्पित पदार्थों से डरने लगता है। वह उस भय को पैदा करनेवाली घटना को बिल्कुल ही भूल जाता है। उसकी व्यक्त चेतना ऐसे भय को अपने समक्ष आने नहीं देती। प्रयत्न करने पर भी इस भय का कारण बड़ी खोज के बाद ज्ञात होता है।

इस प्रकार का भय मानसिक रेचन द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। चित्तविश्लेषण-विज्ञान ने इस ओर बड़े महत्त्व का

---

* यहाँ उक्त पत्रिका से एक दूसरे प्रयोग का उद्धरण अवाञ्छनीय न होगा :—

"एक माँ मेरे पास एक लड़की को बार-बार लाती और पूछती कि यह लड़की सोते-सोते कुत्ते के सम्बन्ध में बड़े भयानक स्वप्न देखती है। इसका क्या इलाज है? तीसरे दिन जब वह आई तो उसने साफ़-साफ़ बताया कि वह बचपन में बड़ी नटखट थी। कभी कहना नहीं मानती थी। माँ ने उसे कुत्तों से डरवा दिया। जब वह आज्ञा नहीं मानती, उसे कुत्ते से डरा दिया जाता। माँ ने बताया कि इस प्रकार वह कहना मानने लगी। ऐसा प्रयोग तीन साल की लड़की पर किया गया था। अपने कार्य में तो माता ने सफलता प्राप्त कर ली, लेकिन लड़की के दिमाग़ पर बहुत बुरा असर पड़ा। यह बुरा असर बालिका को साहस दिलाकर, कुत्ते के पास ले जाकर निकाला जा सका। लड़की जब एक कुत्ते को प्यार करने लगी, उसका कुत्तों के प्रति भय जाता रहा।"

कार्य किया है। मन के भीतर दबी हुई किसी पदार्थ के प्रति भय-भावना का स्मरण चित्त-विश्लेषण द्वारा कराया जाता है। इस भावना की स्मृति होते ही उस पदार्थ के प्रति बालक का भय नष्ट हो जाता है। हम प्रायः ऐसी बातो की चर्चा करने से बालक को रोक देते है जिससे उसके मन मे भय पैदा हो सकता हो। इससे बालक निर्भीक नहीं होता, उलटे उसका भय एक ग्रन्थि बन जाता है। बालक जब किसी डरावनी बात की चर्चा करता है तो हम डाँटकर उसे चुप कर देते है; किन्तु ऐसा करके हम उसका लाभ नहीं, हानि ही करते है। ये भय उसके मन से नहीं जाते और उसे जीवन भर सताते है। बालक के मन में जो शंकाएँ उठें हमे उनका समाधान करना चाहिये। दबा हुआ उद्वेग मानसिक ग्रन्थि बन जाता है। इस ग्रन्थि से मन को रेचन क्रिया के द्वारा मुक्त किया जाता है, पर यह कठिन वैज्ञानिक कार्य है जिसे बिरले ही व्यक्ति कर सकते है।

स्वास्थ्यवर्धन—शरीर की अवस्था का मन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जब शरीर निर्बल होता है तब मन मे अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होते रहते है। जिस मनुष्य का हृदय कमजोर होता है, जिसे अधिक धड़कन होती है, उसका मानसिक अवस्था उसके शरीर के अनुसार बन जाती है। उसे साधारण सी घटनाओ से अत्यन्त भय होने लगता है। यदि उसको किसी प्रकार की शका हो जाय तो उससे उसे मुक्त करना असम्भव हो जाता है। इस कथन में मौलिक सत्यता है कि 'स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर मे ही रहता है।' अतएव हमे बालक को निर्भीक बनाने के लिए उसका शारीरिक वल बढ़ाना चाहिये। बालक प्रतिदिन व्यायाम करे और शरीर को स्वस्थ बनाने के अनेक प्रकार के कार्यों मे लगा रहे।

मानसिक व्यवसाय—अकारण भय उसी व्यक्ति के मन को सताते हैं, जो उद्योग-हीन रहता है। जो बालक सदा किसी न किसी काम मे लगा रहता है, उसे किसी प्रकार के भय का स्वागत करने की फुरसत ही नहीं रहती। ऐसे बालक के समीप भय आते ही नहीं। मानसिक व्यवसाय से बालक का मन

उसी प्रकार बली होता है जिस प्रकार व्यायाम से शरीर का बल बढ़ता है। बलवान् मन से भय अपने आप दूर रहते हैं। जिस मनुष्य का मन जितना निर्बल होता है उसे उतने ही अधिक भय सताते हैं। अतएव किसी प्रकार का अभ्यास जिससे मन वश मे रहे अथवा उसका बल बढ़े, बालक के मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभ-प्रद है।

अभिभावकों और शिक्षकों को चाहिये कि वे बालकों को सदा किसो न किसो उचित व्यवसाय मे लगाये रहे। इस प्रकार वे उन्हे हज़ारो अशुभ संस्कारो तथा सवेगो से बचा सकते है।

——

नवाँ प्रकरण

सीखना[1]

बालक के जीवन-विकास मे सहायता करने का भार जिन्होने अपने ऊपर लिया है उन्हे सीखने के नियमो से परिचित होना आवश्यक है। सीखने के नियमो तथा क्रम को जाने बिना हम बालको को अनेक प्रकार की क्षति पहुँचाते हैं। यदि उन नियमों का हमे भली भाँति ज्ञान हो तो हम बालक के जीवन-विकास मे बड़ी सहायता दे सकते हैं।

जानवरों का सीखना

प्राणियों के सीखने का क्रम इस प्रकार है। जब किसी प्राणी के बच्चे संसार की परिस्थितियो का सामना करते है तो वे उसमे अपने आपको सफल बनाने के लिए अनेक प्रकार के यत्न या भूलें करते है। जीवधारियो का एक मुख्य लक्षण यह है कि वे सदा क्रियात्मक रहते और आत्म-विकास का मार्ग ढूंढते रहते हैं। इस विकास के मार्ग को ढूँढ़ने मे प्रत्येक प्राणी को अनेक प्रकार की अड़चनो का सामना करना पड़ता है और अनेक भूलो के बाद ही वह अपनी कठिनाइयो को पार करने के लिए तथा सुचारु रूप से अपने जीवन-प्रवाह को बहाने के लिए मार्ग पाता है।

एक मुर्गी के बच्चे को देखिए। वह पैदा होते ही दाने चुगने का प्रयत्न करता है। किसी भी छोटी सी गोल गोल वस्तु पर वह अपनी चोच मारता है और उसमे अनेक भूलें करता है। जब वह अपनी माँ को छोटी छोटा सफेद वस्तुओ पर चोच मारते देखता है तो वह पहले पहल उसका अनुकरण मात्र ही करता है, परन्तु थोड़े समय के बाद उसे मालूम हो जाता है कि किस वस्तु

---

1 Learning

को चुगना चाहिये और किसको नहीं। वह सफेद कङ्कड़ियों को छोड़कर अन्न के दानो को चुगना सीख लेता है। इस तरह अनेक भूलों के बाद वह ठीक मार्ग पर आता है।

किसी क्रिया के सीखने में सन्तोष और असन्तोष का भारी महत्त्व है। जिस कार्य के करने में असन्तोष होता है प्राणी उसे करना छोड़ देता है और जिससे सन्तोष होता है उसे बराबर करता रहता है, अर्थात् उसकी प्रवृत्ति सन्तोष देनेवाले कार्य की ओर दृढ़ हो जाती है तथा असन्तोष देनेवाले कार्य की ओर निर्बल हो जाती है। मुर्गी का बच्चा जब कङ्कड़ पर चोंच मारता है तो उसे असन्तोष होता है पर जब दाने पर चोच मारता है तो सन्तोष होता है। इस तरह उसकी दाने पर चोच मारने की प्रवृत्ति दृढ़ होती है।

सीखने मे अभ्यास का भी भारी महत्व है। मुर्गी का बचा जब अनेक बार चुगने का अभ्यास करता है तो उसकी भूले क्रमशः कम होती जाती हैं; फिर वह दाने पर ही चोंच मारता है, कङ्कड़िया पर नहीं।

सीखने के नियम

इस तरह हमने देखा कि प्राणियो के किसी कार्य के सीखने मे तीन नियम कार्य करते हैं। पहला नियम प्रयत्न और भूलो[1] का है, दूसरा नियम सन्तोष और असन्तोष का[2] अथवा परिणाम का है, तथा तीसरा नियम अभ्यास[3] का है। जब कोई प्राणी नई परिस्थितियो मे पड़ जाता है तब वह उक्त तीन नियमो के अनुसार अपने आपको उस परिस्थिति के उपयुक्त बना लेता है। यदि हम किसी बिल्ली के बच्चे को एक पिंजड़े में बन्द कर दें जिसका दरवाज़ा सिटकनी के द्वारा खुलता हो तो बिल्ली का बचा अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार पहले सीकचो के बीच मे से निकलने का प्रयत्न करेगा, उसमे अपना

1. The Law of Tiial and Eiioi
2. The Law of Satisfaction and Dis-satisfaction or the Law of Effect.
3. The Law of Use.

पञ्जा डालेगा तथा यहाँ वहाँ पञ्जे मारेगा। वह इस प्रकार का प्रयत्न देर तक करता ही रहेगा। यदि उसका पञ्जा अकस्मात् सिटकनी के ऊपर पड़ जाय जिससे कि पिंजड़े का दरवाज़ा खुलता है तो वह इससे निकल भागेगा। अब यदि दूसरी बार उसी बच्चे को पिंजड़े में बन्द करें तो वह थोड़ी देर तक ही सींकचों के बीच में से निकलने का प्रयत्न करेगा, पर वह इस प्रकार के व्यर्थ प्रयत्न करने में उतना समय नहीं लगावेगा जितना उसने पहले लगाया था। वह थोड़ी देर में सिटकिनी की ओर जायगा और उसको हटाकर निकलने का प्रयत्न करेगा। यदि हम बिल्ली के बच्चे को पिंजड़े में पाँच या सात बार बन्द करें तो वह एकाएक सिटकनी हटाकर दरवाज़ा खोल लेगा और बाहर भाग जाना सीख जायगा।

यहाँ हम देखते हैं कि सीखने के तीनों नियमों ने काम किया। पहले पहल बिल्ली के बच्चे से अनेक भूलें हुईं। यदि वह प्रयत्न और भूलें न करता तो पिंजड़े के बाहर निकलना कदापि न सीखता। बिल्ली के बच्चे ने सन्तोष देनेवाले मार्ग को ग्रहण किया और असन्तोष देनेवाले मार्ग को छोड़ा। इस तरह सफल बनानेवाली बात के संस्कार उसके मन में दृढ़ हुए। फिर अभ्यास द्वारा इन संस्कारों को और भी दृढ़ किया गया जिससे उसका भूल करना बिलकुल बंद हो गया।

बालकों का सीखना

हम बालक के जीवन में भी सीखने के इन्हीं नियमों को कार्यान्वित होते देखते हैं। बालक स्वभाव से ही चंचल होता है। वह कुछ न कुछ करता रहता है; वह अनेक चीज़ों को हाथ में लेता और तोड़ता-फोड़ता है। हम बालक को सदा उठते, गिरते और दौड़ते देखते हैं। बालक को जितना ही अपने मनमाने काम करने दिया जाय वह उतना ही प्रसन्न रहता है। हम बालक की इन क्रियाओं को प्रायः निरर्थक समझते हैं। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। बालक की ये क्रियाएँ वास्तविकता से परिचित होने का प्रयत्न-मात्र हैं। इस प्रकार बालक

आत्मप्रकाशन करता है। अनेक प्रयत्नों और भूलों के बाद ही वह सुयोग्य आत्मप्रकाशन के मार्ग पर चलना सीखता है। यदि हम बालक की प्रयत्न करने की प्रवृत्ति को ही रोक दें तो उसके जीवन को निस्सार बना देंगे। बालक भूलें अवश्य करता है किन्तु जब तक वह भूलें न करेगा, कुछ भी न सीखेगा।

बालक जब चलने का प्रयत्न करता है तब थोड़ा चलकर गिर पड़ता है। वह पहले पहल हमारी सहायता से चलना सीखता है, किन्तु थोड़े ही समय में वह स्वावलम्बी बनने की चेष्टा करता है। इस स्वावलम्बन की चेष्टा मे भूलें होती हैं। परन्तु थोड़ा भी चल सकना जो बालक को आनन्द देता है उसके कारण उसके चलने की प्रवृत्ति दिन प्रति दिन दृढ़ होती जाती है और अनेक दिनो के अभ्यास के बाद वह चलना सीख लेता है। इसी प्रकार बालक संसार के अनेक पदार्थों का परिचय प्राप्त करता है। बालक जब चमकती हुई दीपशिखा को देखता है तब उसे पकड़ने के लिए पतंगे की भाँति दौड़ता है। वयस्क लोग प्राय: उसे इस चेष्टा से रोकने का प्रयत्न करते है परन्तु इससे बालक की लालसा घटती नहीं है। वह उस दीपशिखा को प्राप्त करने की और भी अधिक चेष्टा करता है। हम बालक को दुःखी नहीं होने देना चाहते, इससे उसे ऐसे कामो से रोकते रहते है। किन्तु इस तरह से बालक का अपने वातावरण से परिचय होना भी बन्द हो जाता है, वह नई बातें नहीं सीख पाता। हमारे अनेक प्रयत्न करने पर भी बालक की दीपशिखा को पकड़ने की प्रवृत्ति नहीं रुकती। किसी न किसी दिन वह उसे पकड़ ही लेता है जिससे उसे बड़ी पीड़ा होती है। अब यदि बालक के पास फिर दीपशिखा लाई जाय तो उसे देखकर बालक आकर्षित न होगा, वरन् जोर से चिल्लाने लगेगा। जिस कार्य्य के करने से हम उसको अनेक प्रयत्न करने के बाद भी नहीं रोक सके, उसी को बालक ने अपने आप छोड़ दिया। यह शिक्षा प्रकृति की देन है। किन्तु यदि हम प्राकृतिक नियम को जानते तो बालक को जितना दुःख हुआ, उतना न होता।

अभिभावको को चाहिये कि बालक को भूलें करने का अवसर दे परन्तु बालको के भूल करने के समय हमें उनके ऊपर दृष्टि रखनी चाहिये। समझदार माता-पिता बालक का हाथ दीपशिखा के पास ले जाते हैं। जब बालक दीपशिखा के ताप को अनुभव करने लगता है तो वह उसको पकड़ने की चेष्टा नहीं करता। थोड़े से ही अनुभव से वह सीख लेता है कि दीपशिखा पकड़ने की वस्तु नहीं है।

कितने माता-पिता मनोविज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण अपने बालको के विषय मे ऐसी अनेक भूलें करते है जिससे बालक वीर, साहसी, और उद्योगी न बनकर भीरु, निरुत्साही और निरुद्योगी हो जाते हैं। शिक्षको को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि बालक का सबसे बड़ा गुरु उसकी आत्मा ही है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा उसे दुःखदायक मार्ग पर जाने से रोकती रहती है और सुखदायक मार्ग पर जाने के लिए प्रोत्साहित किया करती है। शिक्षको का कार्य बालक को यही बता देना है कि कौन सा मार्ग दुःखदायक है और कौन सा सुखदायक। उसे मार्ग बताने के कार्य मे उतावला न होना चाहिये। किसी भी नई वस्तु की प्राप्ति का महत्व तब तक कुछ भी नहीं होता, जब तक कोई उसके लिए प्रयत्न न करे। जिस वस्तु को प्राप्त करने मे बहुत सी कठिनाइयाँ उठानी पडती है, वही मूल्यवान् समझी जाती है। बालक को अपने आप नई बात के सीखने मे हमे प्रोत्साहन देते रहना चाहिये। उसकी भूलो पर हँसने के बदले हमे उसकी विफलता के साथ सहानुभूति दिखानी चाहिये। बराबर प्रयत्न करने के लिए हमे उसे बढ़ावा देना चाहिये। अँगरेजी मे एक कहावत है "बराबर प्रयत्न करो, तुम्हे सफलता अवश्य मिलेगी" यह बात बालक के मन मे कूट कूटकर भरी जानी चाहिये।

जिस बालक का इस प्रकार से लालन-पालन किया जाता है, जिसे समय के पूर्व अपनी समस्या सुलझाने मे सहायता नहीं दी जाती, वह बालक स्वावलम्बी और उत्साही बनता है। हम राबर्ट ब्रूस, महाराणा प्रताप और शिवाजी का कथाएँ जानते है। उन्हे कितनी विफलताओ का सामना करना पड़ा था, परन्तु वे बच-

पन से ही इस प्रकार के वातावरण में रहे थे कि वे निरुत्साह नहीं हुए। यदि निराशा कभी आई भी तो साधारण सी घटनाओं ने उनके वीरभाव को फिर जगा दिया है। इस प्रकार बचपन के संस्कार हरएक व्यक्ति के जीवन-संग्राम में उसे सफली-भूत बनाने में सहायक होते है।

बालक और पशुओं के सीखने में भेद

बालक और पशुओं के सीखने में कुछ मौलिक भेद हैं। बालक सीखने में उतना समय नहीं लगाता, जितना कि दूसरे प्राणी लगाते है। उससे दूसरे प्राणियों की अपेक्षा बहुत कम भूलें होती है। मनोवैज्ञानिकों ने अनेक जानवरो पर सीखने के विषय में प्रयोग किये है। उन प्रयोगों से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों के सीखने की शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। कोई प्राणी अधिक भूलें करने के बाद किसी कार्य को करना सीखता है, कोई कम। जो प्राणी जितना ही बुद्धिमान् होता है वह उतना ही कम भूलें करता है। किसी भी प्राणी की बुद्धि का पता काम सीखने में भूलों की संख्या से चला सकते है। कई प्रयोगों से पता चला है कि जानवरों मे 'सुअर' सबसे मन्दबुद्धि है और बनमानुष सबसे अधिक होशियार।

बालक के सीखने की एक विशेषता यह है कि वह अपनी ही भूलो से लाभ नहीं उठाता बल्कि दूसरो की भूलो से भी लाभ उठाता है। बालक किसी कार्य को सीखने में प्रयत्न और भूल के उपाय को ही काम मे नहीं लाता वरन् वह दूसरो के अनुकरण*[1] से तथा समझ या सूझ[2] से भी काम लेता है। वास्तव मे यदि बालक मे

1 Learning through imitation 2 Learning through insight and understanding

* अनुकरण द्वारा सीखने के एक प्रयोग का उद्धरण यहाँ अवाञ्छ-नीय न होगा। हेगार्टी महाशय ने बनमानुष के सीखने की शक्ति जानने के लिए एक खोखले मे एक केले को रख दिया। केले को खोखले से

दूसरो का अनुकरण करने की प्रवृत्ति न होती, तथा उसमे समझ या सूझ के द्वारा काम करने की शक्ति न होती, तो वह कदापि वैसी उन्नति अपने जीवन मे न कर पाता, जैसी कि वह करता है। बालक जैसे वातावरण मे रहता है और जैसे उसकी बुद्धि के सामने समस्याऍ आती है वैसे ही उसके सीखने की शक्ति भी बढ़ती जाती है तथा उसके मन का विकास होता जाता है।

यर्किस, हेगार्टी, थानडाइक तथा ब्यूलर महाशय ने जानवरो और मनुष्यो के सीखने के विषय मे अनेक प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगो से पता चलता है कि दूसरे की भूलो से लाभ उठाने की शक्ति बनमानुष को छोड़कर दूसरे किसी जानवर मे नहीं रहती है। इसका प्रधान कारण उनमे विचार की कमी है। बालको मे विचार करने की शक्ति रहती है, अतएव वह न सिर्फ अनुकरण द्वारा दूसरो की भूलो से लाभ उठाता है वरन् बहुत से कार्यों के परिणाम को पहले से ही सोच लेता है। इस तरह वह प्रत्यक्ष प्रयत्न और भूले न कर विचार के द्वारा ही जीवन की अनेक समस्याओ को सुलझा लेता है। अनुकरण तथा सूझ द्वारा सीखने मे भेद यह है कि अनुकरण से बालक वही कार्य सीखता है जो वह दूसरो को करते देखता है। किन्तु सूझ के द्वारा वह ऐसे कार्य सफलता-पूर्वक करता है, जिनको न तो उसने पहले किया हो और न दूसरो को

निकालने के लिए बनमानुष ने अनेक प्रयत्न किये। पीछे उसने एक लकड़ी को खोखले में ठूँसकर केले को निकाल लिया। एक दूसरा बनमानुष पहले बनमानुप के प्रयत्नों को देख रहा था। जब उसे खोखले से केले को निकालना पड़ा तो उसने उस केले को निकालने मे कुछ भी देर न लगाई। एकाएक लकड़ी को खोखले मे ठूँसकर केले को निकाल लिया।

इसी प्रकार के प्रयोग जब बिल्ली, गिलहरी आदि जानवरों पर किये गये तो देखा गया कि वे दूसरों की भूलों से कुछ भी लाभ नहीं उठाते। उनकी भूलों की सख्या भी कही अधिक होती है।

करते देखा हो*। परिस्थितियो के अनुसार बालक मे सूझ से काम लेने की शक्ति की वृद्धि होती है। शिक्षकों को चाहिये कि बालकों को अपनी सूझ से काम लेने का अवसर दें।

सीखने में उन्नति

सीखने मे उन्नति कई बातो पर निर्भर रहती है जैसे—अभ्यास, रुचि, सीखने की रीति, पहले का अनुभव, सीखनेवाले की आयु, उसका शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य, सीखने का वातावरण आदि। भिन्न भिन्न व्यक्तियो की सीखने की शक्ति भिन्न भिन्न होती है और एक ही व्यक्ति के सीखने की शक्ति में समय तथा वातावरण के अनुसार भेद होते है। हम यहाँ पर कुछ ऐसी बातों पर विचार करेंगे जिनके कारण सीखने के कार्य्य में कठिनाई अथवा सुगमता होती है।

सीखने का पठार—अनेक मनोवैज्ञानिकों ने सीखने का वेग जानने के लिए बहुत से प्रयोग किये है। इस प्रकार के प्रयोग प्राय: उन विषयों के सीखने तक ही सीमित रहते हैं, जिनका लक्ष्य किसी हस्त-कला में दक्षता प्राप्त करना रहता है। इस प्रकार के प्रयोग टाइपिंग और तार देने के वेग पर किये गये है। इन प्रयोगों से ज्ञात होता है कि इन कलाओं के सीखनेवालो की उन्नति सदा एक सी नहीं रहती। पहले पहल तो सीखनेवाला

---

* बनमानुष के सूझ से काम लेने का एक प्रयोग इस प्रकार है—एक कमरे मे प्रयोगकर्ता ने कुछ केले एक ऊँची जगह से लटका दिये और बनमानुष को इस कमरे मे छोड़ दिया। यह बनमानुष केलो के पाने के लिए कई बार उछला-कूदा, पर न पा सका। कमरे मे एक सन्दूक था। वह उस सन्दूक को केलो के स्थान के पास लाया और उस पर चढ़कर केलों को पा गया। यदि बनमानुष को कमरे मे रक्खी लकड़ी मिल जाय तो भी वह ऊँचे स्थान से केलों को गिरा लेता है। इस प्रकार के कार्य सूझ के कार्य कहलाते हैं। मनुष्यो में ऐसे ही कार्यों की प्रधानता होती है।

बहुत उन्नति दिखाता है, पीछे उसके कार्य में जड़ता दिखलाई देने लगती है। इस अवनति-अवस्था को सीखने का पठार कहा जाता है। इस पठार को नीचे का चित्र स्पष्ट करता है—

सीखने का पठार
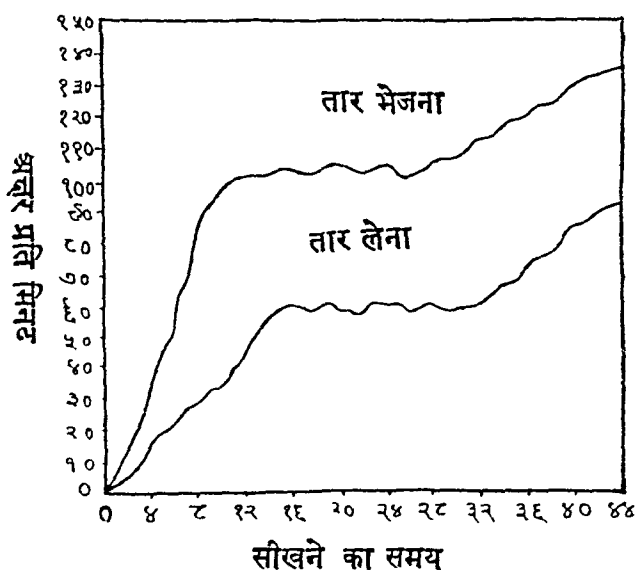
चित्र में ऊपर की रेखा तार भेजने की उन्नति को दर्शाती है और नीचे की रेखा तार लेने की उन्नति को। हम देखते हैं कि सीखनेवाला दस सप्ताहो तक बड़े वेग के साथ तार सीखने के कार्य में उन्नति दिखाता है, इसके पश्चात् उसकी गति रुक जाती है। दस सप्ताह के अभ्यास के पश्चात् वह ८० अक्षर प्रति मिनट भेज सकता था, किन्तु २०वे सप्ताह के अन्त मे भी उसका गति उतनी ही रही। चित्र मे इस काल को पठार के रूप मे दर्शाया गया है। यह पठार एक तरह अवनति का सूचक है। जब किसी कार्य को बार बार करने से मन ऊब जाता है, तो सीखने मे अवनति होने लगती है। कभी कभी सीखी बात को पक्की होने के समय में भी पठार की अवस्था आती है। जब काम मे नई

रुचि किसी कारण से प्राप्त हो जाती है अथवा जब पुराना सीखा कार्य पक्का हो जाता है, तो जड़ता की अवस्था का अन्त अपने आप हो जाता है। जड़ता की अवस्था का अन्त करने के लिए सीखने या सिखाने की रीतियों में सदा नवीनता लाते रहना चाहिये, तथा कोई न कोई ऐसे हेतु उपस्थित करते रहना चाहिये जिससे कि सीखनेवाला लगन के साथ अभ्यास करता रहे। देखा गया है कि सीखने के कार्य में उन्नति का कारण प्रायः हेतु ही रहता है। हेतु के अभाव में उन्नति भी अवनति के रूप मे परिणत हो जाती है।

सीखने में उन्नति के उपाय

ऊपर कहा जा चुका है कि सीखने में उन्नति कई बातों पर निर्भर रहती है। हमें उनको जानना अत्यावश्यक है। बालकों के सीखने में उन सब साधनो को उपस्थित करना आवश्यक है जिनसे कि सीखने में सुविधा हो। यहाँ हम उनमे से कुछ साधनों पर विचार करेंगे।

(१) सीखने की इच्छा—सीखना व्यक्ति की इच्छा और रुचि पर निर्भर रहता है। जिस बालक की इच्छा जिस विषय को सीखने की नहीं है, उसे वह सीखना असम्भव है। घोड़े को एक व्यक्ति भी जलाशय के पास ले जा सकता है, किन्तु बीस आदमी भी उसकी इच्छा के प्रतिकूल उसे पानी नहीं पिला सकते। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें हर एक विषय को बालकों के लिए रुचिकर बनाना चाहिये। ऐसा करने से ही हम उसे वह विषय भली भाँति सिखा सकेंगे।

(२) ज्ञान और क्रिया का सहयोग—बालकों के सीखने मे हमे सदा उनके मस्तिष्क और हाथ का सहयोग कराते रहना चाहिये। भाषा के पाठ में बालकों से लिखाना उतना ही आवश्यक है, जितना कि पढ़ाना। भूगोल के पाठ में नक्शा खिंचवाना, इतिहास में चार्ट बनवाना, साइन्स मे प्रयोग करवाना, गणित में प्रश्नों को अपने नोटबुक पर लिखवाना या उन्हे हल करवाना

आदि कार्य आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया के सहयोग से सीखने का कार्य सरल और स्थायी हो जाता है। यहाँ मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त को स्मरण कराना आवश्यक है कि जिस विषय को बालक जितना अधिक प्रकाशित करता है, उसके संस्कार उसके मन में उतने ही दृढ़ हो जाते हैं। विलियम जेम्स का कथन है कि ऐसी कोई क्रिया नहीं जिसकी प्रतिक्रिया न हो तथा ऐसा कोई संस्कार नहीं जो क्रिया से उत्पन्न न हुआ हो।* किसी ज्ञान के संस्कारों को दृढ़ बनाने का सुगम उपाय उसे बालको द्वारा अनेक तरह से प्रकाशन कराना ही है।

(३) लगन की वृद्धि—किसी विषय को सीखना तभी सुलभ होता है, जब सीखने का कार्य लगन के साथ किया जाय। जो बालक एकाग्रचित्त होकर किसी काम को नहीं करता, वह उसके सीखने मे कदापि समर्थ नहीं होता। बालको के पढ़ाने-लिखाने का कार्य दिन भर चलाते रहना ठीक नहीं। जिन बालको का अभ्यास धीरे धीरे काम करने का हो जाता है वे किसी काम को भली भाँति नहीं कर सकते। बालकों को खेल के समय खेलना और पढ़ाई के समय पढ़ना चाहिये। दोनो कामो मे सफलता प्राप्त करने के लिए लगन का रहना आवश्यक है।

(४) सीखने का वातावरण तथा समय—सीखने की उन्नति वातावरण और समय पर भी निर्भर रहती है। प्रतिकूल परिस्थितियों मे सीखने का कार्य सुगमता से नही हो सकता। जब दूसरे बालक पढ़ते रहते है तभी किसी बालक का पढ़ने मे मन लगता है। इसी भाँति जहाँ हल्ला-गुल्ला अधिक होता रहता है वहाँ पढ़ना-लिखना कठिन होता है।

सीखने के काल पर भी हमे ध्यान रखना चाहिये। बालको में अपने ध्यान को एकाग्र करने की शक्ति परिमित रहती है। अतएव हमें उन्हे एक ही काम पर अधिक देर तक नहीं

---

* There is no action without reaction, there is no impression without expression.— — *Talks To Teachers*

लगाये रहना चाहिये। जब बालक थक जाता है तब उसे फिर भी पढ़ाई के काम में लगाये रखना उसके स्वास्थ्य को बिगाड़ना है। थके हुए बालक का ध्यान इधर-उधर जाने लगता है। जब बालक का ध्यान एकाग्र न हो रहा हो तो हमें सिखाने-पढ़ाने का काम बन्द कर देना चाहिये। बालकों की पढ़ाई के घण्टे उनकी अवस्था के अनुसार छोटे-बड़े होने चाहिये।

दसवाँ प्रकरण

आदत[1]

बालक के जीवन में आदत का बड़ा महत्त्व है। वास्तव में दूसरे प्राणियो के जीवन में मूल प्रवृत्तियाँ जो कार्य करती हैं वही कार्य आदत मनुष्य के जीवन में करती है। मनुष्य का व्यक्तित्व आदतों का समुदाय कहा जाता है। बाल्यकाल आदत डालने का समय है। जन्म से बालक पूर्णत. असहाय रहता है। दूसरे प्राणियो के बच्चे अपनी मूल प्रवृत्तियो के आश्रय से अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं, किन्तु बालक की मूल प्रवृत्तियाँ उसके जीवन-संग्राम मे अधिक सहायता नही पहुँचाती। उसका जीवन आदतो पर ही निर्भर रहता है। वास्तव मे सीखना मात्र नई आदतें डालना है।

आदत का स्वरूप

आदत प्राणी की उस प्रवृत्ति का नाम है जिसके कारण वह वैसा ही आचरण करता है जैसा उसने पहले किया हो। क्या जड़ और क्या चेतन, सभी में हम आदत का प्रभाव देखते हैं। यदि हम कागज़ के टुकड़े को एक जगह से मोड़ दें तो दूसरी बार मोड़ के स्थान पर वह सरलता से मुड़ जायगा। वर्षाकालीन वेग से बहो हुई धारा जब एक बार किसी ओर वह निकलती है तब उसके बहाव की प्रवृत्ति उसी ओर ही रहती है। धारा के प्रवाह को नई दिशा मे बदलने में बड़ी अड़चन होती है। यही दशा हमारे मानसिक स्नायुओ की है। जब वे एक प्रकार की क्रिया मे अभ्यस्त हो जाते हैं तो उसी प्रकार की क्रिया करने मे प्रवृत्त रहते हैं। उपर्युक्त भौतिक सिद्धान्त को हम चेतना की दृष्टि से दूसरे प्रकार से भी कह सकते हैं। जिस ओर हमारी चेतना शक्ति का

---

1 Habit

प्रवाह होता है उसी ओर चेतना स्वभावतः अग्रसर होती रहती है। जिस कार्य को हम बार बार करते हैं वह कार्य हमें रुचिकर प्रतीत होने लगता है। उसकी कठिनाइयाँ हमें प्रतीत नहीं होतीं।

आदत और मूल प्रवृत्तियों में भेद—मूल प्रवृत्तियाँ भी प्राणियों की आदतें हैं किन्तु ये आदतें जन्मजात हैं। व्यक्ति के जीवन के संस्कारों से उत्पन्न हुई प्रवृत्तियों का नाम आदत है। मूल प्रवृत्तियाँ वंशानुक्रम के अनुसार बालक को माता-पिता से प्राप्त होती है। किन्तु अपनी आदतों को वह स्वयं अभ्यास द्वारा जीवन में डालता है। आदत और मूल प्रवृत्तियाँ दोनों ही मन की क्रियात्मक वृत्तियाँ हैं। दोनों का आधार मानसिक संस्कार है। पर जहाँ मूल प्रवृत्तियों का आधार पैतृक संस्कार है, वहाँ आदतों का आधार अपने जीवन में होनेवाले अनुभवों के संस्कार हैं।

आदत के लक्षण

स्टाउट महाशय ने आदत से होनेवाली क्रियाओं के चार लक्षण बतलाये हैं—समानता,[1] सुगमता,[2] रोचकता[3] और ध्यान-स्वातन्त्र्य[4]। इन लक्षणों पर हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

समानता—आदत से किये गये कार्यों में समानता रहती है अर्थात् जिस कार्य को हम आदत के वश करते हैं वह पहले की भाँति ही होता है। हमारी वेश-भूषा, चलना, बोलना जब आदत बन जाते हैं, तब उनमें समानता रहती है। अर्थात् हम किसी भी मनुष्य की हस्तलिपि देखकर उसके लेखक का अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि मनुष्य प्रत्येक बार वैसा ही लिखता है, जैसा वह पहले से लिखता चला आया हो। आदत के कार्य मशीन के कार्यों की भाँति एक से होते हैं। यही बात सहज क्रियाओं और मूल प्रवृत्तियों के विषय में कही जा सकती है, परन्तु दोनों में भेद यह है कि

जहाँ आदतें अपने आप बनाई जाती हैं, वहाँ सहज क्रियाएँ और मूल प्रवृत्तियाँ प्रकृति की देन हैं।

हमे आदतो और जन्मजात प्रवृत्तियों के एक विशेष भेद को भूलना न चाहिये। आदतें मनुष्य की अपनी बनाई हुई होने के कारण परिवतनशील है। यह बात मूल-प्रवृत्तियो के कार्यो के विषय मे उतनो सत्य नही है। मनुष्य अपनी आदतो पर उतना आश्रित नहीं रहता, जितना पशुसमुदाय मूल प्रवृत्तियों पर निर्भर रहता है। मनुष्य का विचार सदा उसका साथ देता है, और जहाॅ आदत उसके जीवन के कार्यों मे सहायता नही देती वहाॅ वह विचार से कार्य लेने लगता है। मनुष्य अपने व्यवहार को समय समय पर बदलता रहता है। जो आदत उसके जीवन मे बाधक होती है उसको वह छोड़ देता है।

सुगमता—आदत का दूसरा लक्षण सुगमता है। जिस कार्य के करने मे हम अभ्यस्त हो जाते है उसे बड़ी सरलता से कर लेते है। जब हम पहली बार साइकिल पर चढ़ते है तब हमे बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है। साइकिल चलाना सीखने मे हम थोड़ी देर मे ही थक जाते हैं परन्तु जब हम साइकिल चलाने मे अभ्यस्त हो जाते है तो न हमे थकावट प्रतीत होती है और न किसी प्रकार की कठिनाई पड़ती है। जब पहले पहल कोई मनुष्य कोयले की खान मे घुसता है तो उसको झुककर चलने के कारण शरीर मे बहुत पीड़ा होती है किन्तु जब वही खान मे कुछ दिनो तक कोयला ढोने का काम करता रहता है तो फिर उसे पीड़ा नहीं होती। जिस काम को हम करते रहते है, उसमे हमे आदत के कारण कष्ट नहीं होता।

इसी तरह जब पहली बार बालक लिखना प्रारम्भ करता है तो उसको दो एक अक्षर लिखने मे ही थकावट आ जाती है किन्तु कुछ काल के अभ्यास के पश्चात् वह कितने ही पृष्ठ शीघ्रता से लिखता चला जाता है। यह आदत का ही परिणाम है। आदत हमारी शक्ति को सञ्चित करने का बड़ा साधन है जो प्रकृति ने हमको दिया है।

रोचकता—जो कार्य बार बार किया जाता है वह रुचिकर हो जाता है। स्टाउट महाशय का कथन है कि जिस काम को करने में हम अभ्यस्त होते हैं उसको करने की हमारे मन मे सहज प्रवृत्ति होती है। जो बालक सिगरेट नहीं पीते उनको सिगरेट पीना रुचिकर नहीं लगता, परन्तु जब कुसङ्गति मे पड़कर वे कुछ दिनो के लिए सिगरेट पीने के अभ्यासी बन जाते हैं तो फिर सिगरेट पीना छोड़ना उनके लिए कठिन हो जाता है। शराबी और मदकची लोगो के विषय में भी यही कहा जा सकता है। किसी भी बुरी आदत को आरम्भ में छोड़ना सरल होता है, किन्तु जब कोई आदत किसी व्यक्ति के जीवन में अधिक समय तक रह जाती है तो उससे मुक्त होना कठिन हो जाता है। हमें आदत का विषय और उसकी क्रिया रुचिकर प्रतीत होने लगती है।

पहले पहल बालक जब स्कूल मे भेजा जाता है तब वह वहाँ जाने में बहुत झिझकता है, किन्तु बार बार स्कूल जाते रहने पर वह स्कूल गये बिना नहीं रह सकता। नये विषय के पढ़ने मे हमको बड़ी कठिनाई होती है, किन्तु जब हम साहस से उस विषय के अध्ययन में लग जाते है तो वही विषय रुचिकर प्रतीत होने लगता है। हिन्दू-संस्कृति में भिन्न-भिन्न वर्णों के भिन्न-भिन्न कार्य इस आदत के सिद्वान्त पर ही बने हैं। बनिये का बालक वाणिज्य में, क्षत्रिय का बालक सैन्य-सचालन मे और ब्राह्मण का बालक पढ़न-लिखने में कुशलता दिखलाता है। इसका मुख्य कारण यही है कि प्रत्येक बालक बचपन से हो किसी विशेष कार्य में परिस्थिति के अनुसार रुचि प्राप्त कर लेता है।

हम देखते हैं कि सिनेमा जानेवाले बालका से सिनेमा देखे बिना रहा नहीं जाता। इसी प्रकार खिलाड़ी बालक खेल के समय दुनिया भर की चिन्ताएँ भूल जाते हैं। अस्वस्थ अवस्था मे भी खिलाड़ी बालक खेल के मैदान म जाने की चेष्टा करता है।

ध्यान-स्वातन्त्र्य—आदत से किये जानेवाले कामों पर ध्यान देने की अधिक आवश्यकता नहीं होती। हमारे जीवन के ऐसे अनेक काम हैं जिन्हे हम बिना ध्यान दिये कर लेते हैं। जब बालक साइकिल चलाने मे अभ्यस्त हो जाता है तो इधर-उधर देखते हुए,

गाना गाते हुए, अपने मित्र से बातचीत करते हुए भली भाँति साइकिल चलाता रहता है। अब उसे पैडिल चलाने और साइकिल का हेडिल ठीक रखने मे ध्यान देना नहीं पड़ता। इसी तरह कुशल टाइपिस्ट एक एक अक्षर को देखकर टाइप नहीं करता, वह अपना ध्यान टाइप किये जानेवाले विषय पर रखता है और उसकी उँगलियाँ अपने आप आवश्यक अक्षरो को छापती चली जाती है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह कदापि नही है कि अभ्यास के कार्यों मे ध्यान का पूर्ण प्रभाव रहता है। ध्यान पूरी क्रिया के ऊपर ही रहता है, उसके अङ्गों के ऊपर ध्यान नही रहता। इन अङ्गो की पूर्ति आदत करती है। परन्तु जहाँ आदत किसी कार्य को करने में असमर्थ हो जाती है वहाँ हमारी ध्यानमय चेतना उसकी सहायता के लिए तुरन्त उपस्थित हो जाती है। मान लीजिए कि हम साइकिल चला रहे हैं, यह कार्य साधारणतः अभ्यास के द्वारा कुशलता से होता रहता है। परन्तु यदि साइकिल के सामने कोई पत्थर आ जाता है तो हमारी चेतना-शक्ति तुरन्त जाग्रत् हो जाती है और हम विचारपूर्वक अपनी साइकिल का नियन्त्रण करने लगते है।

आदतों का आधार

मनोवैज्ञानिको ने आदत पड़ने के सम्बन्ध मे दो प्रकार के सिद्धान्त प्रतिपादित किये है। भौतिकवादी मनोवैज्ञानिको के अनुसार आदत अभ्यास पर निर्भर है। जिस तरह जड़ पदार्थों के व्यवहार पूर्व स्थितियो और क्रियाओ पर निर्भर रहते हैं उसी तरह चेतन प्राणियो के व्यवहार भी पूर्व व्यवहारो पर निर्भर रहते है। ऊपर कहा जा चुका है कि पानी का बहाव उस ओर होता है जिस ओर वह एक बार बह गया हो। यही दशा हमारा मानसिक वृत्तियो की है। प्रत्येक मनुष्य अपने पहले किये हुए कार्य को करने में रुचि दिखाता है। उसकी मनोवृत्तियो की प्रगति जिस ओर हो जाती है उसी ओर बनी रहने की चेष्टा करती है। इस बात मे मनुष्य के मन और जड़ पदार्थों के व्यवहार मे समानता है।

आधुनिक व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक आदत बनने का कार्य वाहक तन्तुओ की सहायता से समझाने की चेष्टा करते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य की प्रत्येक क्रिया होने के समय उसके मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड के वाहक तन्तुओ मे जो सम्बन्ध स्थापित हो जाते है वे उसी अवस्था मे रहने की चेष्टा करते है। नये सम्बन्ध स्थापित होने मे पुराने सम्बन्ध बाधा डालते है। इन्हीं संबंधों के कारण जब मानसिक शक्ति का एक ओर प्रवाह हो जाता है तो प्रवाह उसी ओर चलते रहने की चेष्टा करता है। इसी लिए जो काम मनुष्य वार वार करता है वह उसके स्वभाव का एक अङ्ग बन जाता है और इस स्वभाव मे परिवर्तन करना कठिन होता है।

भौतिकवादियो और व्यवहारवादियों के इस सिद्धान्त का खण्डन फ्रास के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता वर्गसन ने किया है। उनके अनुसार चेतन सत्ता के व्यवहार कदापि पूर्णतया जड़ सत्ता के समान नहीं कहे जा सकते। हाँ, यह बात अवश्य है कि जहाँ अभ्यास की अधिकता होती है वहाँ चेतन सत्ता जड़ पदार्थ के समान व्यवहार करने लगती है। वास्तव मे वर्गसन के अनुसार जड़ और चेतन मे भेद अभ्यास के बन्धन का ही है। इस बन्धन को वार वार चेतन सत्ता तोड़ती रहती है। तोड़ने का यह कार्य चेतन सत्ता की स्वेच्छा से होता है अर्थात् प्रत्येक आदत का मूल आधार चेतन की स्वेच्छा है।

ध्येयवादियो और मनोविश्लेपक वैज्ञानिकों के सिद्धान्तानुसार मनुष्य आदत का वैसा दास नहीं है, जैसा कि जड़वादियो ने उसको सिद्ध करने की चेष्टा की है। मनुष्य की आदतो का आधार उसकी रुचि है। ये रुचियाँ मनुष्य की इच्छा पर निर्भर रहती हैं। किसी कार्य को कितनी ही वार क्यों न किया जाय, यदि वह कार्य अरुचि से किया जाता है तो उस कार्य की आदत व्यक्ति के मन मे नही पड़ेगी। किसी काम को वार वार करने पर प्राय: उसमें रुचि अवश्य पैदा हो जाती है। इसका कारण यह नहीं है कि अभ्यास के कारण ही उस क्रिया में रुचि हो गई है वरन् रुचि पैदा होने का प्रधान कारण व्यक्ति का उस क्रिया की उपयोगिता के विपय में ज्ञान हो जाना है। जिस कार्य को हम

नहीं करते उसके विषय में हम यह भी नहीं जानते कि वह हमारे जीवन के लिए कहाँ तक हितकर है और हमारे स्वार्थ-साधन का कहाँ तक हेतु बन सकता है। परन्तु जब हम किसी काम को इस दृष्टि से करने लग जाते है कि वह हमारे स्वार्थ का कहाँ तक साधक हो सकता है तब उसकी आदत शीघ्रता से बनती है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि आदत का प्रधान आधार क्रिया की रोचकता अथवा स्वार्थ की सिद्धि है। यदि हम बालक मे किसी प्रकार की आदत डालना चाहते हैं तो हमे उस कार्य को बालक के लिए रुचिकर बनाना होगा। बालक द्वारा किसी काम को बरबस कई बार कराने से उसके मन मे उस कार्य की आदत न पड़ जायगी। इसके प्रतिकूल यह परिणाम देखने मे आता है कि बालक के मन मे सदा के लिए ऐसी अरोचक बात के लिए घृणा की एक ग्रन्थि बन जाती है और जितना ही हम उससे कोई कार्य कराना चाहते है उससे वह उतना ही भागता है।

आदत का बाल-जीवन में महत्त्व

मनुष्य के जीवन का विकास उसकी आदतो पर निर्भर है। बाल्य-काल ही आदत डालने का समय है। जो आदतें बालक के जीवन मे इस समय पड़ जाती है वे उसके साथ जीवन पर्यन्त रहती है। यदि बालक की आदते अच्छी हैं तो उसका भावी जीवन सुखद होगा और यदि उसकी आदतें बुरी है तो वह सम्पूर्ण जीवन को दुःख में व्यतीत करेगा। चरित्र को आदतो का समूह कहा गया है। यदि हमें बालक का चरित्र सुन्दर बनाना है तो बालक मे सुन्दर आदते डालनी चाहियें। जिस बालक की आदत दूसरो की सेवा करने की पड़ गई हो, वह दूसरो की सेवा करने मे आनन्द का अनुभव उसी प्रकार करता है जिस प्रकार खिलाड़ी को खेल में आनन्द मिलता है और दुर्व्यसनी बालक को दुर्व्यसन में। चुगलखोर से चुग़ली किये बिना रहा नहीं जाता, शराबी को शराब बिना जीवन भारी हो जाता है। इसी प्रकार पढ़ने-लिखने वाले बालक को बिना कुछ पढ़े-लिखे जीवन निस्सार, लक्ष्यहीन प्रतीत होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अभ्यास

के अनुसार जीवन के व्यवसायों में लगता है। जिस प्रकार का हमारा अभ्यास होता है उसी प्रकार का हमारा स्वभाव भी हो जाता है। इस प्रकार के बने हुए हमारे स्वभाव में परिवर्तन करना उतना ही कठिन हो जाता है जितना कि प्राकृतिक स्वभाव को परिवर्तित करना।

आदत मनुष्य को किस प्रकार अपने अधीन कर लेती है और किस तरह उसके स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है, यह विलियम जेम्स के निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट है—

सन् १८८४ मे अमेरिका के एक प्रान्त मे रेल की दुर्घटना हुई। इस दुर्घटना के कारण रेल के कितने ही डब्बे टूट गये। एक डब्बे मे कुछ सरकस दिखानेवाले लोग सवार थे। उनके पास एक पिंजड़े मे बन्द शेर था। गाड़ी के टूट जाने पर शेर का पिंजड़ा एक ओर जा गिरा और पिंजड़े का दरवाजा खुल गया, जिससे शेर बाहर निकल आया, किन्तु अपने आपको स्वतन्त्र देखकर वह जङ्गल की ओर नहीं भागा। वह भौचक्का-सा होकर इधर-उधर घूमने लगा, मानो वह अपनी स्वतन्त्रता की ज़िम्मेदारी से डर गया हो। सरकसवालो ने उसे फिर सरलता से पिंजड़े में बन्द कर दिया।

उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि स्वतन्त्रताप्रिय शेर जैसे प्राणी मे भी आदत के कारण ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जिससे वह अपने जन्मसिद्ध अधिकार को लेने मे भी हिचकिचाने लगता है और स्वतन्त्रता पाकर प्रसन्न होने के बदले दुःखी होता है। उसे परतन्त्रता ही प्रिय बन जाती है। जो मनुष्य अपने जीवन का अधिक काल जेल मे व्यतीत करते हैं, उन्हें जेल में रहना ही अच्छा लगने लगता है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद जब सरकारी क़ैदखाने से बन्दी मुक्त किये गये तो उनमें से अनेकों ने क़ैद में रख लिये जाने के लिए प्रार्थना की।

हम बालक को जैसा चाहें, वैसा बना सकते हैं, हम उसकी जीवन-धारा को जिधर बहाना चाहें, बहा सकते हैं। जिस प्रकार छोटे पौधे की डालियाँ जिस ओर को मोड़ दी जाती हैं उसी ओर मुड़ी रहती हैं किन्तु जब पौधा बढ़कर वृक्ष हो

जाता है तब यह असम्भव हो जाता है, इसी प्रकार हम बालक की रुचि, क्रिया तथा ज्ञान को जिस ओर ले जाना चाहे, ले जा सकते हैं। प्रौढ़ अवस्था मे ऐसा करना सम्भव नहीं।

आदत मनुष्य की शक्ति सञ्चय का सबसे बड़ा साधन है। जिस बालक की अच्छी आदतें बनी हुई है, उसके पास ऐसी अमित शक्ति होती है जिसे वह अपनी इच्छा के अनुसार सुधार के कार्य मे लगा सकता है। अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे बालकों मे ऐसी आदत डालें जिससे वे नियम से कार्य करना सीखे। प्रत्येक बालक का उठने और सोने का समय, कार्य करने और खेलने का समय निश्चित रहना चाहिये। जिस मनुष्य का कोई भी कार्य नियम के अनुसार नहीं होता, वह अपनी समस्त शक्ति कार्यक्रम बनाने मे ही लगा देता है। ऐसा मनुष्य किसी व्यवसाय मे सफल नहीं होता। विलियम जेम्स के इस कथन पर प्रत्येक माता-पिता को ध्यान देना चाहिये कि संसार मे उस मनुष्य से अधिक दुःखी कोई नहीं है जो हर बात मे संदिग्ध रहता है, जिसे छोटे छोटे कामो के करने के लिए भी अधिक देर तक विचार करना पड़ता है। बहुत लोगो की शक्ति विचार करने मे ही नष्ट हो जाती है और जब वे काम करने का निश्चय कर लेते है तो उनके पास काम करने की शक्ति ही नहीं रहती। यदि हम अपने विचार की शक्ति को सञ्चित करना चाहते हैं, जिससे वह जीवन के महत्त्वपूर्ण विषयो के सोचने के काम में लाई जा सके तो हमे उसे छोटी छोटी बातो मे खर्च न करना चाहिये। जीवन की छोटी छोटी बातें आदत के सहारे ही की जानी चाहिये।

कुछ शिक्षा-शास्त्रियों का मत है कि बालक के जीवन मे हमें आदत डालनी ही नहीं चाहिये। फ्रास के प्रसिद्ध विद्वान् रूसो अपनी इमील नामक पुस्तक मे लिखते हैं कि आदर्श बालक इमील एक ही आदत डालगा, वह आदत है—किसी प्रकार की आदत न डालना; किन्तु यह सिद्धान्त बालक के जीवन को सुखदायक नहीं बना सकता। बालक आदत डाले बिना तो रह ही नहीं सकता। वह ज्योंही बाह्य प्रकृति या समाज के सम्पर्क मे आता है, उसकी कुछ न कुछ भली बुरी आदतें अपने

आप ही पड़ जाती है। वास्तव मे मनुष्य का जीवन बिना आदतो के चल ही नही सकता। अब प्रश्न यह है कि जब बालक बिना आदतों के रह ही नहीं सकता तो उसमे कैसी आदतें डाली जायं। इस वात पर प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति सहमत होगा कि बालक के जीवन में ऐसी ही आदतें डाली जायॅ जो उसके उपयोग में आवे।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि हमे वालक को सदा ऐसी आदतो से बचाना है जो उसके भावी जीवन के लिए कैदियो की वेड़ियाँ न बन जायॅ। कहा जाता है कि आदतो को हमे अपना दास वनाना चाहिये, आदतो का दास न बन जाना चाहिये। जो व्यक्ति आदतो का स्वामी है वह सुखी रहता है और जो आदतो का दास है वह दुखी रहता है। जब मनुष्य आदतो का दास बन जाता है तो आदतें छुड़ाने से नहीं छूटतीं। जो आदतें हमे अपना दास बना लेती है वे प्रायः बुरी होती है जैसे चुगलखोरी, अस्वच्छता, सिगरेट पीना इत्यादि।

आदत डालने के नियम

विलियम जेम्स महाशय ने आदत के चार नियम बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) **संकल्प की दृढ़ता**—जो आदत बालक के जीवन मे डालनी हो उसके विषय मे वालक द्वारा दृढ़ संकल्प कराना चाहिये। मान लीजिए सफाई की आदत किसी वालक के जीवन मे डलवानी है तो सफाई के विषय मे वालक की रुचि बढ़ानी चाहिये। उसे अनेक कहानियाँ कहकर उसकी उपयोगिता बतानी चाहिये। जब उसके मन मे उसकी उपयोगिता बैठ जाय तो उससे दृढ़ संकल्प कराना चाहिये। इसी प्रकार सच बोलने की, समय पर काम करने की आदतें डाली जा सकती हैं।

(२) **कार्यशीलता**—बालकों को अत्यधिक उपदेश देते रहना अथवा उनसे शुभ संकल्प कराते रहना ठीक नहीं। किसी काम की आदत उस काम को करने से ही पड़ती है। इसलिए जल्दी से जल्दी बालकों द्वारा काम कराना प्रारंभ कर देना चाहिये। जो बालक शुभ संकल्प करते हैं किन्तु उसके अनुसार काम नही

करते वे अपने मन को कमज़ोर बना लेते है। जो मनुष्य जीवन में ऊँचे-ऊँचे आदर्श तो रखता है, पर उनके प्राप्त करने के लिए कार्य नहीं करता वह अपने आप का पतन कर लेता है। कोरी शुभ कामनाएँ मनुष्य को विनाश की ओर ले जाती है।*

(३) **संलग्नता**—एक काम को शुरू करके उसे तुरन्त ही छोड़ न देना चाहिये। आदत किसी भी क्रिया को बार-बार करने से उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति एक काम को शुरू करके छोड़ देता है, फिर दूसरे को करने लगता है, वह जीवन मे कुछ भी सफलता नही प्राप्त कर सकता। यदि कोई बालक आज यह संकल्प करे कि अब से मै सूर्योदय के पहले उठूँगा, पर कुछ दिन के अभ्यास के बाद वह एक दिन अपने संकल्प को तोड़ देता है तो उसका पहले का किया कराया काम बिगड जाता है। आदत डालने की प्रारंभिक अवस्था मे मनुष्य को कदापि अपने सकल्प के प्रतिकूल आचरण न करना चाहिये। जिस प्रकार सूत का पिंडा लपेटते समय यदि हाथ से छूट जाय तो एक बार छूट जाने से कई मिनटो का काम खराब हो जाता है, इसी प्रकार आदत डालने की प्रारभिक अवस्था मे जब कोई बालक दो-चार दिन किसी काम को करके एक दिन ही मानसिक कमज़ोरी के वश उस काम को नही करता तो वह उस काम की आदत को जीवन मे नही डाल सकता।

(४) **अभ्यास**—आदत अभ्यास का परिणाम है। जिस कार्य का जितना अभ्यास किया जाता है, उसकी आदत उतनी ही दृढ़ होती है। जो व्यक्ति जिस प्रकार की आदत डालना चाहता है उसे उस आदत सबधी कार्यों की खोज मे रहना चाहिये। यदि साधारण परिस्थिति मे उसे ऐसे काम करने का अवसर न मिले तो उसे अपना अभ्यास बनाये रखने के लिए ही ऐसे काम को करना चाहिये। हमारे देश मे कहावत है 'बैठे से बेगार भली'। इस कहावत मे भारी मनोवैज्ञानिक सत्य है। जो लेखक लिखने का काम नित्य नहीं करता रहता, जो शिक्षक पढ़ाने से जी चुराता है, जो कारीगर अपनी कला को सदा प्रकाशित नहीं करता रहता, वह अपनी

---

* The way to hell is paved with good intentions

योग्यताओं को खो देता है। जिस आदत को हम बालकों के जीवन में दृढ़ रखना चाहते है उसके विषय मे उनसे सदा अभ्यास कराते रहना पड़ेगा। सदा लिखते रहने से बालक अच्छा लेखक बन सकता है और सदा दूसरो की सेवा करते रहने से परोपकारी व्यक्ति बन सकता है। पाठकों को चाहिये कि वे बालकों से प्रतिदिन उन कार्यों को करावें जिनकी आदत वे उनके जीवन में डालना चाहते है।

बुरी आदतों का छुड़ाना

मनोविश्लेषण विज्ञान की खोजो से पता चलता है कि बालक की अनेक बुरी आदतो के पीछे उसके अव्यक्त मन मे किसी प्रकार की भावना-ग्रन्थि रहती है। इसी ग्रंथि के कारण ऐसा व्यक्ति दुर्व्यसनों मे पड़ा रहता है। देखा गया है कि कोई कोइ बालक, जिन्हे चोरी करने, झूठ बोलने या सिगरेट पीने की आदत पड़ जाती है, अनेक प्रकार का दण्ड पाने पर भी उस आदत को नहीं छोड़ते। ऐसी लतो का कारण दूषित वातावरण अथवा बालक के अदृश्य मन मे किसी भावना-ग्रन्थि की उपस्थिति है। मार-पीट या समझा-बुझाकर हम बालक को पहले प्रकार की आदत से मुक्त कर सकते है किन्तु जिस आदत की जड़ भावना-ग्रन्थि में रहती है उसको छुड़ाना उपर्युक्त विधि से कठिन है। यदि ऐसी आदत किसी तरह छूट भी जाय तो बालक किसी दूसरे बड़े दुर्व्यसन में पड़ जायगा। जिस बालक की चोरी की आदत छुड़ा दी जाती है वह काम-सम्बन्धी दुराचारों मे प्रवृत्त हो जाता है।*

---

* इस कथन की सत्यता का निश्चय पाठकगण अपने संरक्षित बालको के व्यवहारो को विवेचनात्मक दृष्टि से देखकर कर सकते है। यहाँ लेखक एक बालक के व्यवहार को उपस्थित करता है।

लेखक के एक संरक्षित बालक को सिगरेट पीने का दुर्व्यसन था। उसका पिता एक प्रतिष्ठित धर्मी व्यक्ति है। बालक चोरी से सिगरेट पीता था। वह प्रायः ऐसे स्थान में सिगरेट पीता था जहाँ उसे कोई नहीं देख सकता। लेखक को थोड़े दिनों में ही इसका पता चल गया। किन्तु आदत की इस जटिलता को जानकर लेखक ने

जब हम किसी बालक को किसी बुरी आदत से मुक्त करना चाहते हैं तो हमे यह बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिये कि कहीं आदत को जड़ किसी भावना-ग्रन्थि मे तो नहीं है। वातावरण से पैदा हुई आदत को हम वातावरण मे परिवर्तन करके छुड़ा सकते है। पर जिस बुरी आदत की जड़ किसी मानसिक ग्रन्थि मे है, उसे इस प्रकार नहीं छुड़ाया जा सकता।

आदत को तुरन्त छुड़ाने की चेष्टा न कर उसके कारण को जानने का प्रयत्न किया। बालक के पूर्व जीवन का परिचय पाने से ज्ञात हुआ कि इस बालक की सिगरेट पीने की आदत का पता उसके पिता को था तथा उसने बालक की इस आदत को छुड़ाने की पूरी चेष्टा की थी। यह बालक कई बार इस बुरी आदत के लिए पीटा जा चुका था, किन्तु वह आदत छूटने के बदले और भी जटिल हो गई। अब उसके साथ चोरी की आदत और सम्मिलित हो गई।

वास्तव में इस दुर्व्यसन को छोड़ देना बालक के मन की बात ही न थी। प्रधान कारण यह था कि बालक का जीवन वास्तव में दुखी था। उसकी माँ शैशवावस्था में ही मर चुकी थी। उसकी सैातेली माँ पर ही बालक का जीवन निर्भर था। उसके सौतेले भाई, पिता की दृष्टि मे, अच्छे समझे जाते थे। पिता इसे निकृष्ट दृष्टि से पहले से ही देखता था। ऐसी अवस्था मे पिता के प्रति तथा अन्य सम्बन्धियो के प्रति बालक के मन में द्वेष को भावना-ग्रन्थि बन जाना स्वाभाविक है। बालक का अव्यक्त मन अपनी बाह्य परिस्थिति की हीनता का प्रतिकार सिगरेट पीकर करता था। पिता स्वय सिगरेट पीता था। इससे बालक का अदृश्य मन सिगरेट पीने को सम्मानित होने का सूचक मानता था और जब उसे बाहर से सम्मान नहीं मिलता था तो उसका मन अपने को सम्मानित करने की ऐसी अनेक अवाञ्छनीय चेष्टाएँ करता था।

ग्यारहवाँ प्रकरण

ध्यान,[1] रुचि[2] और थकान

पिछले प्रकरणो मे हमने बालक की क्रियात्मक और रागात्मक वृत्तियो पर विचार किया है। अब हम उसकी ज्ञानात्मक वृत्तियो पर विचार करेंगे।

ज्ञानोत्पादन का सबसे महत्त्व का साधन ध्यान है। वास्तव मे ध्यान और चेतना का क्षेत्र एक ही है अतएव जो जो कार्य चेतना करती है वे सब ध्यान के ही कार्य है। इस दृष्टि से देखने से हम ध्यान को मनुष्य की सब प्रकार की क्रियाओं, संवेगो और ज्ञान का नियन्त्रक पावेंगे। जैसे जैसे बालक की ध्यान में एकाग्रता आती है वैसे वैसे उसका ज्ञान विकसित होता है, उसकी क्रियाएँ सुसंगठित होती है और उसके संवेग नियन्त्रित रूप से प्रकाशित होते है। बाल-मन मे रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह बालको की रुचियो का अध्ययन करे जिन पर कि ध्यान निर्भर रहता है और ध्यान के विकास के क्रम को जाने।

ध्यान का स्वरूप—ध्यान चित्त की एकाग्रता को कहते है। जब हम किसी वस्तु के ऊपर ध्यान देते है तब उससे सम्बन्ध न रखनेवाली दूसरी वस्तुओ से उदासीन हो जाते है। वे हमारी चेतना के भीतर नहीं रहतीं। जब हम किसी जगह बैठे रहते है तो अनेक प्रकार की संवेदनाएँ हमारी इन्द्रियों को उत्तेजित करती है। इन उत्तेजक विषयों में वे सभी हमारे ध्यान को आकृष्ट नही करतीं। उन उत्तेजक पदार्थों में से किसी एक को हमारी चेतना चुन लेती है जिस पर चित्त की एकाग्रता हो जाती है। यह चित्त की एकाग्रता उस पदार्थ के ऊपर थोड़ी देर तक रहती है फिर उस पदार्थ से हटकर दूसरे पर चली जाती है। हमारा मन बड़ा

1 Attention   2 Interest

चञ्चल है। जिस प्रकार मधुमक्खी शहद के लिए एक फूल से दूसरे फूल पर हरदम जाया करती है उसी प्रकार हमारा मन एक विषय से दूसरे विषय पर हटता रहता है। जो मनुष्य जितनी देर तक एक वस्तु पर ध्यान लगा सकता है वह उतना ही अपने विचार को विकसित कर सकता है और संसार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करने मे सफल हो सकता है।

हमने ध्यान के विषय मे जब यह कहा कि उसका विषय हरदम बदलता रहता है तब यह न समझना चाहिये कि वह एक विषय पर देर तक ठहर ही नही सकता। यदि ऐसा होता तो विचारो या क्रियाओ का विकास सम्भव ही न होता। एक तरह से देखा जाय तो ध्यान का विषय प्रतिक्षण बदलता रहता है और दूसरी तरह से देखा जाय तो कम से कम प्रौढ़ावस्था के लोग बहुत देर तक एक विषय पर ध्यान लगाये रहते है। यहॉ पर विपय शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। यदि विषय का अर्थ हम किसी एक बिन्दु को ले अथवा घडी की खटखटाहट को ले तो हमारा ध्यान ऐसे एक विषय के ऊपर देर तक नहीं ठहर सकता। किन्तु जब हमारे ध्यान का विषय कोई ऐसा पदार्थ होता है जैसे कि किसी देश की उपज या किसी व्यक्ति का चरित्र तो हमारे ध्यान का विषय एक रहते हुए भी अनेक रहता है। वास्तव मे हमारे ध्यान का मुख्य कार्य्य अनेक कामो मे एकता स्थापित करना है। हम किसी मनुष्य के चरित्र का विचार करते समय उसके चरित्र के अनेक पहलुओ पर दृष्टि डालते है। उसकी क्रियाओ और उसके जीवन के सिद्धान्तों मे सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करते है तथा हम जो कुछ उसके बारे मे जानते है उसमे सामञ्जस्य या एकता स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। इस तरह हमे एक व्यक्ति के विषय मे हज़ारो बातें सोचनी पड़ती हैं किन्तु ध्यान के इन हज़ारो विषयो को हमारा एक लक्ष्य सूत्रीभूत करता है। ध्यान का वास्तव मे मुख्य कार्य्य यही अनेकता मे एकता स्थापित करना है। जो मनुष्य जितना ही इस प्रकार की एकता स्थापित कर सकता है वह उतना ही मनस्वी कहा जा सकता है। ऐसी एकता स्थापित करने के लिए मनुष्य को

अपनी अनेक प्रवृत्तियों को संयत करके रखना पड़ता है, मन को दूसरी ओर जाने से रोकना पड़ता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने मन को क्षणिक प्रलोभनो से रोक लेता है और विवेक से निश्चित किये हुए विषय पर उसे एकाग्र करने की सदा चेष्टा किया करता है।

बालक को इस प्रकार के ज्ञान की एकाग्रता धीरे धीरे प्राप्त होती है। वास्तव में इस प्रकार की एकाग्रता प्राप्त करना मनुष्य के जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

ध्यान के प्रकार

मनोवैज्ञानिको ने ध्यान को कई प्रकार से विभक्त किया है। निम्नलिखित चित्र मे गाल्ट और हावर्ट महाशयो के विभाजन को दिया गया है—
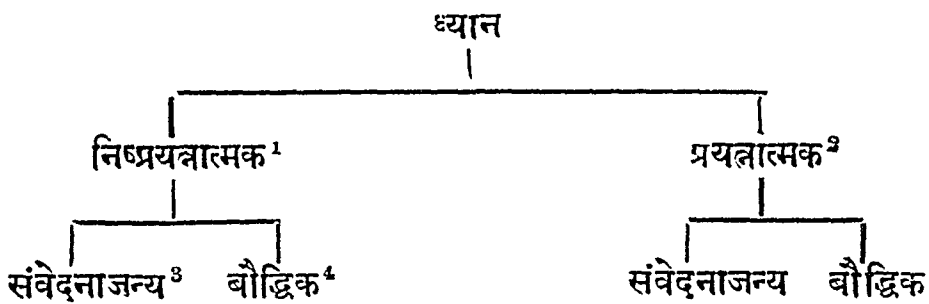
निष्प्रयत्नात्मक सवेदनाजन्य ध्यान का विषय प्रत्यक्ष पदार्थ होता है अर्थात् प्रत्यक्ष पदार्थ की उत्तेजना का परिणाम उक्त प्रकार का ध्यान होता है। ज़ोर से होनेवाला शब्द, चमकीला प्रकाश, तीक्ष्ण गन्ध तथा स्पर्श आदि इस प्रकार के ध्यान को आकृष्ट करते है। निष्प्रयत्नात्मक बौद्धिक ध्यान का विषय कोई रुचिकर बौद्धिक विषय रहता है। इस प्रकार का ध्यान सर्वोत्तम ध्यान है। जब एक विद्यार्थी अपनी पढ़ाई के विषय मे मग्न रहता है, अथवा एक अन्वेषक अन्वेषण के विचार मे मग्न रहता है, तो इसी प्रकार का ध्यान काम मे आता है। प्रयत्नात्मक ध्यान वह है जिसमे मनुष्य किसी विशेष विषय पर रुचि न रहते

1. Passive (Reflex, effortless) 2. Voluntary.
3. Sensorial 4 Intellectual

हुए भी किसी हेतु-साधन के लिए प्रयत्न के साथ ध्यान को एकाग्र करता है। जब ऐसे ध्यान का विषय इन्द्रियगोचर पदार्थ होता है तब वह संवेदनाजन्य और जब उसका विषय बौद्धिक होता है तब उसे बौद्धिक प्रयत्नात्मक ध्यान कहा जाता है। थर्मामीटर के पारे के देखने मे पहले प्रकार के ध्यान की और किसी जटिल विषय पर व्याख्यान सुनने मे दूसरे प्रकार के ध्यान की आवश्यकता होती है।

ध्यान के कारण

ध्यान आकृष्ट करनेवाले कारणो को मनोविज्ञान की दृष्टि से दो विभागो मे विभक्त किया जा सकता है—बहिरङ्ग और अंतरङ्ग। दोनो प्रकार के कारण एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। हम दोनो प्रकार के कारणो पर पृथक् पृथक् विचार करेंगे, जिससे बालको के ध्यान की विशेषताएँ समझ मे आ जायँ।

बहिरङ्ग कारण—किसी विषय पर ध्यान जाने के बहिरङ्ग कारण मे विषय की नवीनता, परिवर्तन, गति, प्रबल उत्तेजना तथा दूसरे विषय से विरोध है। जो विषय जितना नवीन होता है वह मनुष्य की उत्सुकता को उतना ही उभाड़ता है। बालक की उत्सुकता प्रौढ़ लोगो से कहीं बढ़ी रहती है। उसे संसार की प्रायः सभी वस्तुएँ नई दिखाई पड़ती है अतएव अनेक वस्तुओ की ओर उसका ध्यान आकृष्ट होता है। किन्तु यदि कोई वस्तु इतनी नवीन हो कि बालक उसके विषय मे कुछ भी न जानता हो तो वह बालक के ध्यान को आकृष्ट न करेगी। मनुष्य की उत्सुकता को वही वस्तु उभाड़ती है जिसके बारे मे वह कुछ थोड़ा सा जानता हो और अधिक जानने की आकांक्षा रखता हो।

परिवर्तन भी ध्यान को आकृष्ट करने का एक साधन है। जब हमारे ध्यान का विषय एक ही बना रहता है तो उस पर अधिक देर तक ध्यान लगाये रहना कठिन है। सिनेमा की तसवीरें साधारण तसवीरो से अधिक ध्यान आकृष्ट करती है क्योंकि उनमें सदा परिवर्तन होता रहता है। बालको को पढ़ाते समय विषय का तथा रीति का परिवर्तन करते रहना आवश्यक है। बालको

का ध्यान आकृष्ट करने के लिए वस्तुओं और चित्रों का उपयोग करना चाहिये।

स्थिर पदार्थ की अपेक्षा गतिवान पदार्थ अधिक ध्यान आकृष्ट करता है। चलती-फिरती चीज़ की ओर सभी का ध्यान जाता है। इसका एक कारण उसकी अवस्था मे नित्य नवीनता है। जो चीज़ एक जगह पड़ी रहती है उसकी ओर ध्यान आकृष्ट नहीं होता किन्तु जब वह चलने लगती है तो हमारा ध्यान उसकी ओर तुरन्त चला जाता है। जो पाठक अपने पाठ को रोचक बनाना चाहता है उसे नक्शे, चित्र आदि श्यामपट पर खींचना चाहिये तथा बालको से कुछ चलने-फिरने का काम कराना चाहिये।

प्रबल उत्तेजक पदार्थ भी ध्यान को आकर्षित करता है। धीरे से बोलनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा जोर से बोलनेवाला व्यक्ति हमारे ध्यान को अधिक आकृष्ट करेगा। सादी तसवीरों की अपेक्षा रङ्गीन तसवीरें बालको के ध्यान को अधिक आकृष्ट करती है। किन्तु जब प्रबल उत्तेजना बार बार होती है तो वह ध्यान को फिर आकर्षित नही करती। जो शिक्षक हर समय चिल्लाकर बोलता है उसका चिल्लाकर बोलना व्यर्थ जाता है।

ध्यान को उत्तेजित करने में विरोध का भी महत्त्व का स्थान है। यदि दो बातो में से एक जानी हुई और दूसरी अनजानी बात बिलकुल उसके विरुद्ध है तो वह अवश्य हमारा ध्यान आकृष्ट करेगी। कहा जाता है कि एक मेंढक को धीरे-धीरे पानी गरम करते हुए बिना छटपटाये ही मार डाला जा सकता है; किन्तु यदि उसी मेढक को एकाएक गरम पानी में छोड़ दिया जाय तो वह उछलकर बाहर आ जाने की चेष्टा करेगा। हम जब किसी स्थान पर बैठे हो तो वहाँ पर साधारण आनेवाली आवाज़े, हमारे ध्यान को आकृष्ट नहीं करती, किन्तु यदि एकाएक कोई नई आवाज़ आ जाय तो हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट हो जायगा। वास्तव मे नवीनता और परिवर्तन ही यहाँ ध्यान आकृष्ट करने का प्रधान कारण है।

अन्तरङ्ग कारण—ध्यान आकृष्ट करनेवाला अन्तरङ्ग कारण एक ही है, वह है मनुष्य की रुचि। जिस ओर मनुष्य की रुचि

होती है उसी ओर उसका ध्यान जाता है। जिस विषय का हमारे स्वार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वह हमारा ध्यान कदापि आकृष्ट करने में समर्थ नहीं होता। हमे लाभ पहुँचानेवाले, और हमारे चित्त को प्रसन्न करनेवाले तथा हमारे स्वार्थ को क्षति पहुँचानेवाले दोनो प्रकार के विषयों से हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। ज्यों ज्यो मनुष्य की रुचि मे परिवर्तन होता है, उसके ध्यान के विषय बदलते जाते है। अतएव बालक के ध्यान की विशेषताओ को समझने के लिए हमे उसकी रुचियो का भली भाँति अध्ययन करना चाहिये। किसी भी व्यक्ति की रुचि उसके अनुभव, संवेग, इच्छा और अभ्यास के ऊपर निर्भर होती है। बालक की रुचि प्रौढ़ लोगो की रुचि से भिन्न होती है इसलिए उसके ध्यान के विषय भी प्रौढ लोगो से भिन्न होते हैं।

बालक के ध्यान की विशेषताएँ

बालक का ध्यान प्रौढ़ लोगो के ध्यान से कई तरह से भिन्न होता है। अतएव उसके ध्यान की विशेषताओ पर विचार करना आवश्यक है जिससे हम उसके मनोविकास मे उसके ध्यान का भले प्रकार से उपयोग कर सकें।

ध्यान का विस्तार—बालक के ध्यान की पहली विशेषता उसके विस्तार की कमी है। ध्यान का विस्तार व्यक्ति के जीवन-विकास के साथ साथ होता है। जब उसका जीवन पूर्णतया विकसित हो जाता है तभी उसके ध्यान का विस्तार होता है। इसका अर्थ यह है कि बालक के ध्यान का विस्तार परिमित होता है अर्थात् बालक कई बातो पर एक साथ ध्यान नही दे सकता। जहाँ प्रौढ़ लोग कई बातो पर एक साथ ध्यान दे सकते हैं, बालक एक बात पर ही एक समय मे ध्यान दे सकता है। जैसे जैसे अभ्यास होता जाता है, वैसे वैसे बालक को अनेक बातों पर एक साथ ध्यान देने का योग्यता प्राप्त हो जाती है।

बालक को पढ़ाते समय हमे इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। उसे दो-तीन बातें एक साथ न बतानी चाहिये। ऐसा करने मे बालक के मन में निश्चयात्मक कोई ज्ञान प्राप्त नहीं

होता। जिस प्रकार साइकिल चलाना सीखनेवाले अथवा टाइप सीखनेवाले को प्रारम्भ में एक ही बात पर एक समय ध्यान देना पड़ता है, इसी प्रकार बालक को विभिन्न वस्तुओ से भरे हुए जगत् से परिचय बढ़ाने के समय एक ही बात के ऊपर एक समय ध्यान दिलाना चाहिये। मैडम मान्टसरी ने अपनी इन्द्रिय-ज्ञान-वृद्धि की शिक्षा-प्रणाली में बाल-मन की इस विशेषता पर ध्यान दिया है। उक्त प्रणाली में एक विषय पर ही एक समय बालक का ध्यान एकाग्र कराने की चेष्टा की जाती है।

ध्यान का विस्तार दो बातों पर निर्भर होता है—बालक की एक विषय से दूसरे विषयों का सम्बन्ध जानने की शक्ति और अभ्यास। बालक में एक विषय से दूसरे विषय का सम्बन्ध समझने की शक्ति परिमित होती है। उसके ध्यान का विषय जटिल नहीं होता तथा बालक की किसी विषय का अर्थ लगाने की शक्ति परिमित होती है। इसलिए उसका ध्यान एक विषय पर एक बार रहता है और फिर उससे हटकर दूसरी ओर चला जाता है।

कई बातो पर ध्यान देने की योग्यता अभ्यास पर भी निर्भर रहती है। प्रौढ़ लोग आँख, हाथ, पैर और मुँह से भिन्न भिन्न काम करते हुए भी सबमे एकता स्थापित कर सकते है। एक अभ्यस्त गवैया अपने गाने के शब्दो, उनके अर्थ, राग, ताल आदि पर ध्यान देता है, साथ ही साथ बाजा बजाने पर तथा सुननेवालो की मनोवृत्तियों पर भी ध्यान देता है। किन्तु गाना सीखने की प्रारम्भिक अवस्था में सीखनेवाला गाने और बजाने दोनो पर एक साथ ध्यान नहीं दे सकता। उसे प्रारम्भिक अवस्था मे बाजा बजाते समय एक-एक ध्वनि पर अलग अलग ध्यान देना पड़ता था। जब वह बाजे की अनेक ध्वनियाँ निकालने मे अभ्यस्त हो जाता है तभी एक साथ गाने और बजाने को योग्यता प्राप्त करने में प्रवृत्त होता है। वास्तव मे गवैये के अनेक कार्य्य एक साथ इसलिए होते है कि उसे सब कामो पर एक-सा ध्यान नहीं देना पड़ता। उसके बहुत से कार्य्य अभ्यास के कारण अनायास ही हुआ करते है। टाइप सीखने-वाला व्यक्ति जिस अक्षर को टाइप करता है, सीखने की प्रारम्भक

अवस्था मे उसी पर ध्यान देता है किन्तु जब उसका टाइप करने का अभ्यास दृढ़ हो जाता है तब आँखो से टाइप किये जाने-वाले विषय को देखता है, बुद्धि से उसका अर्थ लगाता है और अभ्यास रहने के कारण उँगलियाँ टाइप का काम अपने-आप किया करती हैं।

हम लोग कई काम एक साथ किया करते है। किताब को हम पढ़ते और उसका अर्थ समझते हैं; पढ़ने मे शुद्ध उच्चारण का ध्यान रखते है, किन्तु यह हमारे अर्थ समझने मे बाधा नहीं देता। इसी तरह लिखते समय अक्षर की सुन्दरता और लिखे जानेवाले विषय दोनो पर ही ध्यान देते हैं। बालक में इस प्रकार की योग्यता नहीं रहती। जब बालक शब्दो के शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देता है अथवा किताब को ठीक से पकड़ने पर ध्यान देता है तो पढ़ी हुई बात का अर्थ ग्रहण नही कर पाता और जब अर्थ ग्रहण करने की चेष्टा करता है तब दूसरी बाते ठीक से नहीं होतीं। लेख लिखते समय बालक जब अपने अक्षरो की सुन्दरता पर ही ध्यान देने लगता है तब लिखित विषय की मौलिकता मे कमी हो जाती है। हम जब बालक का ध्यान गणित करते समय नोट-बुक के लिखने के तरीके पर आकृष्ट करते है तो सवाल का सही हल करना ही बालक भूल जाता है। जिस समय कोई बालक अपने हाथ से सीने, लकड़ी काटने या तश्तरी धोने मे से एक काम कर रहा हो उसी समय यदि हम उसे किसी बातचीत मे लगावें तो उसके हाथ काम करने से रुक जायँगे। वह बोलने का काम और हाथ का काम, अभ्यास के अभाव के कारण, एक साथ नहीं कर सकता। जब उसका मुँह काम करता है तब हाथ का काम बन्द हो जाता है और जब हाथ का काम करता है तो बोलना बन्द हो जाता है। बालकों को पढ़ाते समय इस बात का हमे ध्यान रखना चाहिये कि उनसे जब हम किसी आँख के विषय पर ध्यान देने को कहे तो लिखने के लिए न कहे। इस प्रकार दो काम एक साथ करने से दोनो ही ठीक से नहीं होते। जब बालक का अभ्यास बढ़ जाता है तभी वह कई काम एक साथ कर सकता है।

ध्यान की गहनता—वालक किसी भी विषय पर गहनता से ध्यान नहीं देता। वह जिस कार्य मे वड़ी लगन से लगा हुआ मालूम पड़ता है उसे दूसरे ही क्षण विलकुल भुला देता है। जब वालक किसी खिलौने के लिए रोता रहता है तो माताएँ उसका ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट करके शीघ्रता से उसके मन की पहली वात को भुलवा देती है। वालक यदि एक काम मे लगा है तो वह साधारण वाह्य उत्तेजना से ही उस काम को छोड़ सकता है। मान लो, एक वालक कक्षा मे बैठा पुस्तक पढ़ रहा है। वाहर से सीटी, ढोल अथवा किसी के गाने की आवाज आई, वालक तुरन्त किताव का पढ़ना छोड़ देगा और इन आवाजों पर ध्यान देने लगेगा। वालकों को पढ़ाते समय हमे इस वात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि जिस स्थान पर उन्हे पढ़ाया जाय, उसके आसपास पढ़ाई का ही वातावरण रहे। उनके ध्यान को पढ़ाई से अन्य विषय पर आकृष्ट करनेवाले उत्तेजक पदार्थ विलकुल ही कम हो।

ध्यान की लम्बाई—वालक एक विषय पर अधिक देर तक ध्यान नहीं दे सकता। यदि कोई वाह्य उत्तेजक पदार्थ वालक के ध्यान को आकृष्ट न करे तो भी वालक एक ही विषय पर अधिक देर तक ध्यान नहीं जमा सकता। प्रौढ़ लोगो की अपेक्षा वालक का ध्यान अधिक चञ्चल होता है। इसका एक कारण यह है कि उसकी मानसिक तैयारी कम रहती है। हम उसी वात पर अधिक देर तक ध्यान दे सकते हैं जिसे हम समझते हैं। वालक की समझने की शक्ति परिमित रहती है। जैसे जैसे उसका अनुभव बढ़ता जाता है, उसकी समझ विकसित होती जाती है। वालक का अनुभव सीमित रहने के कारण उसकी समझने की शक्ति भी सीमित रहती है और इसी कारण वालक अपने मन को किसी विषय पर आकृष्ट नहीं कर सकता। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति का मन, वह किसी अवस्था का क्यों न हो, एक ही वात पर देर तक नहीं ठहरता। प्रौढ़ व्यक्ति जब एक विषय पर ध्यान देता है तो वह एक विषय उसके लिए नित्य नया होता। वह अपनी ध्यान की वस्तु का अनेक प्रकार से निरूपण करता है और उसके अवयवों

का दूसरी वस्तुओ के अवयवो से सम्बन्ध स्थापन करने की चेष्टा करता है। इसका अर्थ यह है कि प्रौढ़ लोगो के ध्यान का विषय एक रहते हुए भी बदलता रहता है। बालक मे न ध्यान के विषय का विश्लेषण करने की शक्ति होती है और न उसके अवयवो के विषय मे सोचने की। अतएव उसके ध्यान के विषय को शीघ्रता से बदलने की अधिक आवश्यकता होती है।

ध्यान को एकाग्र करने मे शक्ति का व्यय होता है। बालक की मानसिक शक्ति परिमित होने के कारण जब भी वह किसी विषय पर देर तक ध्यान देने की चेष्टा करता है, थक जाता है। इस थकावट के कारण उसका ध्यान स्वभावत: विचलित होने लगता है। यदि किसी पाठ को पढ़ाते समय पाठक देखे कि बालको का मन पाठ पर आकृष्ट न होकर इधर-उधर दौड़ रहा है तो पढ़ाई का विषय बदल देना चाहिये। सम्भव है, बालको मे इस प्रकार ध्यान की एकाग्रता आ जाय, किन्तु जब बालक पढ़ाई से अधिक थक जाता है तब किसी विषय पर भी अपना ध्यान एकाग्र नही कर पाता। थकावट का प्रतिकार करने के लिए ही प्रकृति बालक के ध्यान मे चञ्चलता लाती है।

बालक जैसे जैसे आयु मे बढ़ता है और उसके अनुभवो मे परिपक्वता आती है वैसे वैसे उसमे अधिक देर तक ध्यान एकाग्र करने की क्षमता आती जाती है। जिस विषय में हमारा ज्ञान जितना अधिक बढ़ता है उतना ही हम गहराई के साथ और देर तक ध्यान लगा सकते है। बालकगण यदि किसी पुस्तक को पढ़ते हों तो हम देखेगे कि वे किसी पाठ को एक या दो बार पढ़कर समाप्त कर देते हैं; उसकी कहानी अथवा विषय जान लेते है और फिर उस पर ध्यान देना उनके लिए असम्भव है। बालक मे मनन करने की योग्यता परिमित रहती है। यदि पाठक-गण उस पाठ के विषय के बारे मे अनेक प्रकार के प्रश्न बालको को पहले से दे दें तो वे उस पाठ को अधिक ध्यान से पढ़ेगे और उसके विषय पर मनन करेंगे। अतएव बालको के ध्यान मे गहराई और देर तक एकाग्र करने का एक सुगम उपाय यह है कि बालको को किसी पुस्तक के पढ़ते समय अनेक प्रकार के

प्रश्न दिये जायँ। इससे बालक का निरीक्षण या चिन्तन हेतुपूर्ण हो जाता है और उसके ध्यान की एकाग्रता सहज में ही बढ़ जाती है।

बालकों को पढ़ाते समय शिक्षकों को इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि बालक की पढ़ाई के घंटे उसकी आयु के अनुसार बनाये जायँ। हम प्राय: देखते है कि स्कूल भर के सब बालको के लिए एक ही समय पर घंटे बजते है। यह मनोविज्ञान के नियमों के प्रतिकूल है। जितनी देर तक सोहल वर्ष का बालक अपना मन एक विषय पर एकाग्र कर सकता है उतनी देर तक आठ वर्ष का बालक अपने मन को एकाग्र नहीं कर सकता। उससे इस प्रकार की आशा करना व्यर्थ है। शिशुकक्षा के बालको के घंटे साधारणत: १५ या २० मिनट के हो। हाईस्कूल के बालकों को लगातार ४५ मिनट तक एक विषय पढ़ाया जा सकता है, किन्तु छोटे बालको के लिए जल्दी जल्दी विषय का बदलना आवश्यक है। ऐसा न करने से उनकी शक्ति का अपव्यय होता है जिसका कुपरिणाम उनके स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। अनेक मनोवैज्ञानिको का यह भी कथन है कि बालकों की पढ़ाई तथा घंटो की लम्बाई बालक की आयु पर ही निर्भर न रहे, प्रत्युत विषय की जटिलता अथवा सरलता पर भी निर्भर रहे। जो विषय पढ़ने में जितना क्लिष्ट है उस पर उतनी ही थोड़ी देर तक बालक अपना ध्यान एकाग्र कर सकते हैं, अतएव ऐसे विषयो का घंटा सरल विषयो के घटे से छोटा होना चाहिये। पाठकगण जहाँ इस प्रकार की सुविधा नहीं प्राप्त कर सकते वहाँ उन्हे एक ही विषय को भिन्न-भिन्न तरीको से निश्चित समय में पढ़ाना चाहिये। यदि बालकगण किसी विषय मे मस्तिष्क का काम देर से कर रहे हो तो उन्हे लिखने का काम दे दिया जाय। यदि किसी कठिन गणित के प्रश्न को शिक्षक ने श्यामपट की सहायता से क्लास को ३० मिनट तक समझाया है तो उसे चाहिये कि उस प्रश्न के हल करने का तरीका बालको से अपना नोट-बुक में उतारने को कहे। इस प्रकार बालको के मस्तिष्क का काम बदलकर उनको हाथ का काम देने से जल्दी से थकावट नहीं आवेगी।

ध्यान को देर तक एकाग्र करने की क्षमता अनुभव का परिपक्वता के अतिरिक्त अभ्यास पर भी निर्भर है। जिस बालक को १५ या २० मिनट से अधिक चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास नहीं हुआ है वह इतने समय से अधिक तक ध्यान को एकाग्र नहीं कर पाता। प्रौढ़ व्यक्ति दो ढाई घंटे से अधिक देर तक ध्यान एकाग्र नहीं कर पाते। इतने समय के उपरान्त उनका ध्यान विचलित होने लगता है, किन्तु अभ्यास के बाद मनुष्य किसी विषय पर दिन दिन भर ध्यान को एकाग्र किये रहता है। महात्मा सुकरात के बारे में कहा जाता है कि वे किसी विषय पर दिन भर विचार करते हुए एक जगह पर खड़े रह गये। जिन्होने देखा उन्होने शिलामूर्त्ति के समान उन्हें समाधिस्थ पाया। ससार के बड़े बड़े वैज्ञानिक तथा तत्त्ववेत्ता एक ही विचार मे उठते, बैठते, खाते, पीते, सोते, महीनो रह जाते है। तभी वे नई खोज करने मे समर्थ होते है। इस प्रकार की ध्यान की एकाग्रता अभ्यास से ही आती है। बालक को किसी विषय पर ध्यान देने का जैसे जैसे अभ्यास बढ़ाया जाता है, वैसे ही वह एक बात पर अधिक देर तक ध्यान देने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

ध्यान के विषयों की संख्या—बालक के ध्यान के विषय प्रौढ़ लोगो की अपेक्षा अधिक होते हैं। जितना छोटा बालक होता है उतना ही वह अधिक विषयो मे रुचि रखता है। हमारा ध्यान उस विषय पर सरलता से चला जाता है जिसके जानने के लिए हम उत्सुक होते है। प्रौढ़ लोगो की उत्सुकता को उत्तेजित करनेवाले विषय थोड़े ही होते हैं; वे ससार क अनेक विषयो से पहले से ही परिचित हो चुकते है। अतएव ससार का प्रत्येक विषय उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित नही करता। छोटे बालक के लिए ससार मे प्रत्येक वस्तु नई है। अतएव वह सरलता से उसके ध्यान को आकृष्ट कर लेती है। यदि हम नये स्थान मे बालक के भ्रमण करने और उसी स्थान मे प्रौढ़ जनो के भ्रमण करने के अन्तर पर विचार करें तो इस बात को स्पष्ट पायेंगे। बालक जब किसी नये स्थान पर जाता है तो आस-

पास की हजारों वस्तुओं को देखता है और उनके विषय में अपने प्रौढ़ साथी से अनेकों प्रश्न करता है। उसी स्थान पर जब हम जाते हैं तो वहाँ की कोई एक वस्तु हमारा ध्यान आकृष्ट करती है और हम देर तक उसी पर सोचते रहते हैं। जिस तरह हम शिक्षित और अशिक्षित व्यक्ति के किसी नये स्थान के देखने में अन्तर पाते हैं, उसी तरह बालक और प्रौढ़ के संसार के पदार्थों के देखने में अन्तर होता है। शिक्षित व्यक्ति प्रत्येक पदार्थ की मौलिकता अथवा उसके अर्थ को जानने की अधिक चेष्टा करता है। वह पदार्थों की अधिक संख्या जानने की चेष्टा नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि शिक्षित व्यक्ति को आकृष्ट करनेवाले बाह्य पदार्थ इतने महत्त्व के नहीं हैं जितने कि उसके अपने मन के विचार। बालकों में विचार की कमी होने के कारण वे बाह्य पदार्थ से ही अधिक आकृष्ट होते रहते हैं। जब हम किसी प्रौढ़ व्यक्ति को अनेक बातों पर ध्यान देते देखते हैं तो उसे बालबुद्धि कहते हैं। किन्तु जो बात प्रौढ़ लोगों को शोभा नहीं देती, वही बालक के जीवन को आधार होती है। यदि बालक में अनेक पदार्थों की ओर आकृष्ट होने की रुचि न होती तो वह इस विचित्र जगत् का ज्ञान ही न कर पाता। बालकों की शिक्षा में हमें इस बात की ओर ध्यान देना चाहिये। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा में अनेक विषय रक्खे जायँ। जैसे-जैसे बालक आयु में बढ़ता जाय वैसे ही इन विषयों की कमी की जानी चाहिये। इस प्रकार अन्त में जाकर प्रौढ़ अवस्था में अध्ययन का विषय एक ही हो जायगा।

संवेदनात्मक ध्यान का आधिक्यः—बालकों और प्रौढ़ लोगों के ध्यान में प्रकार का भी भेद होता है। विषय के अनुसार ध्यान दो विभागों में विभक्त किया जाता है—एक संवेदनात्मक और दूसरा बौद्धिक। बालकों के ध्यान का विषय प्रायः संवेदनात्मक होता है तथा प्रौढ़ लोगों के ध्यान का विषय अधिकतर बौद्धिक होता है। बालक के विचार में वह परिपक्वता नहीं रहती और न उसके विचार का विषय ही इतना स्थिर रहता है कि उसका ध्यान बौद्धिक विषय पर जाय। बालक का ध्यान प्रायः

उसकी मूल प्रवृत्तियो के उत्तेजित होने पर ही किसी ओर जाता है। इन मूल प्रवृत्तियो का संबंध इन्द्रियो के विषयों से अधिक रहता है अतएव वालक ऐसे ही विषयो पर ध्यान देता है। प्रौढ़ लोगो के ध्यान का संचालन आदते तथा स्थायी भाव भी करते हैं।

यदि एक वालक और प्रौढ़ व्यक्ति किसी अजायवघर मे जायँ तो जो वाते वालक का ध्यान आकर्षित करेगी वे प्रौढ़ व्यक्ति का न करेगी और जिन्हे प्रौढ़ व्यक्ति देखेगा उन्हे वालक कदापि न देख पायेगा। वालक रंगीन, चंचल, छू सकनेवाली, आवाज करनेवाली वस्तुएँ देखकर प्रसन्न होता है। वालक को जव हम घुमाने ले जाते हैं तो हमे इस वात का ध्यान रखना चाहिये। जो स्थान हमे रम्य लगता है वही वालक को बुरा लग सकता है। जिस स्थान पर चहल-पहल नही है, जहाँ गाना-वजाना नहीं हो रहा है, जहाँ रग-बिरंगी वस्तुएँ नहीं हैं और न खाने-पीने एवं उठाने धरने को कुछ है ऐसा स्थान वालक के लिए जेलखाने के समान है*। जैसे-जैसे वालक का जीवन विकसित होता जाता है, उसके ध्यान के विषय भी वदलते जाते है। वालक की शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य उसके ध्यान का विषय वौद्धिक वनाना है। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शिक्षकों को वड़े विचार के साथ कार्य करना चाहिये। वालक के ध्यान के विषय मे एकाएक परिवर्तन नहीं हो सकता, धीरे धीरे ही उसके ध्यान का विषय परिवर्तित किया जा सकता है।

प्रयत्नात्मक ध्यान की कमी—वालको और प्रौढ़ लोगो के ध्यान मे सवसे महत्त्व का भेद यह है कि वालक का ध्यान किसी वस्तु की ओर अपने आप आकर्षित होता है। उसका ध्यान सहज ध्यान होता है। वह अपना ध्यान प्रयत्न के साथ एक पदार्थ पर

---

* कुछ प्रौढ़ लोग भी अधिक आयु तक वालक की मनोवृत्ति के ही वने रहते हैं। जव तक चमक-दमकवाला कोई पदार्थ किसी नये स्थान पर न देखें तव तक वह स्थान उन्हे अच्छा नही लगता। जिस मनुष्य की जितनी अधिक शिक्षा होती है उसके ध्यान का विषय उतना ही वौद्धिक होता है।

स्थिर नहीं कर पाता। जो योग्यता प्रौढ़ लोगो मे अपने ध्यान को एक ओर लगाये रहने की होती है वह बालकों मे नहीं होती। बालक ऐसे विषयों पर ही ध्यान दे सकता है जो उसको तुरन्त ही सन्तुष्ट करते है, वह भावी लाभ के लिए किसी अरुचिकर विषय पर ध्यान नहीं लगा सकता। यह योग्यता अनुभव की वृद्धि और शिक्षा द्वारा प्राप्त होती है।

प्रयत्नात्मक ध्यान की मौलिकता के विषय मे मनोविज्ञानियो का एक मत नहीं है। कितने ही लोगो का कथन है कि प्रयत्नात्मक ध्यान के द्वारा ही संसार के उपयोगी कार्य किये जा सकते है। जो व्यक्ति अपना ध्यान थोड़ी देर तक भी अरुचिकर बातो पर नहीं लगा सकता, वह जीवन-संग्राम मे कदापि सफल नहीं हो सकता। उनके कथनानुसार बालक की शिक्षा का उद्देश यही होना चाहिये कि बालक अपने ध्यान को अपने वश मे कर ले और उसे जहाँ लगाना चाहे वहाँ लगा सके। अतएव बालक की शिक्षा मे उसकी रुचि पर ही ध्यान देना बड़ी भूल है; अरुचिकर बातो मे ध्यान लगाने का अभ्यास बालक को शिक्षा द्वारा कराना चाहिये। इस मत के अनुसार अरुचिकर बातो पर देर तक ध्यान दे सकने की शक्ति का नाम प्रतिभा है। इस मनोवृत्ति से प्रेरित होकर कितने ही शिक्षको ने बालकों के पढ़ाने के लिए ऐसा शिक्षाक्रम बनाया जो न तो बालकों की रुचि से सम्बन्ध रखता था और न उनके भावी जीवन से ही। उसका मुख्य उद्देश बालको से एक प्रकार की मानसिक कसरत कराना था जिससे उनकी मानसिक शक्ति बढ़ जाय।

आधुनिक अनेक मनोविज्ञानियो एवं शिक्षाशास्त्रियों ने इस प्रकार के प्रयास को मूर्खता-पूर्ण बताया है। इस प्रकार बालक की मानसिक शक्ति का अपव्यय होता है। प्रयत्नात्मक ध्यान मे शक्ति खर्च होती है, इसलिए ऐसा ध्यान प्रौढ़ लोग भी थोड़ी ही देर तक किसी विषय पर दे सकते हैं। जब तक ध्यान की क्रिया सहज अथवा स्फूर्ति-युक्त नहीं हो जाती, कोई भी मनुष्य महत्त्व का कार्य नहीं कर पाता। यदि किसी को हर समय अपने मन से ही लड़ते रहना पड़े तो वह जिस क्रिया को कर रहा है अथवा जिस ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा करता है उसमे सफलता कैसे

प्राप्त कर सकता है? यदि हमारा ध्यान वारवार इधर उधर जाता है और हम प्रयत्न के साथ उसे एक विषय पर ले आते हैं तो हमारी सारी शक्ति ध्यान को एक जगह स्थिर करने मे ही खर्च हो जायगी। किसी विषय के ध्यान मे जब तक हम मग्न नहीं हो जाते, अर्थात् जब तक हमारा ध्यान सहज ध्यान नही हो जाता, हम न कोई बड़ा काम कर सकते है और न कुछ सीख सकते है।

ध्यान की एकाग्रता की शिक्षा

बालक की रुचि मे विकास होने से ही उसे ध्यान की एकाग्रता प्राप्त होती है। ध्यान रुचि का दास है। बालक की शिक्षा में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है। बालक की रुचि के अनुसार ही उसका शिक्षाक्रम बनाना चाहिये तथा धीरे धीरे उसकी रुचियाँ बदलने की चेष्टा करनी चाहिये। इंगलैंड के शिक्षाशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर महाशय तथा अमेरिका के ड्यूयी महाशय ने शिक्षा-पद्धति मे मौलिक सुधार इसी सिद्धान्त को ध्यान मे रखकर बताये है। उनकी बताई हुई बाते अब धीरे धीरे ससार के शिक्षालयो मे कार्यान्वित की जा रही है। पश्चिम मे उन्नीसवीं शताब्दी में बालको को जिन विषयो के पढ़ने पर ज़ोर दिया जाता था अब उनके बदले ऐसे विषयो पर जोर दिया जाता है जो बालक को रुचिकर हों और जिनकी उपयोगिता को वह स्वय समझ सके। शिक्षा-पद्धति मे भी थोड़े ही दिनो मे बड़े परिवर्त्तन हुए है। प्रोजेक्ट शिक्षा-पद्धति, डाल्टन शिक्षा-पद्धति आदि इसी मनोवृत्ति में परिवर्तन के परिणाम है। इन पद्धतियो मे बालक की रुचि पर ही विशेष ध्यान रक्खा जाता है, उसकी उत्सुकता बढ़ाई जाती है और उसे स्वावलंबी बनना सिखाया जाता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, बालक की रुचि उन चीज़ो मे होती है जो उसकी मूल प्रवृत्तियो को उत्तेजित करती है। धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा इस रुचि को उन वस्तुओ पर ले जाया जा सकता है जो स्वय तो रुचिकर नही है, किन्तु जो उसके भावी जीवन के लिए उपयोगी है। जैसे जैसे बालक का अनुभव बढ़ता

है और वह अपने स्वार्थ को समझने लगता है तथा जैसे जैसे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है, वह उन बातों पर ध्यान जमाना सीख जाता है जो उसे पहले अरुचिकर प्रतीत होती थीं। बालक के ज्ञान और उसकी रुचि में पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालक को जिस बात का ज्ञान नहीं होता उसमें रुचि होना असम्भव है तथा रुचि के कारण ही बालक किसी विषय पर ध्यान देता है। इस प्रकार उस विषय का उसे ज्ञान होता है।

नये विषय मे बालक की रुचि बढ़ाने के लिए शिक्षकों को उस विषय का सम्बन्ध बालक की पुरानी रुचियों से जोड़ना चाहिये। बालक की रुचि भाषाज्ञान और इतिहास मे नहीं होती। उसकी रुचि तो गाना गाने, तसवीर देखने और कथा सुनने में होती है। अतएव उसके भाषा एवं इतिहासविषयक ज्ञान की वृद्धि के लिए गीत, तसवीर और कहानियो का उपयोग करना चाहिये। बालक की रुचि खेलने की होती है, अतएव पाठ्य विषयो का संबंध अनेक प्रकार के खेलो से जोड़ना चाहिये। किस्सा-कहानियो तथा ऐतिहासिक घटनाओं का अभिनय करना, हिज्जो के मेच खिलाना, भ्रमण कराना इत्यादि उपायो से शिक्षा के कार्य मे खेल को ला सकते है।

यह कहना यहाँ आवश्यक है कि बालक की शिक्षा का एक मात्र ध्येय शिक्षा के विषयों को रुचिकर ही बनाना न हो जाय। बालक को कितनी ही ऐसी बातें सिखानी पड़ती है जो उसे प्रतीत तो अरुचिकर होती है परन्तु जिनके सिखाये विना उसकी शिक्षा पूरी नहीं हो सकती। वास्तव मे जब हम बालक को शिक्षा पाते समय कोई भी कष्ट नहीं देना चाहते तो हम उसे शिक्षित बनाने में भी समर्थ नहीं होते। कितने ही धनी घरों के बालक इसी लिए अशिक्षित रह जाते हैं कि उनके माता-पिता लाड़-प्यार के कारण बालकों को कोई कष्ट ही नहीं होने देना चाहते। गणित और नई भाषा का सीखना थोड़े ही बालकों को रुचिकर होता है। ऐसे विषयो को पूर्णतः रुचिकर किसी प्रकार नहीं बनाया जा सकता। वास्तव में मानसिक परिश्रम करना भी इन विषयो के पढ़ाने का एक उद्देश्य है। अब यदि शिक्षक इन विषयो मे ध्यान न देने-

वाले एवं काम न करनेवाले बालकों को नहीं डाँटता तो वह अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता। और जब कोई बालक पढ़ाई के डर से घर की शरण लेता है तथा माता-पिता उसे लाड़ के कारण स्कूल जाने को बाध्य नहीं करते तो वे अपने कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं।

किसी विषय को पढ़ाते समय शिक्षक अपना सारा समय उसे रुचिकर बनाने के लिए किस्सा-कहानियाँ सुनाने और तस्वीरें दिखाने में ही न बिता दे। किस्सा-कहानियाँ और तस्वीरें सभी बालकों को अच्छी लगती हैं, किन्तु वे पाठशाला के बौद्धिक परिश्रम का स्थान ग्रहण नहीं कर सकतीं। बालक के मानसिक विकास के अनुसार ही हमें उन्हें कम या अधिक उपयोग में लाना चाहिये।

थकान

जब बालक अधिक देर तक कोई मानसिक या शारीरिक कार्य करता रहता है तो उसे थकावट आ जाती है। शारीरिक थकावट शारीरिक परिश्रम करने से आती है और मानसिक थकावट मानसिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार के परिश्रम से पैदा होती है। बालकों को अधिक देर तक किसी विषय पर चित्त को प्रयत्न करके एकाग्र करना पड़ता है तो उन्हें मानसिक थकावट आ जाती है। इस प्रकार की थकावट प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा बालकों को शीघ्रता से आती है। शारीरिक परिश्रम करने पर भी मानसिक थकावट आती है। इसका कारण यह है कि शरीर का थकावट मस्तिष्क पर अपना असर डालती है और जब शरीर अधिक थक जाता है तो उसका प्रभाव मन पर भी होने लगता है।

थकान के कारण—भौतिक विज्ञान की दृष्टि से शारीरिक थकान और मानसिक थकान के कारणों में विशेष भेद नहीं है। भौतिक विज्ञान के अनुसार शरीर की शक्ति कम होने से शारीरिक थकान होती है और मस्तिष्क की शक्ति कम होने से मानसिक थकान होती है। ओषजन की कमी, प्राण-सचालक तंतुओं का नष्ट होना और विषैले पदार्थों की उत्पत्ति शारीरिक तथा मानसिक

थकान होने के कारण कहे जाते हैं। यहाँ हम एक एक कारण पर पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

ओषजन[1] की कमी—शरीर में उत्तेजना देनेवाले पदार्थ ओषजन है। हम शरीर के कार्य करने की तुलना दीपक के कार्य करने से कर सकते है। जिस प्रकार दीपक को अपना काम करने के लिए ओषजन की आवश्यकता होती है इसी तरह शरीर को भी अपना काम करने के लिए ओषजन की आवश्यकता होती है। यदि हम जलते दीपक को किसी ऐसे स्थान मे रख दें जहाँ उसे सदा ताज़ा हवा न मिले तो वह बुझ जायगा, अर्थात् उसका काम बद हो जायगा। इसी प्रकार यदि मनुष्य ऐसी परिस्थिति मे काम करता रहे अथवा इतनी देर तक काम करता रहे कि रुधिर मे रहनेवाली ओषजन की कमी हो जाय तो वह थक जायगा। ओषजन शरीर को फेफड़े और हृदय के द्वारा मिलता है। जब कोई व्यक्ति अधिक काम करता है तो उसे अधिक ओषजन की ज़रूरत पड़ती है। इस ओषजन को पहुँचाने के लिए फेफड़े और हृदय भी अधिक काम करने लगते है अर्थात् ऐसी अवस्था मे हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। अब यदि हृदय अपना काम करने पर भी आवश्यक ओषजन की पूर्ति नहीं कर पाता तो मनुष्य को थकावट अपने आप आ जाती है और उसका काम वैसे ही रुक जाता है जैसे ओषजन की कमी होने पर दीपक मन्द मन्द जलने लगता और पीछे बुझ जाता है।

प्राण-संचालक तन्तुओं का विनाश—थकान का दूसरा कारण प्राण-सचालक तन्तुओ का विनाश है। किसी काम के करते समय इन तन्तुओ का व्यय होता है जिस तरह दीपक के जलने में तेल का व्यय होता है। जब तेल की कमी हो जाती है तो दीपक अपने आप बुझ जाता है। फिर उसको चाहे कितनी ही ओषजन क्यो न मिले वह जल नहीं सकता। इसी तरह जब मनुष्य की संचित शक्ति का व्यय हो जाता है तब फिर उसे कितनी ही सुविधाएँ क्यो न मिले, वह कार्य नहीं कर सकता।

---

1 Oxygen,

विषैले पदार्थों की उपस्थिति—थकान का तीसरा कारण शरीर में विषैले पदार्थों (जिन्हे टाक्सिन कहा जाता है) का पैदा होना है। जिस तरह दीपक के जलने से धुएँ और कालिख की उत्पत्ति होती है और इसके कारण वह धीमा धीमा जलने लगता है, इसी तरह जब शरीर कार्य करता है तो टाक्सिन की उत्पत्ति होती है। टाक्सिन वास्तव में जले हुए प्राणप्रद तन्तु ही है, जिस तरह कि धुवाँ जला हुआ तेल है। जिस प्रकार जीवित सैनिक सेना का बल बढ़ाता है और उसके मर जाने पर यदि उसका मृत शरीर हटा न दिया जाय तो वह दूसरे सैनिको मे रोग फैला देता है, इसी प्रकार मरे हुए प्राणप्रद तन्तु जहर बन जाते है और जीवित प्राणप्रद तन्तुओ की शक्ति को कम कर देते है। भले प्रकार से कार्य करने के लिए इन्हे हटा देना परमावश्यक है। इनके हट जाने से थोड़ी देर के लिए थकावट दूर हो जाती है। ये रुधिर के प्रवाह के साथ हट जाते है। रुधिर के प्रवाह की गति ओषजन की वृद्धि से बढ़ जाती है। अतएव जब कुछ समय तक मानसिक परिश्रम करने के बाद बालक बाहर मैदान मे दौड़ते है और उन्हे किसी प्रकार का विश्राम मिल जाता है तो उनकी थकावट दूर हो जाती है।

वास्तविक और झूठी थकान—जब बालको का मन पढ़ने मे नहीं लगता तो उसका प्रधान कारण थकावट ही है। यह थकावट वास्तविक हो सकती है अथवा झूठी। वास्तविक थकावट होने पर बालक मे कार्य करने की शक्ति नही रहती। यदि इस अवस्था मे उसको बरबस किसी काम मे लगाया जाय तो उसका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। थके हुए बालक को पढ़ाते रहना उसके प्रति अन्याय करना है।

कभी कभी बालक वास्तव मे नहीं थका रहता है फिर भी थक जाने का बहाना बनाता है। इसका कारण पढ़ाये जानेवाले विषयों की अरोचकता है। जब बालक को कोई काम रुचिकर नहीं लगता तो उसका ध्यान इधर उधर दौड़ने लगता है और जब वह बार बार अपने ध्यान को उस पर लाने की चेष्टा करता है तो उसे थकावट का अनुभव होने लगता है। यदि

इस समय वालक की पढ़ाई का विषय वदल दिया जाय तो सम्भव है कि उसकी थकावट भी दूर हो जाय। देखा गया है कि जब वालक किसी विषय के पढ़ते समय थकावट का अधिक अनुभव करते है तो प्रायः शिक्षा-पद्धति का ही दोष होता है। यदि वालकों को सुयोग्य शिक्षा-पद्धति से कोई विषय पढ़ाया जाय तो वे उतनी जल्दी थकावट का अनुभव नहीं करेंगे जितना कि वे अन्यथा करते है।

थकावट की पहचान—वालकों की थकावट की पहचान हम निम्नलिखित चिह्नों से कर सकते है—

ध्यान की चचलता—जब बालक थक जाता है तो उसका ध्यान इधर-उधर दौड़ने लगता है। ध्यान का विचलित होना प्रकृति का थकावट मिटाने का एक अचूक उपाय है। जब हम वालकों को विचलितमन देखें तो हमें समझना चाहिये कि वे थक रहे हैं। किन्तु यहाँ इस वात को ध्यान में रखना होगा कि विषय रुचिकर न होने से भी ध्यान विचलित होता है। रोचक विषय में भी जब वालक का मन न लगे तो इसका कारण थकावट ही समझना चाहिये।

शारीरिक लक्षण—थकावट की अवस्था में शरीर मे शिथिलता आ जाती है। वालक के उठने, वैठने और खड़े होने का ढङ्ग ढीला हो जाता है। थकी हुई अवस्था में वालक सीधा खड़ा नहीं रह सकता। उसका सिर एक तरफ लटका सा रहता है, रीढ़ की हड्डी भी सीधी नहीं रहती। उसका चेहरा पीला दिखाई देता है। वालक वार-वार शरीर को मोड़ता और अँगड़ाइयाँ लेता है। अधिक थकी अवस्था मे आँख की पलकें अपने आप ढलने लगती हैं। यदि वालक से भुजाएँ फैलाने को कहा जाय तो उसकी भुजाएँ सीधी नहीं फैलेंगी। यदि वालक का हाथ इस तरह फैलाया जाय कि उसकी हथेली नीचे की ओर रहे तो उसका

अँगूठा सीधा न रहकर नीचे की ओर झुका हुआ दिखाई देगा। कहने का तात्पर्य यह कि बालक के सारे अंगों मे ढीलापन रहता है। उसके शरीर मे वैसी स्फूर्ति नहीं रहती जैसी अन्यथा रहती है।

काम मे त्रुटियाँ—मनोवैज्ञानिको ने थकावट की जाँच बालको को काम देकर भी की है। यदि बालकों को थकावट की अवस्था मे अंको की कुछ पंक्तियाँ जोड़ने के लिए दे दी जायँ तो वे साधारण अवस्था की तुलना में अधिक भूलें करेंगे। थार्नडाइक महाशय ने इस प्रकार के अनेक प्रयोग किये हैं। इसी तरह यदि बालकगण थकावट की अवस्था मे इमला लिखें तो उनकी अशुद्धियों की सख्या बेथकी अवस्था से कितनी ही अधिक होगी। थकावट की अवस्था मे बालक कोई भी काम भली भाँति नही कर पाता।

यन्त्रो द्वारा जाँच—आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने थकावट को मापने के लिए कुछ यन्त्रो का भी आविष्कार किया है। इन यन्त्रों से बालक की नाड़ी की गति जानी जाती है। बेथकी अवस्था मे बालक की नाड़ी की गति सुचारु रूप से चलती है, किन्तु थकी हुई अवस्था मे उसकी गति का वेग बदल जाता है। इस गति का 'ग्राफ' बनाया जाता है। जब नाड़ी की गति का साधारण क्रम बदलता जान पड़ता है तो इसे थकावट का सूचक माना जाता है।

विभिन्न विषयों में थकान—थकावट का आना विषय की जटिलता और बालक की रुचि पर निर्भर रहता है। जिन विषयो मे मस्तिष्क से अधिक काम लेना पड़ता है और जिनमे ध्यान की एकाग्रता की अधिक आवश्यकता पड़ती है उनमे दूसरे विषयो की अपेक्षा अधिक वेग से थकावट आती है। उदाहरणार्थ गणित और सङ्गीत को लीजिए। गणित मे जितना मस्तिष्क का कार्य रहता है उतना सङ्गीत मे नही रहता, अतएव जितनी जल्दी बालक गणित मे थकते है उतनी जल्दी सङ्गीत मे नही थकते।

वेगनर महाशय ने विभिन्न विषयो की थकान पर अनेक प्रयोग किये और उनके थकान लाने के अनुसार तुलनात्मक सूची बनाई

है। यहाँ इस सूची को उद्धृत करना अनुचित न होगा। इस तुलनात्मक अध्ययन में गणित को थकान का मापक बनाया गया है। अर्थात् हर एक विषय की थकान की तुलना गणित से की गई है। गणित की थकान को इकाई मानकर दूसरे विषयो की थकान वेगनर महाशय ने इस प्रकार दी है*—

विपय-नाम	थकान का अंक
गणित	१००
लैटिन	९१
ग्रीक	९०
शारीरिक व्यायाम (जेमनास्टिक)	९०
इतिहास और भूगोल	८५
फ्रेंच और जर्मन	८२
नेचरल हिस्ट्री	८०
ड्राइंग और धर्म	७०

भारतवर्ष मे भी कुछ मनोवैज्ञानिकों ने थकान के विषय में महत्त्व के प्रयोग किये है। पटना के वी० एन० कालेज के प्रिंसपल डी० एन० सेन महाशय ने यंत्रो द्वारा थकान को मापा है। उनके कथनानुसार बालक नई भाषा पढ़ने में सबसे अधिक और प्रयोग करनेवाले विषय जैसे केमिस्ट्री आदि में सबसे

---

*केमसिस महाशय ने आरबाइट्शाइगिने डेयर श्यूले (*Arbeitshygiene der Schule P 51*) नामक ग्रन्थ मे विषयो को उनकी थकान के अनुसार इस प्रकार रक्खा है—

१—शारीरिक व्यायाम।
२—गणित।
३—आधुनिक भाषाएँ।
४—धर्म।
५—मातृभापा।
६—नेचरल हिस्ट्री और भूगोल।
७—इतिहास।
८—गाना और ड्राइङ्ग।

कम थकता है। सेन महाशय का यह भी कथन है कि थकावट का होना बालक की रुचि पर भी निर्भर रहता है।

वास्तव मे किसी विषय की थकावट की माप बालक की उस विषय मे रुचि तथा पढ़ने के ढङ्ग से अलग नहीं की जा सकती। जो विषय बालक को भली भाँति नहीं पढ़ाया जाता, और जो उसे रुचिकर नहीं है उसमे दूसरे विषयो की अपेक्षा अवश्य ही जल्दी थकावट आयेगी, चाहे वह विषय सरल ही क्यो न हो। सेंडीफोर्ड महाशय का यह कथन बहुत अंश तक ठीक है कि "विषयो की जटिलता की अपेक्षा उनके पढ़ाने के ढङ्ग पर ही थकावट निर्भर रहती है, कुछ शिक्षकगण दूसरो की अपेक्षा अधिक थकावट लानेवाले होते है* ।"

उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं कि विषय की जटिलता का थकावट पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। साधारण बालको के लिए गणित ड्राइङ्ग से अवश्य ही अधिक थकानेवाला विषय होता है।

थकावट मिटाने के उपाय—थकावट मिटाने के कई उपाय बताये गये हैं। इन उपायों पर हम एक एक करके विचार करेंगे :—

विश्राम—थकान मिटाने का सबसे सुलभ उपाय विश्राम है। जब हम किसी काम से थक जाते है तो उसे अपने आप ही छोड़ देते हैं। इस प्रकार हमारी थकावट का निवारण हो जाता है। थकावट का निवारण हो जाने पर फिर हम उसी काम मे लग जाते हैं। हमारा मन फिर नये उत्साह से काम करने लगता है। यही बात बालको की थकावट के विषय में कही जा सकती है। बालक जब थक जाता है तो उस काम को छोड़ देना चाहता है। उसका स्वभाव उसे विश्राम लेने के लिए प्रेरित करता है। विश्राम के पश्चात् बालक फिर ठीक तौर पर काम करता है।

---

* "It is probable that the way subjects are taught has more effect than the contents of the subjects some teachers being more fatiguing than others or at least more boring"—Sandiford, *Educational Psychology*, P 273.

विश्राम के समय प्राणप्रद तन्तुओं का विनाश होना रुक जाता है और उनके नष्ट होने से जो विषैले पदार्थ[1] उत्पन्न हो जाते है वे रुधिर के प्रवाह के साथ साथ मस्तिष्क से अलग हो जाते है। जब विषैले पदार्थ बालक के मस्तिष्क से हट जाते हैं तो बालक में फिर नई स्फूर्ति आ जाती है। अतएव कुछ घंटे काम करने के पश्चात् बालकों के मस्तिष्क को विश्राम देना आवश्यक है।

खेल—बालकों की थकावट मिटाने का उपाय खेल भी है। पढ़ाई के समय बालक का मस्तिष्क तो थक जाता है, किन्तु उसके शरीर के दूसरे अवयव नहीं थकते। जब बालक खेलने लगता है तो उसके शरीर मे चलनेवाले रुधिर-प्रवाह की गति तीव्र हो जाती है। ऐसी अवस्था में पढ़ाई के समय उत्पन्न हुए विषैल पदार्थ उसके मस्तिष्क से अलग हो जाते हैं और बालक मे चेतनता आ जाती है।

भोजन—बालक की थकावट वास्तव में तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक उसे नई शक्ति न मिले। विश्राम से शक्ति का ह्रास होना बन्द होता है और खेल से विषैला पदार्थ अलग होता है, पर नई शक्ति तो भोजन से ही मिल सकती है। यदि बालकों को पढ़ाई के बीच बीच मे रेसेस (विश्राम) के समय कुछ खाने को भी मिल जाय तो उनकी नष्ट हुई शक्ति की वास्तव मे पूर्ति हो जाय। विलायत मे बालकों को ढाई तीन घंटे की पढ़ाई के बाद नाश्ता मिलता है। भारतवर्ष में गरीबी के कारण इस प्रकार की सुविधा नहीं हो सकती। यदि सब बालकों को ढाई तीन घंटे पढ़ाई के बाद चने ही दिये जायँ तो उनका वास्तविक कल्याण होगा। जब बालकों को कुछ समय तक काम करने के पश्चात् खाने को कुछ भी नहीं मिलता तो उनका स्वास्थ्य थोड़े ही दिनों में नष्ट हो जाता है और उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है।

चाय और काफी थकावट को शीघ्रता से दूर कर देती हैं। इसी तरह कोई भी चीनी मिला हुआ खाद्य पदार्थ तथा फल खाने

1 Toxic matter

से थकावट दूर हो जाती है। यदि कमज़ोर बालकों को दूध दिया जाय तो उनकी बुद्धि और बल दोनों ही बढ़ जायँ *।

काम का बदलना—काम को बदलने से भी थकान दूर हो जाती है। नेपोलियन कहा करता था कि काम के बदलने का ही दूसरा नाम विश्राम है। जब हम एक प्रकार का काम करते हैं तो हमारे मस्तिष्क के एक ओर के स्नायु नष्ट होते है अतएव उस स्थान पर थकावट आ जाती है। जब काम बदल दिया जाता है तो मस्तिष्क के पहले स्थान को विश्राम मिल जाता है। वहाँ का पैदा हुआ विषैला पदार्थ रुधिर-प्रवाह के साथ बह जाता है। अतएव हम फिर पहले काम को करने के लिए तैयार हो जाते है। बालको को पढ़ाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये। पढ़ाई के विषयों को सदा बदलते रहना चाहिये तथा मस्तिष्क और हाथ का काम बारी बारी से उनसे कराना चाहिये।

नीद—नींद से वास्तविक मानसिक और शारीरिक शक्ति की वृद्धि होती है। बालक के कामो को हम कितना ही क्यो न बदले, यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि वह विश्राम तथा नई शक्ति प्राप्त किये बिना काम करता ही रहेगा। नई शक्ति भोजन और नीद से मिलती है। नींद की अवस्था मे मस्तिष्क के विषैले पदार्थ अलग तो हो ही जाते हैं, साथ ही जिन तन्तुओ का विनाश हो गया है उनके स्थान पर दूसरे तन्तु बनते है। इस प्रकार कितने ही अङ्गो की क्षति-पूर्ति होती है। नीद का समय बालक

---

* लिस्टर महाशय का कथन है कि दूध पीने से बालकों का स्वास्थ्य अच्छा हो जाता है। उनके चेहरे में कान्ति आ जाती है। वे स्फूर्ति से भर जाते हैं। बिसकुट खानेवाले बालकों की अपेक्षा दूध पीनेवाले बालको में अधिक स्फूर्ति होती है। ससार की सभी लड़ाकू जातियाँ दूध पीनेवाली जातियाँ हैं—हाईजीन आफ दि स्कूल, पृष्ठ २१५।

की अवस्था के अनुसार कम और अधिक होना चाहिये *। जो बालक जितना ही निर्बल है उसे उतनी ही नींद की आवश्यकता होती है। नींद की अवस्था मे बालक प्रकृति देवी की गोद में जाता है और उस अवस्था से फिर जब चैतन्य अवस्था में आता है तो नई शक्ति तथा स्फूर्ति लेकर आता है।

अभ्यास और रुचि—बालक का किसी विषय में थकना उसके अभ्यास और रुचि पर भी निर्भर होता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, अभ्यास हमारे शक्ति-सञ्चय का सबसे बड़ा साधन है। जब हम किसी काम के करने मे अभ्यस्त हो जाते हैं तो हमे उसके करने में उतना ध्यान नहीं देना पड़ता जितना कि अभ्यास न किये हुए काम मे देना पड़ता है। ध्यान को एकाग्र करने में मानसिक शक्ति का व्यय होता है। जब किसी काम को

---

* डाक्टर ड्यूक ने नींद का समय बालकों की अवस्था के अनुसार निम्नलिखित बताया है।

अवस्था	घंटे	समय
६ वर्ष के नीचे	१३	६ बजे शाम से ७ बजे सुबह तक
७ ,, ,,	१२½	६½ ,, ,, ७ ,, ,,
८ ,, ,,	१२	७ ,, ,, ७ ,, ,,
९ ,, ,,	११½	७½ ,, ,, ७ ,, ,,
१० ,, ,,	११	८ ,, ,, ७ ,, ,,
१३ ,, ,,	१०½	८½ ,, ,, ७ ,, ,,
१५ ,, ,,	१०	९ ,, ,, ७ ,, ,,
१७ ,, ,,	९½	९½ ,, ,, ७ ,, ,,
१९ ,, ,,	९	१० ,, ,, ७ ,, ,,

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि भारतवर्ष में किशोर बालकों को ५ बजे के बाद सोते न रहने देना चाहिये। हमारी समझ में उनके लिए उपर्युक्त नींद का समय कुछ अधिक भी है।

करना हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है तो यह शक्ति-व्यय नहीं होती। अतएव थकावट भी शीघ्रता से नहीं आती। यदि मनुष्य अभ्यास की शरण न ले तो संसार का कोई भी बड़ा काम न कर पाये। ससार का प्रत्येक मौलिक काम करने के लिए घण्टो लगातार काम करते रहना पड़ता है। यदि ऐसे कामो मे हम उतने ही थके जितने साधारणतः थकते हैं तो कुछ भी कार्य भली भाँति नहीं कर पायेंगे। परन्तु अभ्यास के कारण लगन के साथ काम करनेवालो को थकावट आती ही नहीं। हमे बालको मे काम करने का अभ्यास बढ़ाना चाहिये।

अभ्यास के साथ साथ काम की रुचि भी थकावट के निवारण मे सहायक होती है। वास्तव मे अभ्यास और रुचि एक दूसरे पर आश्रित है। जिस काम मे हमारी जितनी अधिक रुचि होती है उसका उतना ही अधिक अभ्यास हम करते है तथा जिस काम मे जितना अभ्यास किया जाता है उसमे उतनी ही अधिक रुचि बढ़ जाती है।

थकावट का रोकना—हमने ऊपर थकावट के निवारण का उपाय बतलाया है। थकावट का रोकना थकावट के निवारण से और भी अधिक महत्त्व का विषय है। परन्तु इस विषय पर दूसरे प्रसंगो मे कहा जा चुका है, अतएव यहाँ कुछ महत्त्व की बातो पर ध्यान आकृष्ट करना पर्याप्त होगा। थकावट का आना निम्नलिखित बातो पर आश्रित है—

स्वास्थ्य—जब बालक का शरीर स्वस्थ होता है तो वह अस्वस्थता की अपेक्षा अधिक काम कर सकता है। अतएव जो बालक जितना स्वस्थ होगा उसमे उतनी ही अधिक कार्य करने की शक्ति होगी। जिन बालको को घर मे भोजन पर्याप्त नहीं मिलता, जो किसी न किसी बीमारी से पीड़ित रहते हैं वे भला अपनी प्रतिभा कैसे दिखा सकते हैं? भारतवर्ष मे कितने ही बालक ऐसे होते हैं जिनकी बुद्धि गरीबी के कारण ही अविकसित रह जाती है। शरीर ही हमारे समस्त मानसिक विकास का आधार है। जिस बालक का शरीर ही सुगठित नही होने पाता, उसका मन भी विकसित नहीं हो पाता। बालक के मन का विकास काम करने

ही से होता है, पर जो बालक थोड़े ही काम से थक जाता है वह मानसिक उन्नति कैसे कर सकता है ?

काम का समय—काम का समय भी थकावट लाने में कारण होता है। बालक जितना काम सबेरे कर सकता है उतना दोपहर को अथवा शाम को नहीं कर सकता। अतएव उसे जटिल तथा महत्त्व के विषय सबेरे ही पढ़ाये जायँ।

काम करने का स्थान—काम करने की शक्ति पर स्थान का भी प्रभाव पड़ता है। खुले मैदान की अपेक्षा बंद कमरे में पढ़ने से अधिक शीघ्रता से थकावट आती है। प्रयोगो द्वारा यह निश्चय हुआ है कि जो स्थान जितना खुला रहता है, वह उतना ही अधिक पढ़ाई के लिए उपयुक्त होता है। पर यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि चित्त को विक्षेप करनेवाले दूसरे प्रकार के पदार्थ वहाँ न हो। खुले स्थान मे बालक को पर्याप्त ओषजन मिलती है इससे उसके मस्तिष्क से विषैले पदार्थ जल्दी दूर हो जाते हैं अतएव बालक मे काम करने की शक्ति बनी रहती है। ऊपर कहा जा चुका है कि थकावट का एक प्रधान कारण ओषजन की कमी है। जिस स्थान पर अधिक ओषजन उपलब्ध होता है वह स्थान पढ़ाई के लिए उतना ही उपयुक्त होता है।

प्राकृतिक परिस्थितियाँ—प्राकृतिक परिस्थितियाँ भी थकावट पैदा करती है। ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा वसन्त ऋतु मे बालक अधिक काम कर सकता है। इसी तरह बरसात के दिनों मे उतना काम नहीं हो सकता जितना खुले मौसम मे। अधिक जाड़ा पड़ने पर भी काम करने की शक्ति कम हो जाती है।

थकावट और शिक्षा का समय-विभाग—बालकों की शिक्षा का समयविभाग-चक्र उपर्युक्त सभी बातो पर ध्यान रखकर बनाना चाहिये। जब बालक थका न हो तब कठिन विषय पढ़ाये जावें। गणित, भाषा आदि विषय समय-विभाग-चक्र के अंत के घंटे मे न रक्खे जायँ। दो कठिन विषय—जैसे गणित और व्याकरण—एक के बाद एक न पढ़ाये जायँ। एक कठिन विषय के बाद एक सरल विषय रखना उचित है। बालकों से लगातार मस्तिष्क का काम न कराया जाय। मस्तिष्क और हाथ का काम एक के बाद एक

होना चाहिये। बालको की अवस्था के अनुसार उनकी पढ़ाई क घंटे छोटे बड़े रक्खे जायँ। प्राइमरी स्कूल के बालकों का घंटा ३० या ३५ मिनिट से अधिक लम्बा न होना चाहिये।* किसी भी कक्षा में ४५ या ५० मिनट से अधिक कोई विषय न पढ़ाया जाय। जहाँ तक हो सके, विषय को बालको के लिए रुचिकर बनाना चाहिये। खेल के सिद्धान्तो का उपयोग बालको की शिक्षा मे करना अति आवश्यक है।

---

* लिस्टर महाशय ने बालकों की अवस्था के अनुसार ध्यान की एकाग्रता की अवधि निम्नलिखित बताई है--

बालक की अवस्था	ध्यान की एकाग्रता की अवधि
६ वर्ष	१५ मिनट
७ से १० ,,	२० ,,
१० ,, १२ ,,	२५ ,,
१२ ,, १६ ,,	३० ,,

इस अवधि के बताने का तात्पर्य यही है कि यदि बालक को इतने समय से अधिक देर तक एक ही विषय पढ़ाया जायगा तो उसको थकावट आने लगेगी और उसका काम पहले जैसा अच्छा न हो सकेगा।

—हाईजीन आफ दि स्कूल, पृष्ठ २२७।

बारहवाँ प्रकरण

संवेदना

संवेदना का स्वरूप—मनोविज्ञान के अनुसार हमारे सब प्रकार के ज्ञान का आधार संवेदना है। संवेदना शरीरस्थ अनेक इन्द्रियों की उत्तेजना से पैदा होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो संवेदना का कारण अतर्वाही स्नायुओं[1] की उत्तेजना कहा जायगा। हमारे सामने जब कोई पदार्थ आता है तो हमारे मस्तिष्क की ओर जानेवाले स्नायु उत्तेजित हो जाते हैं। उनकी इस प्रकार की उत्तेजना का प्रभाव जब मस्तिष्क तक पहुँचता है तब हमें विशेष प्रकार की संवेदना होती है।

संवेदना हमारे ज्ञान की सबसे पहली और सरल अवस्था है। यह हमारे सब प्रकार के ज्ञान का आधार होते हुए भी हमें अपने शुद्ध स्वरूप में ज्ञात नहीं होती। संवेदना में ज्ञान की प्रकारता का अभाव रहता है अर्थात् संवेदना निष्प्रकारक ज्ञान का नाम है। जब हम इस तरह के ज्ञान की खोज करते हैं जो पूर्णतः निष्प्रकारक हो तो हम उसे अपने अनुभव में कहीं नहीं पाते। ज्योंही हमें किसी प्रकार की संवेदना होती है, हम उसका अर्थ तुरन्त लगा लेते हैं। संवेदना का उत्पन्न होना और उसका अर्थ लगाया जाना दोनों क्रियाएँ मानो एक ही साथ होती हैं। जिस ज्ञान में अनेक प्रकार के भेद होते हैं वह ज्ञान संवेदना नहीं वरन् प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। हमें नीला अथवा कड़वापन मात्र का ज्ञान नहीं होता, वरन् हमें "नीला कपड़ा" "नीला आकाश", "कड़वी नीम", "कड़वी दवा" इत्यादि ज्ञान होता है। प्रौढ़ व्यक्तियों का मस्तिष्क ही इस प्रकार का होता है कि कोई ज्ञान उसमें उत्पन्न होकर प्रकारता के विना नहीं रहता। वह पदार्थज्ञान बन जाता है।

---

1 Efferent nerves

बालको की संवेदना के विषय मे यह नहीं कहा जा सकता। बालक जब संसार मे आता है तो उसका ज्ञान सवेदनामात्र रहता है। उसमे किसी प्रकार के भेद नहीं होते। जैसे जैस उसका अनुभव बढ़ता जाता है, वैसे वैसे उसके ज्ञान मे अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न होते जाते है। बालक की क्रियात्मक शक्ति और ज्ञानात्मक शक्ति का विकास साथ ही साथ होता है। बालक जब हाथ-पैर चलाता या मुंह से आवाज निकालता है तो उसका ज्ञान अनेक प्रकार से विकसित होता है और प्रत्यक्ष ज्ञान मे परिणत हो जाता है।

शुद्ध सवेदना के स्वरूप को समझने के लिए दो एक उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। मान लो कहीं आग जल रही है और हम उसकी ओर जा रहे है। उस समय हमे गरमी की सवेदना होती है। हमे अभी तक यह ज्ञान नहीं कि हमारे वदन मे गर्मी क्यो मालूम हो रही है। इस प्रकार के ज्ञान को सवेदना मात्र कहा जायगा। यदि किसी पदार्थ पर हमारा हाथ पड़ गया और हमें ज्ञान हुआ कि कुछ पदार्थ हमारे हाथ से अवश्य टकराया है, पर हम नहीं जानते कि पदार्थ क्या था, पत्थर था अथवा लकड़ी, तो ज्ञान को इस अवस्था का नाम संवेदना मात्र कहा जायगा। इस तरह यदि हमारी आँख मे किसी प्रकार का प्रकाश पहुँचे पर हम यह निश्चय न कर सके कि वह नीला है या पीला या लाल, तो हम इस प्रकार के ज्ञान को भी सवेदना मात्र कहेगे।

बालको में अनेक प्रकार की संवेदनाओ के भेद के समझने की शक्ति नही रहती। अतएव उनकी और हमारी सवेदनाओ मे मौलिक भेद होता है। अनुभव के बढ़ने पर बालक मे संवेदनाओ के अनेक भेदो का ज्ञान होने लगता है। वास्तव मे मनुष्य के मस्तिष्क का विकास इसी प्रकार के भेद समझने मे है। विकसित मस्तिष्क मे संवेदनाओ के अनेक प्रकार के भेद होते है और उन भेदो से पूर्ण संवेदना नई तरह से सगठित रहती है।

संवेदना के भेद

संवेदनाएँ अनेक प्रकार की होती है। जब हम कहते है कि कड़ुआपन कसैलेपन से भिन्न है अथवा रंग-ज्ञान शब्द-ज्ञान से

भिन्न है तो हम संवेदना के एक प्रकार के भेदो को निर्दशित करते है। इसी तरह "यह आवाज़ सुरीली है" और "यह भारी है" इन वाक्यो द्वारा भी संवेदना के दूसरे प्रकार के भेदों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

संवेदना के भेद दो प्रकार के होते है—गुण-भेद[1] और शक्ति-भेद[2]। हमारी भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न प्रकार की संवेदनाएँ उत्पन्न करती है, जैसे आँख रङ्गो का ज्ञान कराती है और कान शब्द का ज्ञान कराता है। ऐसे भेद को गुण-भेद कहा जाता है। इसी तरह रङ्गो मे काला और नीला भिन्न भिन्न प्रकार की संवेदनाएँ हैं। इनके भेद भी गुण-भेद कहे जाते है। यदि किसी संवेदना से उसका गुण-भेद निकाल दिया जाय तो फिर वह संवेदना ही न रह जायगी। संवेदना का गुण-भेद उसके स्वरूप से अभिन्न है। जिस तरह हर एक संवेदना मे गुण-भेद होता है, उसी तरह उसमे शक्ति-भेद होता है। कोई सवेदना अधिक शक्तिशालिनी होती है और कोई कम। घण्टे की आवाज़ घण्टी की आवाज से शक्ति में भिन्न है, इसी तरह बन्दूक़ और पटाख़े की आवाज़ तोप की आवाज़ से शक्ति में भिन्न होती है। गुण-भेद संवेदना ग्रहण करनेवाली ज्ञानेन्द्रिय के कारण होते है, बाह्य उत्तेजना से संवेदना में शक्ति-भेद पैदा होते हैं।

कई मनोवैज्ञानिकों ने 'संवेदना का फैलाव' और 'संवेदना का जीवनकाल' इस तरह के भेद भी माने हैं। पर जब हम इस प्रकार के भेद संवेदना में करने लगते हैं तो हमारी संवेदना शुद्ध संवेदना नहीं रहती, वरन् वह पदार्थज्ञान में परिणत हो जाती है। अतएव ऐसे भेदों को गौण भेद मानना चाहिये। संवेदना के फैलाव का ज्ञान तथा उसके जीवनकाल का ज्ञान उस पदार्थ से पृथक् नहीं किया जा सकता जिससे कि संवेदना संबधित है।

संवेदना और बालमनोविकास

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारे प्रत्येक बाह्य पदार्थ के ज्ञान का आधार संवेदना है। जैसे जैसे बालक के मन का विकास

1 Difference in quality. 2. Difference in intensity.

होता जाता है, उसकी संवेदनाएँ विभिन्न प्रकार की होने लगती हैं। यही सवेदनाएँ आगे चलकर स्पष्ट पदार्थ-ज्ञान में परिणत हो जाती हैं। इस ज्ञान की वृद्धि मे बालक की क्रियात्मक वृत्तियाँ बहुत सहायक होती हैं। जो बालक जितना चचल होता है, उसका इन्द्रिय-ज्ञान और पदार्थ-ज्ञान उतना ही सुदृढ़ होता है। प्रकृति ने बालक को चंचल इसलिए बनाया है कि वह भली भाँति अपने आसपास के पदार्थों को समझ ले। उनके रूप-रंग, आकार, मिकदार आदि को जानने के लिए बालक अनेक तरह की चेष्टाएँ स्वयं करता रहता है। प्रौढ़ व्यक्तियों का कर्तव्य है कि बालक की इस प्रकार की चेष्टाओं का किसी प्रकार से दमन न करे प्रत्युत उसे सब प्रकार से सहायता दे।

तीव्र-बुद्धिवाले बालक मंद बुद्धिवाले बालको की अपेक्षा पदार्थों के आकार, मिकदार, रूप-रंग इत्यादि को शीघ्रता से जान लेते हैं। वास्तव में मंद-बुद्धिवाले बालक को पदार्थों का इन्द्रियज्ञान भी भली भाँति नहीं होता। बेलजियम के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सिगमंड महाशय ने मंद बुद्धिवाले बालको की शिक्षा का आधार इन्द्रियज्ञान की वृद्धि ही रक्खा था। इसके द्वारा बालक की संवेदनाओ को सुसंगठित किया जाता था। इनके सुसंगठित होने पर बालक मे कल्पना और विचार करने की शक्ति विकसित होती है।

इन्द्रियज्ञान-सम्बन्धी शिक्षा

इन्द्रियज्ञान-सम्बन्धी शिक्षा की आवश्यकता—प्रकृति ने हमें अनेक इन्द्रियाँ देकर संसार के ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा दे दी है। यदि हम सब इन्द्रियों का भली भाँति उपयोग कर सकें तो हमारा संसार कितना हरा-भरा और सौन्दर्य से पूर्ण होगा। परन्तु हममें से कितने व्यक्ति हैं जो अपनी इन्द्रियो को उचित उपयोग मे ला सकते हैं? प्रकृति ने हमे इन्द्रियाँ तो दी हैं, परन्तु उनका सदुपयोग करना सहज मे ही नहीं आ जाता। हाँ, कुछ हद तक हम अवश्य ही अपनी इन्द्रियों से काम लेना सहज मे सीखते है, परन्तु यदि इन्द्रियो से काम लेने की शिक्षा भली भाँति

न दी जाय तो हममे से कोई भी व्यक्ति उनसे उतना लाभ न उठा सकेगा, जितना उठाना चाहिये।

हमारी प्राकृतिक शक्तियो की वृद्धि अभ्यास से होती है। यही बात हमारे इन्द्रियज्ञान के विषय में है। यदि किसी बालक को अपनी इन्द्रियों को भली भाँति उपयोग में लाने की शिक्षा दी जाय और उससे इन्द्रियों को उपयोग मे लाने का अभ्यास कराया जाय तो उसकी इन्द्रियाँ अपने आप ज्ञान प्राप्त करने में सुयोग्य बन जावेंगी। शिक्षा से इन्द्रियों की शक्ति में कितनी वृद्धि हो जाती है, यह आप किसी बाज़ार में जाकर विभिन्न वस्तुएँ बेचने-वाले व्यापारी को देखकर जान सकते हैं। आप घी की दुकान पर जाइए, घीवाला तुरन्त ही अच्छे और बुरे घी की पहचान कर लेगा। किस घी मे कितनी मिलावट है और वह घी कितना पुराना है, यह उसको सूँघते ही मालूम हो जाता है। इसी तरह आप यदि किसी सुनार की दुकान पर जायँ तो आप देखेंगे कि उसकी दृष्टि इतनी तीव्र है कि वह सोने को देखते ही यह जान लेता है कि उसमें दूसरे धातुओ का कितना अंश है। सुनार सोने को कसौटी पर कसता है और उस पर उसकी रङ्गत देखकर यह जान लेता है कि किस सोने को किस भाव खरीदा जाय। इसी तरह जौहरी जवाहर को देखते ही परख कर लेता है। यदि हम बजाज़ के पास जायँ तो देखेंगे कि उसकी उंगलियाँ इतनी अभ्यस्त हैं कि कपड़े को छूते ही यह जान लेती हैं कि कपड़ा कितने मूल्य का है। हम जिस रेशमी कपड़े के खुरदुरेपन और चिकनाई को जान नहीं पाते उसको रेशम का व्यापारी तुरन्त जान लेता है। यह सब उनकी इन्द्रियो की योग्य शिक्षा से ही तो आया।

हमे प्रतिदिन भारीपन और हल्केपन का अन्दाज़ा लगाना पड़ता है। आँख से देखकर किसी चीज़ की मिकदार जानने की आवश्यकता होती है। नाक से सूँघकर किसी चीज़ की सुगन्ध या दुर्गन्ध को पहचानना पड़ता है। अपने कमरो को सजाने के लिए रगो के सौन्दर्य्य को जानना पड़ता है। इन सब वातो के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। अगर हमारी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों के ज्ञान मे वालपन से ही सुयोग्य वनाई जायँ तो हम संसार मे

उतने धोखे मे नहीं पड़ेगे जितने इस ज्ञान के अभाव में पड़ते हैं। हम रंगो के सौन्दर्य्य और ध्वनि के भेदो को भली भाँति समझ सकेंगे। अतएव बालपन से ही इन्द्रिय-ज्ञान-संबंधी शिक्षा देना आवश्यक है।

श्रीमती मान्टसरी की शिक्षापद्धति :—इन्द्रिय-ज्ञान-संबंधी शिक्षा देने मे जिन्होने बड़ा प्रयास किया है उनमें श्रीमती मान्टसरी का नाम अग्रगण्य है। श्रीमती मान्टसरी की यह पद्धति मनो-वैज्ञानिक सिगमंड के, मंद बुद्धि के बालको को शिक्षित बनाने के, प्रयोगो से प्राप्त हुई। सिगमंड ने मद बुद्धि के बालको की शिक्षा का आधार इन्द्रिय-ज्ञान की वृद्धि को बनाया, क्योकि समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार इन्द्रिय-ज्ञान है। यदि किसी व्यक्ति का इन्द्रिय-ज्ञान भली भाँति बन जाय तो उसका प्रत्यक्ष ज्ञान भी ठीक बन जायगा। उसकी शिक्षा-पद्धति मे बड़ी और छोटी वस्तुओ को बालकों से उठवाकर और हाथ में लेकर ज्ञान कराया जाता था। इस तरह से मंद-बुद्धिवाले बालको को अच्छे ढंग से चीज़ रखना सिखाया जाता तथा रंगो का ज्ञान कराया जाता था।

इस सिद्धान्त का प्रयोग श्रीमती मान्टसरी ने बालक के इन्द्रिय-ज्ञान की वृद्धि मे किया। श्रीमती मान्टसरी की शिक्षा-प्रणाली से बालक अपने विभिन्न स्नायुओ पर अधिकार पाता है। वह अपनी भिन्न भिन्न इन्द्रियो का भली भाँति उपयोग में लाना सीखता है तथा उसको साथ ही साथ आत्म-निर्भरता का सबक भी सिखाया जाता है। ये सब बातें बालक खेल-कूद आदि में ही सीख लेता है। श्रीमती मान्टसरी ने विशेष प्रकार के शिक्षा-यन्त्रो का आविष्कार किया है, जिनके द्वारा बालक के स्पर्श एवं चक्षु-ज्ञान आदि की वृद्धि होती है। श्रीमती मान्टसरी के खेल ये हैं—लकड़ी के ब्लाक द्वारा सीढ़ी बनवाना, रङ्गो की पहचान करवाना, डिब्बो को उनके वज़न के अनुसार रखना, चीज़ो को उनकी जगह पर रखवाना इत्यादि। इन खेलो से बालक से चक्षु-ज्ञान, शब्द-ज्ञान और स्पर्श-ज्ञान की वृद्धि कराई जाती है।

एक साधारण खेल लीजिए। एक बालक की आँखो पर पट्टी बाँध दी जाती है और वर्ग के सब लड़के उसके आस-पास खड़े हो

जाते हैं। इनमें से एक लड़का उस बालक से कुछ कहता है जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी होती है। अब आँख बँधे बालक का यह काम है कि उस बालक को छुए, जिसने शब्द का उच्चारण किया है। शब्द उच्चारण करनेवाला बालक अपनी जगह पर रहता है। परन्तु दूसरे बालक अपना स्थान बदल देते हैं। जब तक बँधी आँखों वाला बालक ठीक बालक को नहीं छूता तब तक उसे मैदान भर में घूमते ही रहना पड़ता है। इस प्रकार लड़के खूब हँसते खेलते रहते हैं, तथा उनको कान से दूरी समझने की शिक्षा भी सरलता से मिल जाती है।

बालक के सामने बहुत से फीतों का एक डिब्बा रख दिया जाता है। वह उन फीतो को उनके रंग के अनुसार जमाता है। रंगों मे थोड़ा थोड़ा भेद होता है। जब वह ठीक जमा लेता है तब पाठिका को दिखाता है और पाठिका उसे बताती है कि तुम अपने काम में सफल हुए या नहीं। इस तरह आँखों द्वारा रंगो को पहचानने की उसकी शक्ति बढ़ती है। बालक को कई प्रकार के सैंड पेपर दिये जाते है। वह उनको उँगली से छूता है और उनकी खुरदुराहट से परिचित होकर उन्हें तरतीब से लगाता है। इस तरह उसके स्पर्श-ज्ञान की वृद्धि होती है। कुछ डब्बे मे भिन्न भिन्न आकार के छर्रे भरे रहते है। उन डब्बो को कान के पास ले जाकर बालक बजाते है और आवाज़ से यह पहचानने की चेष्टा करते हैं कि किस डब्बे में बड़े बड़े छर्रे हैं और किस में छोटे। फिर वह उन्हें क्रम से एक जगह लगाता है। डिब्बों के नीचे अंक पड़े रहते हैं अतएव बालक स्वयं देख सकता है कि वह अपने काम मे सफल हुआ अथवा नहीं।

श्रीमती मान्टसरी ने इस प्रकार के कई खेलो का आविष्कार किया है, जिनसे बालक के इन्द्रिय-ज्ञान की वृद्धि होती है और उसे आत्म-निर्भरता प्राप्त होती है। हम श्रीमती मान्टसरी के द्वारा आविष्कृत शिक्षा-यन्त्रों से ही अपनी शिक्षा-पद्धति को सीमित न कर ले, प्रत्युत हमें उनके सिद्धान्तों को अवश्य मानना चाहिये। श्रीमती मान्टसरी के सिद्धान्तों को ग्रहण करते हुए हम भारत के वाता-

वरण के उपयुक्त ऐसे अनेक यन्त्रो का आविष्कार कर सकते हैं जिनसे बालक का इन्द्रिय-ज्ञान बढ़े।

बालक के इन्द्रिय-ज्ञान की शिक्षा मे श्रीमती मान्टसरी की पद्धति की उपयोगिता बताते समय यह कह देना आवश्यक है कि उक्त पद्धति मे कई प्रकार की अत्युक्तियाँ है। बालको को एक एक इन्द्रिय-ज्ञान की अलग अलग शिक्षा देना उचित नहीं कहा जा सकता। यदि शिक्षा का उद्देश्य बालक को साधारण जीवन मे योग्य बनाना है तो उसकी शिक्षा भी उसी प्रकार से हो जिससे वह साधारण जीवन के व्यवहारो मे अभ्यस्त हो जाय। साधारण जीवन मे कोई भी इन्द्रिय-ज्ञान दूसरे प्रकार के इन्द्रिय-ज्ञान से पृथक् नही पाया जाता अतएव जो बालक इस नवीन शिक्षा प्रणाली मे अभ्यस्त हो जायँगे उनके साधारण जीवन मे अधिक योग्य बनने मे हमे सदेह है। हम विलियम स्टर्न के इस कथन से सहमत है कि बालक को एक संकीर्ण वातावरण मे न डालकर उसके शिक्षालय के आसपास की फूल-पत्तियो तथा अनेक प्रकार की वस्तुओ के रंग, आकार आदि दिखाकर यदि उसके इन्द्रिय-ज्ञान को परिपक्व किया जाय तो अधिक लाभ होगा। हमे श्रीमती माटसरी के उत्साह को लेना चाहिये; उनके विशेष आविष्कारो के विषय मे अभी तक कहा नहीं जा सकता कि वे बालको के लिए कहाँ तक उपयोगी हैं।

बालकों की इन्द्रियों के दोष और उनके उपचार

वाह्य जगत् का ज्ञान हमे इन्द्रियो के द्वारा ही होता है। यदि बालक की इन्द्रियो मे कोई दोष होगा तो उनका वाह्य जगत् का ज्ञान या तो दूषित हो जायगा या अधूरा रह जायगा। इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति प्रकृतिदत्त होती है, इसमे हम कोई परिवर्तन नही कर सकते। पर हम बालक को सावधानी से काम लेकर इन्द्रियों की क्षति से बचा सकते है। हमारे अज्ञान और असावधानी के कारण बालको को कितनी हानि होती है, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। यहाँ पर कुछ ऐसी बातो का

कहना आवश्यक है जिनके कारण बालक को स्थायी मानसिक क्षति पहुँचती है।

आँख के दोष—संसार के प्रायः सभी ज्ञान हमें आँख और कान के द्वारा प्राप्त होते है। जैसे जैसे शिक्षा का प्रसार होता है, आँख का महत्त्व बढ़ता जाता है। आँख के बिना संसार में जीवन व्यर्थ है। आँख जीवन की बहुत मौलिक वस्तु है, किन्तु उस पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। कितने ही बालकों की आँखे माता-पिता की असावधानी के कारण बिगड़ जाती हैं। जब किसी बालक की आँखें एक बार बिगड़ जाती हैं तो उनमें सुधार होना कठिन होता है। पढ़ने-लिखनेवाले बालकों की आँखे ग्रामीण अशिक्षित बालको की अपेक्षा अधिक बिगड़ती हैं। इसका प्रधान कारण शिक्षित बालकों का आँखो का दुरुपयोग ही है। डाक्टर कोहन की जाँच से पता चला है कि इंग्लैड के देहाती बालकों में एक प्रतिशत की आँखें कमज़ोर रहती है, तथा शहर के एलीमेन्टरी स्कूलो मे कमज़ोर आँखोवाले बालकों की संख्या छः प्रतिशत तथा हाई स्कूल के बालको की बीस प्रतिशत रहती है*।

जिन बालको की आँखें बिगड़ जाती हैं उनकी बुद्धि वैसी विकसित नहीं हो पाती जैसी कि दूसरे बालकों की होती है। बिगड़ी आँखो के बालक को पुस्तक आँखो के पास रखनी पड़ती है, इससे

---

* डाक्टर सिग्गेल ने १६०० सिपाहियो की आँखे जाँचीं। उनमे आँखों की कमज़ोरी निम्नलिखित सख्या में पुराने जीवन के अनुसार पाई गई।

पुराना जीवन	आँखो की कमजोरी प्रतिशत
ग्रामीण तथा ग्रामीण पाठशाला मे शिक्षित	२
शहर-निवासी मज़दूर	४
कारीगर	६
सौदागर, क्लर्क, कम्पोज़िटर	४४
विश्वविद्यालय के छात्र	५८ से ६५ तक

अर्थात् कमज़ोर आँखोंवाले लोगों मे प्रतिशत सबसे अधिक शिक्षित वर्ग के लोग होते हैं।

पढ़ते समय वह किसी पंक्ति का थोड़ा ही भाग एक साथ देख पाता है। जो बालक पूरी पंक्ति को एक साथ नही देख पाता उसे लिखित विषय का अर्थ ग्रहण करने मे कठिनाई पड़ती है। उसे बार बार दृष्टि को आगे-पीछे ले जाना पड़ता है। इस तरह बालक की पुस्तक पढ़ने की आदत ही बिगड़ जाती है। परिणामस्वरूप ऐसा बालक मन्दबुद्धि सा दिखाई पड़ता है।

आँख की कमज़ोरी के कारण—आँख की कमज़ोरी के चार प्रधान कारण है—पैतृक दोष, पौष्टिक भोजन की कमी, रोग और आँख का अधिक परिश्रम।

कितने ही बालको की आँखो की कमज़ोरी पैतृक होती है। किन्तु यहाँ इस बात को ध्यान मे रखना आवश्यक है कि माता-पिता से प्राप्त आँखो की कमज़ोरी बालक के स्कूल मे जाने से बढ़ जाती है। कितने ही बालक ऐसे मिलेंगे कि यदि वे स्कूल न जायँ तो उन्हे पैतृक आँखो की कमजोरी होते हुए भी चश्मा लगाने की आवश्यकता न पड़े। देखा गया है कि कमजोर आँखवाले बालको मे पचास प्रतिशत ऐसे हैं जिनके माता-पिता की आँखें कमज़ोर नही है।

जिन बालको को उचित भोजन नहीं मिलता उनकी आँखें कमज़ोर हो जाती है। जिस प्रकार भोजन की कमी के कारण सारा शरीर निर्बल हो जाता है उसी प्रकार आँखें भी भोजन की कमी के कारण निर्बल हो जाती है। ऐसे बालकों मे दूर की वस्तु देखने की शक्ति न रहना स्वाभाविक है। भारतवर्ष मे ऐसे ही बालको की अधिकता है जो पौष्टिक भोजन की कमी और पढ़ाई-लिखाई मे अधिक परिश्रम करने के कारण अपनी आँखो की ज्योति खो देते हैं। जाँच करने से पता चला है कि अस्वस्थ बालको की अपेक्षा स्वस्थ बालको मे आँख की कमज़ोरी कम रहती है तथा पौष्टिक भोजन की कमी के साथ साथ आँखो की कमजोरी भी पाई जाती है।

रोगो के कारण भी बालको की आँखें बिगड जाती है। जब बालक किसी कारण बीमार हो जाता है तो उसके शरीर के साथ साथ उसकी आँखें भी कमज़ोर हो जाती है। फिर जब वह

स्कूल मे आता है और एकाएक आँखों से अधिक परिश्रम करने लगता है तो उसकी आँखें बिगड़ जाती हैं। बीमारी से कमज़ोर हुए बालकों से अधिक परिश्रम कराना उनपर अन्याय करना है।

छोटी अवस्था के बालको से आँखों का परिश्रम अधिक कराना आँखों को बिगाड़ देना है। पुस्तक को आँख के नज़दीक करके पढ़ने से भी आँखें बिगड़ जाती हैं। इस प्रकार की क्षति छोटी ही अवस्था में होती है। शरीर-रचना-शास्त्रियो का कथन है कि यदि किसी बालक की आँखे २१ वर्ष की अवस्था तक ठीक बनी रहीं तो उनमें पीछे दोष आना उतना सरल नहीं है। जब बालक के स्नायु नरम रहते है तभी दोष सरलता से आ जाते है।

आँखों की क्षति से बचने के उपाय—बालको की आँखो को स्वस्थ रखने का सबसे प्रथम उपाय यही है कि उनसे अधिक परिश्रम न कराया जाय। छोटे बालकों से लिखाई-पढ़ाई का काम अधिक न कराना चाहिये। उनकी शिक्षा आँख की अपेक्षा कान के द्वारा अधिक हो। छोटे बालकों को पहले पहल बातचीत द्वारा अपने वातावरण से परिचित कराना चाहिये तथा कथा-कहानियों द्वारा उन्हें अनेक प्रकार के लोगो, एवं पशु-पक्षियों के स्वभाव बताना चाहिये। बातचीत के द्वारा बालकों की वाक्शक्ति बढ़ानी चाहिये। छोटे बालकों से जितना ही कम आँख का काम लिया जाय उतना ही अच्छा है।

बालकों की पुस्तकें मोटे मोटे अक्षरो मे छपी होनी चाहिये। छोटे अक्षरों में छपी पुस्तकें बालकों को कदापि न देनी चाहिये। पढ़ते समय देखना चाहिये कि बालक पुस्तक को आँख के बहुत पास न ले जाय। पुस्तक आँख से १२ इंच की दूरी पर रहे।

बालकों के लिखने मे भी इसी बात का ध्यान देना चाहिये। एक तो बालकों से अधिक लिखाना ही बुरा है, दूसरे जो कुछ लिखाया जाय वह बड़े बड़े अक्षरो में। छोटे बालको से काग़ज पर लिखाने की अपेक्षा स्लेट पर लिखाना अच्छा है। शिशु-वर्ग के बालको से खरियामिट्टी से लकड़ी की तख़्ती पर लिखाना अत्युत्तम है।

यदि किसी बालक मे आँखो का दोष दिखाई पड़े तो उसका उपचार शीघ्र ही करना चाहिये। ऐसा न करने से उसकी आँखो का दोष बढ़ता ही जाता है। कितने ही बालक ऐसे होते है जिनकी आँखो में दोष रहते हुए भी वर्षों तक उन्हे अथवा अभिभावको को उसका पता ही नहीं रहता। इस कारण बालक की आँखो की क्षति ही नहीं होती वरन् उसको अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियाँ भी होती है। शिर-दर्द, क़ब्ज (कोष्ठबद्धता), चिड़चिड़ापन, उत्साहहीनता आदि दोष आँखो की कमज़ोरी के कारण आ जाते है। अतएव अभिभावक और शिक्षकगण जब कभी बालको को पढ़ते समय आँखो पर जोर लगाते देखे तो उनकी आँखें डाक्टर से जँचवा ले और बालक को चश्मा दे दे।

कान के दोष—बालकों मे आँख की क्षति की अपेक्षा कान की क्षति कम होती है। कान के दोष प्राय: जन्मजात और बीमारी के कारण ही होते है। पर इन दोषो को प्रारम्भ मे ही जान लेना उचित है। कितने ही बालक कान के दोष के कारण स्कूल की शिक्षा से उतना लाभ नही उठा पाते जितना स्वस्थ बालक उठाते है। स्टैनले हाल की जाँच से पता चला है कि प्राय: ४ प्रतिशत स्कूल के बालको मे कान के दोष होते है। यदि ऐसे बालको का पता पहले से ही लगा लिया जाय तो उनकी शिक्षा-पद्धति मे कुछ परिवर्तन करके शिक्षा से अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है। कम सुननेवाले बालको को आगे की बेंच पर बैठाया जा सकता है तथा उनके लाभ के लिए पढ़ाई की अपेक्षा लिखाई का काम अधिक लिया जा सकता है। यदि ऐसे बालकों के लाभ के लिए शिक्षकगण तख़्ते पर पढ़ाने के विषय की मुख्य बाते लिख दें तो उनका बहुत बड़ा लाभ हो।

तेरहवाँ प्रकरण

बालकों का प्रत्यक्ष-ज्ञान[1]

प्रत्यक्ष-ज्ञान का स्वरूप

पिछले प्रकरण में हमने इन्द्रियज्ञान के स्वरूप और उसकी शिक्षा के विषय में विचार किया था। अब इन्द्रियज्ञान पर आधारित प्रत्यक्षज्ञान पर विचार करना आवश्यक है। इन्द्रियज्ञान निर्विकल्पक होता है, हमारा प्रथम सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। अतएव इस दृष्टि से हमारे समस्त विकसित ज्ञान का आधार प्रत्यक्षज्ञान ही कहा जा सकता है। प्रत्यक्षज्ञान की अभिवृद्धि होने पर ही स्मृति[2], कल्पना[3] तथा विचार का आविर्भाव होता है। पीछे बताया जा चुका है कि प्रौढ़ अवस्था में प्रकारता-रहित इन्द्रिय-ज्ञान होना सम्भव नहीं। हमें जो कुछ भी इन्द्रिय-ज्ञान होता है उसके साथ दूसरे इन्द्रिय-ज्ञानों का सम्मिश्रण रहता है अर्थात् हमारा ज्ञान वस्तु-ज्ञान होता है। वस्तुज्ञान का आधार इन्द्रिय-ज्ञान अवश्य है, किन्तु उसमें अनेक इन्द्रियों का कार्य रहता है तथा स्मृति और कल्पना भी अपना कार्य करती है। प्रौढ़ लोगों के ज्ञान में कल्पना और स्मृति का जितना सम्मिश्रण रहता है, उतना सम्मिश्रण बालक के वस्तु-ज्ञान मे नहीं होता। हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान हमारे अनुभव के ऊपर निर्भर रहता है।

बालक में प्रत्यक्ष-ज्ञान की वृद्धि—नवजात शिशु का ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता वरन् संवेदना मात्र रहता है। बालक के मन में अनेक प्रकार की सवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं; बालक का मन उन संवेदनाओं को धीरे-धीरे वस्तु-ज्ञान मे परिणत करता है। जब बालक पहले-पहल एक घण्टी देखता है तो वह उसे एक

---

1. Perception. 2 Memory 3 Imagination

चमकता हुआ पदार्थ दिखाई पड़ता है। वह यह नहीं जानता कि यह चमकता हुआ पदार्थ है क्या। बालक उसके पास आने की चेष्टा करता है और उसे छूता है तथा उसे उठाने की चेष्टा करता है। बालक को घण्टी वज़न मे भारी मालूम पड़ती है। इस प्रकार वह अपनी दो इन्द्रियो से घंटी का ज्ञान प्राप्त करता है। आँखो से उसने घंटी के चमकते हुए आकार को जाना, हाथ से उसके आकार और वजन को मालूम किया। अब ये दोनो इन्द्रियज्ञान मिलकर वस्तुज्ञान मे परिणत हो जाते है। पहले दिन के अनुभव से उसे इतना ही पदार्थज्ञान हुआ।

दूसरे दिन बालक फिर उसी पदार्थ को देखता है। अब वह उसमे से ध्वनि निकलते सुनता है। इस ध्वनि-ज्ञान से बालक का घण्टी का ज्ञान और भी बढ़ जाता है। उसके पुराने स्पर्श-ज्ञान और चक्षु-ज्ञान का सबध इस शब्द-ज्ञान से भी सम्बंधित हो जाता है। कुछ दिनो पश्चात् बालक यह भी जानने लगता है कि उस घंटी का प्रयोजन क्या है, वह कब बजाई जाती है। इस प्रकार उसके प्रत्यक्ष-ज्ञान की वृद्धि होती है। जब पीछे बालक इस घटी को देखता है तो उसके मन मे एकाएक समस्त पुराने ज्ञान की स्मृति आ जाती है। उस घटी को देखने से ही उसकी सब प्रकार की योग्यता का ज्ञान उसे हो जाता है। अर्थात् उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान उसके तत्कालीन इन्द्रिय-ज्ञान पर ही निर्भर नहीं रहता वरन् उसकी स्मृति भी उसे सहायता देती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि किसी भी प्रत्यक्ष-ज्ञान में इन्द्रिय-ज्ञान मात्र ही कारण नही होता। इन्द्रिय-ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान का एक आधार मात्र है। हमारा साधारण प्रत्यक्ष-ज्ञान हमारे इन्द्रिय-ज्ञान के अर्थ लगाने की शक्ति पर ही निर्भर रहता है। जिस व्यक्ति मे अर्थ लगाने की जितनी शक्ति होती है, उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान उतना ही स्पष्ट और अधिक होता है। अर्थात् जिसका अनुभव जितना अधिक होता है, वह उतनी ही जल्दी इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित पदार्थ को जान लेता है। प्रत्येक प्रत्यक्ष-ज्ञान मे तीन चौथाई हिस्सा अनुमान का रहता है और यह अनुमान हमारे पुराने अनुभव पर निर्भर रहता है। बालक का अनुभव परिमित होता है, अतएव उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान भी अधूरा होता है।

बालकों के प्रत्यक्ष ज्ञान की विशेषताएँ

बालकों का प्रत्यक्ष-ज्ञान कई प्रकार से प्रौढ़ व्यक्तियो से भिन्न होता है। इसका एक कारण है उनमें ध्यान की एकाग्र की कमी। जिस व्यक्ति में जितनी अधिक ध्यान की एकाग्रता होती है वह उतना ही अधिक इन्द्रिय-ज्ञान का अर्थ लगा सकता है। बालक जैसे जैसे आयु में बढ़ता है वैसे वैसे उसकी ध्यान को एकाग्र करने की शक्ति बढ़ती जाती है। ध्यान की एकाग्रता भी पुराने अनुभव पर निर्भर रहती है। हम जिस वस्तु का अर्थ नहीं समझ पाते उस पर अपना ध्यान एकाग्र नहीं कर सकते; अर्थात् जैसे जैसे बालक का अनुभव बढ़ता है, उसके ध्यान की एकाग्रता बढ़ती है और ध्यान की एकाग्रता बढ़ने पर उसके प्रत्यक्ष ज्ञान की शक्ति बढ़ती है।

हम कितने पदार्थों को एक साथ देख सकते हैं, कितनी जल्दी देख सकते है और कितनी ठीक तरह से देख सकते है, इसमे भी व्यक्तिगत भेद होता है। इसमें कोई सदेह नहीं कि प्रौढ़ अवस्था-वालो की अपेक्षा बालक कम पदार्थों को एक साथ देख सकता है। उसको देखने में देरी लगती है तथा अनेक वार भ्रम भी हो जाता है। बालक जितनी भूलें करते है उतनी प्रौढ़ावस्था के लोग नहीं करते। प्रौढ़ावस्था के लोग दूसरे के विचारो से प्रभा-वित भी जल्दी नहीं होते; परन्तु बालक वातावरण तथा दूसरे के विचारो से अत्यधिक प्रभावित होते है। अतएव जब उनके मन मे किसी विशेष प्रकार के विचार चलते रहते हैं तो वे कुछ का कुछ देख लेते है। इसलिए हम बालकों के प्रत्यक्ष ज्ञान पर कभी भरोसा नहीं कर सकते। हमें बालको को प्रत्यक्ष ज्ञान की विशेष प्रकार से शिक्षा देनी आवश्यक होती है। बालक की कितनी ही देखी हुई चीजें अनदेखी ही रह जाती है। माता-पिता तथा शिक्षको का कर्त्तव्य है कि बालक को भली भाँति वस्तुएँ दिखावे। बालक से उनके विषय में अनेक प्रकार के प्रश्न पूछना चाहिये। इस तरह बालक उन पदार्थों का भले प्रकार से निरीक्षण करेगा और उसकी दृष्टि पदार्थों की उन विशेषताओं पर जायगी जिन्हे वह अन्यथा नही देखता।

कितने वालक यह जानते हैं कि चींटे के कितने पैर होते हैं? पका आम हरा भी होता है और कच्चा आम पीला भी हो सकता है, इस वात की ओर बालक का ध्यान आकर्षित करना ज़रूरी है। इस तरह विविध साधारण ज्ञान के वारे में जो अनभिज्ञता वालक मे रह जाती है वह प्रौढ़ावस्था तक बनी रहती है। वास्तव मे हमें बालक मे प्रत्येक पदार्थ को भली भाँति देखने की योग्यता उत्पन्न करनी चाहिये। फ़्री हैंड ड्राइंग करते समय देखा गया है कि न केवल किशोरावस्था के बालक वरन् प्रौढ़ व्यक्ति भी किसी पेड़ की पत्ती का वास्तविक स्वरूप याद नही रख पाते। इसी तरह वे वत्तख के पैर को वनावट, कुत्ते के मुँह इत्यादि को स्मरण-शक्ति की सहायता से चित्रित नहीं कर पाते। इसका एक मुख्य कारण यह है कि उन्हे वे भली भाँति देखते ही नहीं। वत्तख के पैर कैसे होते है और टिटिहिरी तथा मोर के कैसे? उनके नाखून कहाँ होते है और वाल कहाँ? इन सब बातो की ओर ध्यान आकर्षित किये विना वालक उन्हे नहीं जानता। बालक को हम शहर मे घुमाने ले जाते है, परन्तु शहर में जाकर वालक शहर के भड़कीले पदार्थों के सिवा किसी विशेष वस्तु को देखकर नहीं आता।

वालक अपने सामने की वस्तु को तव देखे जव उसके सम्बन्ध में उसका ध्यान आकर्षित कराया जाय जिससे बालक उसे भली भाँति देखे। इतना ही नहीं, माता-पिता को चाहिये कि वालक के किसी देखे हुए पदार्थ के बारे मे प्रश्न करें। प्रश्न का उत्तर देते समय बालक अपनी स्मृति से अवश्य काम लेगा परन्तु जब उसे ज्ञात होगा कि पुरानी देखी हुई वस्तु मुझे याद नहीं तब वह दूसरी वार किसी नई वस्तु को भली भाँति सतर्क रहकर देखेगा।

वालक और प्रौढ़ावस्था के व्यक्ति के स्पर्श-ज्ञान मे यह भेद होता है कि किसी भी वस्तु को पहचानने में प्रौढ़ावस्थावाले को थोड़े इशारे की ज़रूरत होती है; किन्तु वालक को अधिक इन्द्रिय-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। जब कोई बालक पहले-पहल किताब देखता है तो एक एक अक्षर मिलाकर किताब पढ़ता है किन्तु हम लोग किताब पढ़ते समय एक एक अक्षर की ओर अपना ध्यान

नहीं देते। हम जिस विषय को पढ़ते रहते हैं उसको विचार-धारा को समझने की चेष्टा करते हैं और शब्दों की ओर उतना ही ध्यान देते है जितना वे अर्थ समझने में सहायक होते है अतएव हम शब्दो के हिज्जे (वर्ण-विन्यास) की ओर ध्यान नहीं देते। अभ्यास द्वारा हम जल्दी जल्दी पढ़ते जाते हैं। हमारा पढ़ना अधिकतर शुद्ध भी होता है, किन्तु कभी कभी हम पढ़ने में ऐसी गलती कर जाते हैं जो एक छोटा बालक नहीं करेगा। बालक के पढ़ते समय हमे इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि वह अर्थ के सहारे शब्दो को नहीं पढ़ता किन्तु अक्षरो के सहारे पढ़ता है, अतएव जल्दी जल्दी नहीं पढ़ सकता है। जब हम उससे पढ़ने मे जल्दी कराते हैं तब वह पढ़ी हुई बात को समझ नहीं पाता। अधिकतर बालक अक्षरो को पहचानकर शब्दों को जानता है और शब्दो को जानने के बाद अर्थ को समझता है। हमारे पढ़ने मे इसका उल्टा होता है। हम पहले अर्थ को जानते हैं और उस अर्थ को भली भांति समझने के लिए शब्द को पढ़ते है। ऐसा होने से हमारा पढ़ना सुगम और सार्थक हो जाता है। बालक का पढ़ना उतना सुगम और सार्थक नहीं होता। अतएव शिक्षकों को चाहिये कि किसी भी पुस्तक को बालकों को पढ़ाने के पहले उसके विषय की चर्चा कर दें; उन्हें पाठ के विषय पर प्रश्नोत्तर भी करना चाहिये। ऐसा करने से बालक का मन स्वयं ही पढ़ने के लिए तैयार हो जायगा। फिर वह अर्थ की सहायता से शब्दों को अच्छी तरह पढ़ सकेगा।

है। किन्तु बालक मे यह शक्ति नहीं होती। अतएव बालक के समक्ष जो कुछ लिखा जाय वह स्पष्ट होना चाहिये। शिक्षकों को जल्दबाजी मे श्यामपट पर किसी अक्षर का विकृत रूप न लिखना चाहिये।

बालक के प्रत्यक्ष-ज्ञान के बारे में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बालक प्रौढ़ लोगो की अपेक्षा अधिक संवेगित होता है। अतएव उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान संवेगो के कारण विकृत हो जाता है; वह कुछ का कुछ देखने लगता है। यदि कोई बालक भय की अवस्था में है और उस दशा में अँधेरे मे एक खूँटी पर कोट को टँगा देखे तो वह सोचेगा कि कमरे मे कोई भूत खड़ा हुआ है। इसी तरह बालकगण अपनी कल्पना द्वारा अनेक पदार्थ देखा करते हैं और सवेगो के वश में आकर प्रत्यक्ष पदार्थ का कुछ का कुछ अर्थ लगा लेते हैं।

बालक का मन जब किसी उद्वेग से प्रभावित हो जाता है तब उससे संबंधित पदार्थ बालक के मस्तिष्क से जल्दी अलग नहीं होता। बालक देर तक इसी के विषय मे सोचता रहता है। ऐसी दशा मे वह प्रत्यक्ष पदार्थ का अनुभव नहीं करता। वह कल्पना के जगत् मे विचरण करने लगता है। उस समय जो कुछ उससे कहा जाता है उसका ज्ञान उसे नही रहता। बालक जब एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाते है तब कक्षा में उनके आते ही शिक्षक पढ़ाने न लग जाय। उसे पहले कुछ ऐसा प्रसंग छेड़ना चाहिये, जिससे बालक का मन पाठ की ओर आकर्षित हो। इसके पश्चात् बालक को पाठ पढ़ाना आरम्भ करे। जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षा-वैज्ञानिक हरबार्ट ने पाठ पढ़ाने के पहले प्रस्तावना की उपयोगिता बतलाई है। बालक के ध्यान को प्रत्यक्ष स्थिति पर आकर्षित करने के लिए इसकी आवश्यकता है।

बालकों का आकार, मिकदार और दूरी का ज्ञान प्रौढ़ लोगों के ज्ञान की अपेक्षा अस्पष्ट रहता है। जैसे जैसे बालक का अनुभव बढ़ता है वैसे वैसे उसका यह ज्ञान भी बढ़ता है। इसी तरह बालक का दूरी का ज्ञान भी पहले पहल अस्पष्ट

रहता है और वह अनुभव बढ़ने पर ही बढ़ता है। हम लोग प्रायः पदार्थों के आकार, मिकदार और दूरी को आँख से देखकर ही जान लेते हैं। परन्तु वास्तव में यह आँख का ही काम नहीं है जिससे हम उन बातों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पदार्थों के आकार जानने मे दूसरी इन्द्रियों की सहायता की भी आवश्यकता होती है, किन्तु कुछ काल के बाद हम आँख से देखकर ही छोटाई और बड़ाई का ज्ञान कर लेते हैं। इसी तरह नवजात शिशु अपने हाथ-पैर चलाकर ही पदार्थ की दूरी का ज्ञान प्राप्त करता है। धीरे धीरे वह आँखों से यह जानने लगता है कि अमुक पदार्थ कितनी दूर है। यदि किसी छः महीने के बच्चे के सामने कोई रङ्गीन पदार्थ लाया जाय तो वह दूर से ही उसे पकड़ने की चेष्टा करेगा। मुट्ठी खोलेगा, बाँधेगा। उसे अभी तक दूरी और दिशा का ज्ञान नहीं हो पाया। किन्तु धीरे धीरे जब वह कोई पदार्थ इस प्रकार पकड़ने की चेष्टा करता है तो यह जान लेता है कि अपने हाथ को कितनी दूर ले जाना चाहिये।

हम रामचन्द्रजी के शिशुकाल की कथा में सुनते हैं कि वे चन्द्रमा को पकड़ना चाहते थे। प्रत्येक बालक को चन्द्रमा पकड़ने की चाह होती है। वह उसे खिलौना समझता है। उसे चन्द्रमा की दूरी का ज्ञान नहीं रहता, अतएव वह अपने पैरों को ऊँचा करके पकड़ने की चेष्टा करता है। इसी तरह बालक को बहुत दूर का पदार्थ नजदीक ही दिखाई देता है।

वास्तव में हमारी आँखें संसार को हमारे सामने एक चित्र के समान चित्रित करती हैं। जिस प्रकार हम चित्र में छोटे पदार्थ को दूर समझते है और बड़े पदार्थ को नजदीक, इसी प्रकार आँखों के पट पर चित्रित जगत् की छोटी वस्तु को हम दूर जानते हैं और बड़ी वस्तु को नजदीक। किन्तु कौन वस्तु बड़ी है और कौन छोटी तथा दूरी के कारण कौन सी छोटी दिखाई पड़ती है, इस बात के लिए उक्त पदार्थों के प्राथमिक अनुभव की आवश्यकता है। इसी तरह एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से ढक जाना भी दूरी का बोधक होता है। यदि किसी मकान के सामने एक पेड़ है तो जितने स्थान में पेड़ है उतना मकान का स्थान नहीं दिखाई

देगा। अतएव जब कभी हम एक पदार्थ को दूसरे से ढका हुआ पाते हैं तो हम ढकनेवाले पदार्थ के नज़दीक रहने की कल्पना करते हैं और ढके हुए पदार्थ की कल्पना दूर की करते है। किन्तु यहाँ पर भी अनुभव की आवश्यकता है। यदि किसी ने पहले मकान का स्वरूप ही नही जाना तो उसे यह नही जान पड़ेगा कि मकान पेड़ के द्वारा ढाँका गया है। अतएव पेड़ द्वारा ढँके रहने से उसे दूरी का ज्ञान नही होगा। बालक इसी स्थिति मे है। उसको जगत् का अनुभव तनिक भी नहीं रहता; उसको तो सभी पदार्थ एक ही समान दूरी पर दिखाई देते हैं। यदि किसी जन्म से अन्धे की आँखें एकाएक खुल जायँ तो वह भी दूरी के बारे में उसी स्थिति मे रहेगा जैसा कि नवजात शिशु। वह पदार्थों की नजदीकी और दूरी को न पहचान सकेगा। उसको सभी पदार्थ एक ही से दूर अथवा नजदीक दिखाई पड़ेंगे। जब तक उसके चक्षु-इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान और दूसरी इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान का सम्बन्ध न हो जायगा, तब तक वह चक्षु-इन्द्रिय के ज्ञान के विषय मे बालक के समान ही रहेगा। उसे दूरी के विषय मे शिक्षित होना पड़ेगा।

यह दूरी और आकार तथा मिकदार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी क्रियात्मक वृत्तियों की आवश्यकता है। इसके कारण चक्षुज्ञान का सम्बन्ध शिशु की दूसरी इन्द्रिय के ज्ञान से तो हो ही जाता है, साथ ही उसे यह भी मालूम हो जाता है कि किस पदार्थ के दूर रहने के कारण उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है। जिस पदार्थ को प्राप्त करने के लिए जितना अधिक चलना फिरना पड़ता है वह उतनी ही दूर समझा जाता है।

जिस प्रकार पदार्थ को देखकर बालक दूरी का ज्ञान नहीं कर पाता, इसी प्रकार ध्वनि से भी उसे दूरी का पता नही चलता। वास्तव मे हम अपने पुराने ज्ञान के आधार पर ही ध्वनि से यह पता चलाते है कि अमुक पदार्थ कितनी दूर है। यदि कहीं तोप का गोला छूटा हो तो हम पुराने अनुभव के आधार पर ही यह कहते है कि तोप बड़ी दूर पर छूटी होगी इसलिए हमे उसकी

आवाज़ कम सुनाई पड़ती है। किन्तु यदि हमारा पुराना अनुभव तोप की आवाज़ के विषय में कुछ भी न हो तो हम उसकी आवाज़ सुनकर दूरी का पता कदापि न चला सकेंगे। इसी तरह घण्टे की आवाज़, कुत्ते के भूँकने की आवाज़ या मनुष्य की चिल्लाहट इत्यादि की दूरी हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर ही स्थिर करते हैं। बालक को इस प्रकार का अनुभव तनिक भी नहीं रहता, अतएव उसकी कर्णेन्द्रिय उसे दूरी जानने में अधिक सहायता नहीं देती। परन्तु अनुभव की वृद्धि होने पर बालक को कर्णेन्द्रिय के द्वारा दूरी का ज्ञान प्राप्त कर लेने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

भ्रम

प्रत्यक्ष-ज्ञान के प्राप्त करने में सभी को भ्रम होता है, इसी प्रकार बालक को भी होता है। भ्रम की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है; एक तो हमारी इन्द्रियों की निर्बलता के कारण और दूसरे अयथार्थ अर्थ लगाने के कारण। हमारी इन्द्रियाँ हमें किस प्रकार धोखा देती है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सिनेमा-फिल्में है। सिनेमा-फिल्मों में वास्तव में हमें बहुत सी तसवीरें ही एक के बाद एक दिखलाई जाती है, परन्तु हम उन तसवीरों को तसवीर के रूप में नहीं देखते, किन्तु चलते-फिरते आदमियों के रूप में देखते है। यहाँ हम अपनी चक्षु-इन्द्रिय की दुर्बलता पाते हैं, उसमें यह शक्ति नहीं कि वास्तविकता और तसवीर में भेद कर सके। इसी तरह कभी कभी जब कोई चिल्लाहट हमारे सामने से आ रही हो तो हम भ्रम में पड़ जाते हैं। हम सोचने लगते हैं कि आवाज कहीं पीछे से न आ रही हो।

वास्तव में हम जिन पदार्थों को देखते हैं उनकी जैसी प्रतिमा हमारी आँख की रेटिना पर पड़ती है, उसी तरह का हम उन पदार्थों को नहीं जानते। जिस पदार्थ को हम चौकोन देखते हैं वास्तव में उस पदार्थ का आँख के ऊपर जो प्रतिबिम्ब होता है वह चौकोन नहीं होता। हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर ही चौकोन पदार्थ को चौकोन कहते हैं। इसी तरह हमारे सामने जब कोई मनुष्य खड़ा होता है तो हम उसका आकार बहुत

देखते है, जब वह दूर जाता है तब भी उसका आकार पहले जैसा ही देखते रहते है यद्यपि उसके आकार में परिवर्तन होता जाता है। हमारी आँख पर उसका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह छोटा होता जाता है।

हमारी आँख एक प्रकार के कैमरे के समान है। जैसे कैमरे मे दूर का पदार्थ छोटा आता है और नजदीक का बड़ा चित्रित होता है वैसे ही आँख के चित्रपट पर नजदीक का पदार्थ बड़ा चित्रित होता है और दूर का छोटा। किन्तु इस चित्र-भेद को हम ठीक तरह से नहीं जान पाते। यदि किसी बाँस के डण्डे को सीधा खड़ा किया जाय तो वह लम्बा दिखाई देता है; यदि उसे आड़ा कर दिया जाय तो छोटा दिखाई देता है। दो आदमी साथ साथ जा रहे हो तो जो व्यक्ति एक ही प्रकार का कपड़ा पहने हो वह ऊचा दिखाई देगा और जो कई प्रकार के कपडे पहने हो वह छोटा दिखाई देगा। इस तरह हमारी आँखें अनेक प्रकार से धोखा देती है, किन्तु हमे अपना पुराना अनुभव ही उस धोखे से बचाता रहता है। शिशुओं को पुराना अनुभव बहुत कम रहता है, इसलिए उन्हे भ्रम से बचने के लिए कोई उपाय ही नहीं रहता।

दूसरे प्रकार का भ्रम बुद्धि-जनित होता है। यह हमारी मानसिक स्थिति के कारण उत्पन्न होता है। यदि हम किसी विशेष विचारधारा मे पड़े हुए हैं तो हम उसके अनुकूल ही वास्तविकता का अर्थ लगाते है। हम किसी मित्र के आने की आशा कर रहे है और किसी दूसरे ही व्यक्ति ने दरवाजा खटखटा दिया तो हम कुछ समय के लिए यही सोच बैठते है कि हमारा मित्र आ गया। यदि आप किसी पुस्तक मे डाकू की कहानी पढ़ रहे हो और तुरन्त अँधेरे मे अकेले कुछ रुपये पैसे लेकर अपने स्थान से दूसरी जगह जाने का अवसर पड़े तो एक पेड़ के ठूँठ को भी आप डाकू समझ लगे। इसी तरह जिस मनुष्य का मन भूतो की बातो से भरा रहता है वह जुगुनू की चमक और पेड़ के पत्तो की खरखराहट को भी भूतो का आगमन समझ लेता है। यहाँ पर अपने मन के विचार और सवेग भ्रम

उत्पन्न करने में कारण होते हैं। भय और आशा की अवस्था में मनुष्य कुछ का कुछ देखने लगता है।*

बालकों का जीवन उद्वेग से भरा रहता है, अतएव उन्हें ऐसे अनेक भ्रम होते हैं जो हमें नहीं होते। बालकों की कल्पना-शक्ति प्रबल या सजीव होती है, इस कारण वे जिस बात की आशा करते है उसको प्रत्यक्ष जगत् में देखने लगते है। इसी तरह जिस बात से बालक डरता है उसको भी प्रत्यक्ष देखता है। इस बात को हमें बालक के झूठ के विषय में ध्यान में रखना चाहिये। बालक के जीवन में वास्तविक झूठ बहुत कम होता है। वह जिस बात को कहता है वह वास्तव में उसकी प्रत्यक्ष देखी हुई ही होती है। हाँ, यह अवश्य है कि अपने संवेगों के कारण वह अपने इन्द्रिय-ज्ञान का विकृत अर्थ लगाता है। इसी तरह जब बालक राक्षसो या भूतो की कहानी सुनता है तो उसके मन मे भय पैदा हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह अनेक पदार्थों को राक्षस या भूत के रूप में देखने लगता है। जब बालक को बार बार भेड़िये, हौवे और मगर की कहानी सुनाई जाती है तो वह अपनी कल्पना के द्वारा तथा भय से उद्विग्न होकर उनको वास्तविक जगत् में चलते फिरते देखने लगता है। इस प्रकार के भ्रमों का कारण बालक का उद्वेजित मन हो है।

---

*एक बार गत महायुद्ध के समय ब्रिटेन के लोग बड़े सकट में पड गये थे। वहाँ के नर-नारी इस भय से त्रस्त हो गये थे कि उनके देश पर जर्मन लोग आक्रमण करेंगे। वे दूसरे देशवालो से सहायता पाने के लिए बहुत उद्विग्न हो उठे थे। इसी समय यह चर्चा चल रही थी कि रूस के सिपाही उनकी मदद के लिए ब्रिटेन मे आवेगे। कुछ लोगो ने एक समय रूस के सिपाहियो को आते देखा। उनके आने की अफवाह इतनी फैली कि हज़ारो लोग यह कहने लगे कि रूस के लोग इँगलैंड मे आ गये हैं। वास्तव में परिस्थिति ऐसी थी कि रूस के लोग इँगलैंड में जा ही नहीं सकते थे, और रूस के सिपाहियो का पहुँचना इँगलैंडवालों का भ्रम मात्र था।

ऐसा भ्रम प्रौढ़ावस्था के लोगों को भी हो सकता है, वे उसका निवारण अपने पुराने ज्ञान से कर लेते हैं। परन्तु बालक को इस प्रकार का पुराना ज्ञान नहीं रहता। वह प्रत्येक असम्भव बात को सम्भव रूप में देख सकता है। उसकी कल्पना के लिए यह असम्भव नहीं कि देवता विमान में बैठकर ऊपर से नीचे उतर आये अथवा देवी पत्थर की मूर्ति से एकाएक स्त्री के रूप में परिणत हो गई। जब बालक को इस प्रकार की कथा सुनाई जाती है तो उसका भ्रम बढ़ जाता है। बालक के ज्ञान की अभिवृद्धि से ही इस प्रकार के भ्रम का निवारण होता है।

निरीक्षण

निरीक्षण का स्वरूप—किसी प्रत्यक्ष पदार्थ को भली भाँति देखना, उसकी उपयोगिता समझना तथा अपने अन्य पदार्थों के ज्ञान से उसको सम्बद्ध करना निरीक्षण कहलाता है। निरीक्षण का आधार ज्ञान-प्रत्यक्ष अवश्य है किन्तु प्रत्यक्ष-ज्ञान के अतिरिक्त निरीक्षण की अवस्था में हम अपनी स्मृति, कल्पना और तर्क शक्ति से भी काम लेते हैं। निरीक्षण करने में हम जितने क्रियमाण होते हैं उतने सक्रिय हम प्रत्यक्ष-ज्ञान के प्राप्त करने में नहीं होते। निरीक्षण की क्रिया में ध्यान की एकाग्रता और बुद्धि की अर्थ लगाने की शक्ति की परिपक्वता प्रत्यक्षीकरण से अधिक पाई जाती है। जैसे जैसे मनुष्य का सांसारिक ज्ञान बढ़ता है, उसकी विवेचना-शक्ति बढ़ती है तथा जैसे जैसे उसकी रुचियों की वृद्धि होती है वैसे वैसे उसकी निरीक्षण करने की शक्ति का विकास होता है। ध्यान की एकाग्रता रुचि की प्रबलता पर निर्भर रहती है और रुचि की प्रबलता ज्ञान की वृद्धि पर अवलम्बित रहती है। बालक का ज्ञान परिमित रहता है, उसकी रुचियों में किसी प्रकार का विकास नहीं हो पाता, वह देर तक अपने ध्यान को एक जगह पर नहीं लगा पाता। इसलिए स्वभावतः उसकी निरीक्षण करने की शक्ति प्रौढ़ लोगों की तुलना में बहुत कम रहती है।

निरीक्षण की शिक्षा—पाठकगण जब बालकों को किसी नये स्थान में ले जावें, अथवा कलाभवन या अजायबघर दिखावें तो उन्हें उपर्युक्त कथन ध्यान में रखना चाहिये। बालक अपने आप कला-भवन या अजायबघर में रक्खी हुई वस्तुओं की खूबी को नहीं समझ सकता। सम्भव है, वह उक्त स्थानों पर रक्खे हुए अनेक विचित्र पदार्थों को देखे ही नहीं। बालक उन्हीं पदार्थों को देख सकता है जो उसे दिखाये जाते हैं तथा जिनके विषय में उससे पहले चर्चा की जाती है और जिनके प्रति उसके मन में रुचि पैदा कर दी जाती है। कितने ही माता-पिता और शिक्षक ऐसे है जो बालकों को अनेक नये स्थानों पर तो ले जाते हैं किन्तु उन स्थानो की नई नई वस्तुओ पर बालक का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा नहीं करते। प्रौढ़ लोगो का यह सोचना कि बालक सदा प्रश्न किया करता है अतएव वह सुयोग्य निरीक्षक है, एक भूल है। वास्तव में बालक के प्रश्न ऊपरी उत्सुकता से भरे हुए रहते है; उसके मन में खोज करने की दृढ़ भावना नहीं रहती। इस प्रकार की भावना ज्ञान-वृद्धि से प्राप्त होती है। ज्ञान-वृद्धि के पश्चात् ही बालक किसी विचित्र पदार्थ की विचित्रता को समझने योग्य होता है। बालक की बुद्धि का जितना विकास होता है अथवा उसके ज्ञान की वृद्धि होती है उतनी ही उसकी निरीक्षण-शक्ति बढ़ती है।

हम बालक से काम करा कर भी उसकी निरीक्षण की शक्ति बढ़ा सकते है। किसी वस्तु का निरीक्षण उसके देखने मात्र से नहीं होता। शिशु किसी नये पदार्थ को पाता है तो उसे वह उलटता-पुलटता है, पटकता है और इस क्रिया से पदार्थ पर उसका असर जानने की चेष्टा करता है। किसी बालक को एक घड़ी दे दीजिए। वह पहले-पहल इस घड़ी को देखकर प्रसन्न होगा। उसको हाथ मे लेकर वह इधर-उधर दौड़ने लगेगा। थोड़ी देर बाद उसका ध्यान घड़ी की टिकटिक आवाज़ पर जायगा। अब बालक घड़ी की टिकटिक की आवाज़ का कारण जानने की चेष्टा करेगा, वह उसे उलटेगा-पुलटेगा और फिर संभव है, ज़मीन पर पटक दे। इस प्रकार बालक अपनी अनेक क्रियाओ से

घड़ी के चिकनेपन, वज़न, उसके चिह्नो की बनावट, आवाज़ तथा दूसरी विशेषताओ से परिचित होता है। जो बालक जितना ही किसी नये पदार्थ को हाथ मे लेता और उलटता-पलटता है वह उससे उतना ही परिचित होता है।*

उपर्युक्त सिद्धान्त को ध्यान मे रखते हुए आज-कल बालकों की निरीक्षण-शक्ति बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के पाठ पढ़ाये जाते है; और उनसे हाथ से काम कराया जाता है। प्राइमरी कक्षा के बालकों से हाथ से काम कराने का मुख्य उद्देश्य यह नहीं है कि वे रोजी कमाने के किसी धन्धे को सीख जायँ अथवा ऐसा काम करें जिससे उनकी पढ़ाई का ख़र्च निकल सके; किन्तु हाथ के काम सिखाने का उद्देश्य तो उनकी निरीक्षण-शक्ति को बढ़ाना है। बालक जितना ही हाथ से काम करता है, उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान स्पष्ट हो जाता है, उसके चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, स्मरणशक्ति परिपक्व होती है और उसके विचार का विकास होता है। जो बालक किसी प्रान्त का मानचित्र मिट्टी से बनाता है उसे उस प्रान्त की सीमा का भली भाँति परिचय हो जाता है।

---

* डभिल महाशय का कथन यहाँ उल्लेखनीय है—

"The chief object of woodwork in schools is not to prepare boys for carpentry as a trade, nor even as a means of accustoming them to use their hands in order that they may be ready for any kind of manual work in later life, though such benefits do follow and are not to be despised Woodwork, as well as other forms of handwork, such as paper-folding cardboard-modelling, clay modelling, and raffia-work is a *method* in education It involves the great psychological principle of *learning by doing*

—*Fundamentals of Psychology*, P 65.

लड़को से लकड़ी का काम कराने का मुख्य उद्देश्य उन्हे बढई बनाना नहीं है और न उन्हे किसी प्रकार का हाथ का काम करने के लिए तैयार ही करना है। ये लाभ तो होते ही है, पर इस प्रकार के सभी हाथ के कार्य कराने का उद्देश्य बालक के सीखने को स्थायी बनाना है। यह एक शिक्षा-पद्धति है। काम करने ही से बालक किसी बात को भली भाँति सीख सकता है—यह सिद्धान्त उपर्युक्त शिक्षा-पद्धति में निहित है।

न्यून बुद्धिवाले बालकों से हाथ का काम कराना उनके बुद्धि-विकास के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है। बेलजियम के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक इटार्ड ने न्यून बुद्धिवाले बालकों की शिक्षा के लिए एक नई शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया है। इस शिक्षा-पद्धति को डिक्रोली पद्धति कहते है। इस पद्धति में न्यून बुद्धि-वाले बालकों को संसार का अनेक प्रकार का ज्ञान स्थूल पदार्थों के द्वारा तथा बालकों से काम कराकर कराया जाता है। यदि बालक को यह सिखाना है कि दो सेर वजन एक सेर से दूना होता है तो उससे दोनो वज़नो को उठवाया जायगा। इसी तरह लम्बाई का ज्ञान प्रत्यक्ष नाप करा करके कराया जाता है।

निरीक्षण के प्रकार—निरीक्षण को म्युमेन ने तीन भेदो में विभाजित किया है—हेतुपूर्ण निरीक्षण,[1] अहेतुपूर्ण निरीक्षण,[2] हेतुसाधक निरीक्षण[3]।

हम यहाँ तीनो प्रकार के निरीक्षण की संक्षिप्त विवेचना करेंगे तथा बालक के जीवन मे प्रत्येक का स्थान बताने की चेष्टा करेंगे।

हेतुपूर्ण निरीक्षण—हेतुपूर्ण निरीक्षण वह है जिसका कारण विशेष जिज्ञासा होती है। जब हमे किसी विशेष प्रश्न का उत्तर जानने की उत्कण्ठा होती है तो हमारा निरीक्षण हेतुपूर्ण हो जाता है। ऐसी स्थिति मे हमारे चित्त की एकाग्रता बढ़ जाती है और हम जो कुछ देखते-सुनते है उसका स्मरण ठीक ठीक रहता है। मान लीजिए, हम किसी कला-भवन मे इसलिए जाते है कि राज-पूत-कला और मुगल-कला के भेदो को जानें, तो हमारा कला-भवन के चित्रो का निरीक्षण हेतुपूर्ण कहा जायगा। ऐसी स्थिति मे हम दोनो प्रकार की कलाओ की उन विशेषताओ को देखेंगे जो हम अन्यथा न देख पाते। हमे विशेषताएँ याद भी रहेंगी। जब हम बालक को किसी नये स्थान के बारे में बातचीत द्वारा परिचित करा देते है और फिर उसे उस स्थान पर ले जाते है तो उसका निरीक्षण हेतुपूर्ण हो जाता है। उसके

---

1 Purposeful observation 2 Non-purposive observation
3. Purposive observation.

मन मे अनेक प्रकार के प्रश्न आते है और वह अपने निरीक्षण द्वारा उन प्रश्नो का समाधान करता है।

वालको की शिक्षा मे इसी प्रकार के निरीक्षण का विशेष महत्त्व है। वालकों द्वारा किसी वस्तु का निरीक्षण करने के पहले पाठको को उनके सामने कुछ प्रश्न रखना चाहिये। जव वालको के मन मे इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित रहते है तो उनके ध्यान की एकाग्रता वढ़ जाती है तथा वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूरी चेष्टा करते है। उनकी इन्द्रियाँ पूरी तरह सजग होकर काम करती है और वे छोटी छोटी वातो पर भी ध्यान देते हैं। वालक जो वातें इस प्रकार देखता है उन्हे भली भाँति स्मरण रख सकता है तथा जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करता है वह उसे इस प्रकार स्पष्ट रहता है कि समय आने पर उसका अच्छी तरह उपयोग कर सके।

अहेतुपूर्ण निरीक्षण—अहेतुपूर्ण निरीक्षण वह है जिसमे निरीक्षक कोई प्रश्न लेकर निरीक्षण का कार्य आरम्भ नहीं करता, वरन् उसे वरवस निरीक्षण करना पड़ता है। निरीक्षित पदार्थ में निरीक्षक की विशेष रुचि नहीं होती, किन्तु निरीक्षण की क्रिया इसलिए होती है कि उसके किये बिना निरीक्षक रह नहीं सकता। मान लीजिए, हम एक कमरे मे वैठे हुए कोई किताब पढ़ रहे हैं, पीछे से कोई खड़खड़ाहट की आवाज आई। हमारा मन अब पढ़ाई से उचट जाता है और एकाएक उस आवाज की तरफ जाता है। हम जव तक उस आवाज के कारण को नहीं जान पाते, वेचैन वने रहते है। यहाँ हमे निरीक्षण का कार्य वरवस करना पड़ता है। ऐसा निरीक्षण अहेतुपूर्ण कहा जाता है। ऐसे निरीक्षण का जीवन मे महत्त्व अवश्य है। इससे हम अनेक सङ्कटो से वचते है। वालक के जीवन मे ऐसे निरीक्षण का और भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन की कितनी ही मौलिक वस्तुओ का ज्ञान वालक इस प्रकार के निरीक्षण से प्राप्त करता है। हम जव वालक को किसी नये स्थान पर ले जाते हैं तो वह यह नहीं जानता कि वह क्या देखने जा रहा है किन्तु जो हजारो वस्तुएँ उसकी आँखो के सामने आती हैं, उनमें से किसी विशेष वस्तु

पर उसकी चमक-दमक या आवाज़ के कारण उसका ध्यान आकर्षित हो जाता है और वह उसका निरीक्षण करने लग जाता है। इस प्रकार अकस्मात् उसके ज्ञान की वृद्धि होती है। यदि प्रकृति इस प्रकार बालक को निरीक्षण करने के लिए प्रोत्साहित न करती तो वह संसार के अधिक ज्ञान से वञ्चित ही रह जाता।

हेतुसाधक निरीक्षण—तीसरे प्रकार का निरीक्षण हेतुसाधक निरीक्षण है। इस प्रकार के निरीक्षण मे लगा हुआ व्यक्ति किसी प्रश्न को लेकर निरीक्षण का कार्य शुरू नहीं करता, परन्तु वह नई परिस्थितियो के विषय मे सदा सतर्क रहता है। निरीक्षण करने के लिए उसकी मानसिक तैयारी काफी रहता है।

मान लीजिए, आप किसी नये देश में भ्रमण कर रहे है। भ्रमण करते समय आपके मन मे कोई विशेष प्रश्न न होते हुए भी आप नई वस्तुओं की ओर सदा सतर्क रहते हैं। इस प्रकार आप मनुष्यों के रीति-रिवाज, बोलने के ढङ्ग और देश की विशेषताओ को जान लेते है। यह हेतु-साधक निरीक्षण का कार्य है।

एक तरह से देखा जाय तो हेतु-पूर्ण निरीक्षण की अपेक्षा हेतु-साधक निरीक्षण अधिक उपयोगी होता है। हेतुपूर्ण निरीक्षण कभी कभी भ्रमोत्पादक होता है, किन्तु इसकी सम्भावना हेतुसाधक निरीक्षण में नहीं। जब हमारे मन मे विशेष प्रकार के प्रश्न रहते है तो हम अपने देखे हुए पदार्थ को भी उन्हीं प्रश्नो के अनुकूल पा लेते है। किन्तु हमे इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि बालक में हेतुसाधक निरीक्षण करने की शक्ति परिमित रहती है। निरीक्षण के विषय में जब तक बालक की मानसिक तैयारी भली भाँति नहीं की जाती, उसमे निरीक्षण करने की योग्यता नहीं आती। वही व्यक्ति हेतुसाधक निरीक्षण करने की योग्यता रखता है जिसका संसार का साधारण ज्ञान परिपक्व हो गया है और जो पहले से ही अनेक बार हेतुपूर्ण निरीक्षण कर चुका है। छोटा बालक स्वतन्त्र विचार करने की अवस्था मे नही रहता। अतएव शिक्षकों या माता-पिताओ को उसके सामने भली भाँति सोचकर कुछ प्रश्न रखना चाहिये जिनके आधार पर वह किसी वस्तु का निरीक्षण करे। जब पाठक बालक को मच्छर, चींटी या तितली का पाठ

पढ़ावें अथवा जब उन्हे खेत मे अनेक प्रकार की फूल-पत्तियाँ दिखाने के लिए ले जावें तो पहले से ही बालक को उन वस्तुओं की विशेषताएँ देखने के लिए उनके समक्ष योग्य प्रश्न रक्खें।

बालकों का चित्र-निरीक्षण

बालको की निरीक्षण-शक्ति बढ़ाने के लिए चित्र दिखाना बहुत ही उपयोगी है। चित्र देखने से न केवल निरीक्षण की शक्ति बढ़ती है किन्तु उससे विचार-शक्ति की भी वृद्धि की जा सकती है। बालक चित्रो को बड़े चाव से देखते हैं। जब हम कोई किताब पढ़ते रहते है तो बालक भी हमारे पढ़ने की नकल करना चाहता है और जब उसमे उसे कोई चित्र दिखाई देता है तो वह बहुत प्रसन्न हो जाता है। उसमे वह अनेक वस्तुओ को देखता है और उनके नाम बताने की चेष्टा करता है। चित्र देखकर नाम बताने की शक्ति बालक मे बहुत छोटी ही अवस्था से हो जाती है। डेढ़ वर्ष तक का बालक चित्र देखकर कोई कोई वस्तु पहचान लेता है। यह मनोविज्ञान का भारी प्रश्न है कि बालक इतनी छोटी अवस्था मे ही वस्तुओ की पहचान कैसे कर लेता है। न तो चित्र की वस्तुओ मे वास्तविक वस्तु का रंग-रूप ही होता है, और न आकार ही उतना बड़ा होता है।

चित्र की विशेषताओं पर ध्यान—बालक जब चित्र देखता है तो निम्नलिखित बातो पर अपनी आयु के अनुसार कम और अधिक ध्यान देता है—विचित्र वस्तु का खाका, उसका रंग, आकार और उसकी जगह।

सबसे पहले बालक चित्रित वस्तु का खाका पहचानता है। इसके लिए अगर उसे थोड़ा सा भी सहारा मिले तो वह वस्तुओ को बता देगा। दो वर्ष के एक बच्चे के सामने जब यह चित्र ┌─┤ लाया गया तो उसने उसे कुर्सी कह दिया। यह बात सच है कि बच्चा इस समय वस्तुओ का ठीक नाम नहीं कहता, वह उनका जो कुछ अर्थ समझता है उसी के अनुसार उनका नाम कहता है। जैसे शांति (एक वर्ष ८ माह) ने एक चित्र मे बहुत से लोगो को देखकर बाबा, काका आदि कहा; एक बुढ़्ढी को

देखकर बाऊ (दादी) कहा। प्रायः किसी भी चार पैर के जानवर को देखकर वह उसे "तू तू" कहने लगती है। एक बार उसे शेर की तसवीर दिखाई गई तो उसने उसे "म्याउँ म्याउँ" कहा। यह बड़े आश्चर्य्य की बात है कि बालक साधारण रेखा के खींचते ही उसका अर्थ तुरन्त लगा लेता है। दो-तीन लकीरें खींचिए और वह उतना ही देखकर समझ जायगा कि यह आदमी का चेहरा बन रहा है अथवा फ्राक, जूता, कोट या कुरता। इस प्रकार की योग्यता दो वर्ष से नीचे तक के बालक में भी पाई जाती है। बालक जब कुछ बड़ा होता है तो उसमे चित्र की छोटी छोटी बातो पर ध्यान देने की शक्ति बढ़ती है किन्तु कुछ विशेष बातो को बालक बहुत पहले से ही पहचान लेता है। उसके पहचानने के लिए निम्नलिखित प्रयोग किया जा सकता है। बालक को एक ऐसा चित्र दिखाइए जिसमे उसके बाप, माँ और भाई कई अन्य व्यक्तियो के साथ हो। अब बालक से कहिए कि अपनी माँ, बाप या भाई की तसवीर दिखाओ। इस प्रयोग द्वारा पता चला कि १ वर्ष तीन महीने तक का बालक इस प्रकार की पहचान कर लेता है। किन्तु जब उसे किसी ऐसी वस्तु की पहचान करनी होती है जिसको वह भली भाँति नहीं जानता अथवा जिसे प्रतिदिन नहीं देखता तो पहचान नहीं कर पाता।

रंग—बालक को रंगीन वस्तुओ या रंगों को देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। चित्र मे रंग जितना ही चटकीला-भड़कीला होता है उतना ही उसे चित्र अच्छा लगता है। कुछ लोगो का यह कहना कि बालक रंग के अन्धे होते हैं, ठीक नहीं। वास्तव में बालक को रंगो के विभिन्न नामो का ज्ञान नहीं होता, इससे वह रंगो का ठीक नाम नहीं बता पाया। दूसरे जब रंगो मे थोड़े थोड़े भेद होते हैं तो उन भेदो को बालक नहीं पहचान पाता। तीन वर्ष की आयु मे बालक रंगों का नाम सीखता है पर उनका प्रयोग ठीक ठीक नहीं करता। बालक प्रायः ४ वर्ष की अवस्था में रंगों के ठीक नाम लेना सीख जाता है। बालक रंगो से अधिक आकृष्ट होता है पर वस्तुओ के पहचानने में उसके लिए रंगो का

अधिक महत्त्व नहीं है। गेंद का रंग चाहे हरा हो, चाहे लाल अथवा काला, उसके लिए एक ही बात है। इसी तरह गुलाब का फूल लाल या पीला कुछ भी हो सकता है। तसवीर मे यदि किसी वस्तु का रग गलत हो तो भी बालक तसवीर मे उस वस्तु की पहचान कर सकता है। इस बात की जॉच हम बालक को सूचीपत्र या समाचारपत्रो की तसवीरें दिखाकर—जो सफेद या काले ही रङ्ग की रहती है—कर सकते है। फोटोग्राफ मे से भी बालक तसवीर को पहचान लेता है।

आकार—तसवीर मे चित्रित वस्तु छोटे आकार की होती है किन्तु बालक को यह छोटा आकार वस्तु के पहचानने में बाधा नहीं देता। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वास्तव मे हमारी दृष्टिगोचर वस्तु भिन्न भिन्न आकार और दूरी के अनुसार हमारी रेटिना पर चित्रित होती है। जब हम अधिक दूरी पर किसी आदमी को देखते है तो वह छोटा दिखाई देता है किन्तु यह बात हमे उस आदमी के पहचानने मे बाधा नहीं देती। ऐसे ही बालक को वस्तुओ के पहचानने मे उसका बड़ा या छोटापन बाधा नही देता। किन्तु बालक चित्र की वस्तुओ की आपस की छुटाई-बड़ाई पर विशेष ध्यान देता है। यदि चित्र मे कुत्ते और बिल्ली दोनो का आकार बराबर बना दिया जाय और यदि बालक ने छोटे कुत्ते को देखा नही है तो उसे भ्रम हो जायगा कि वास्तव में यह कुत्ते की तसवीर है या नहीं।

चित्रित वस्तु की जगह—बालक को यदि चित्र उल्टा करके दिखाया जाय तो भी वह उसको पहचान लेगा। जब पॉच सात बालक किसी तसवीर को कई ओर से देख रहे हो तो सभी उसके दृश्य से आनन्दित होते हैं, उसमे चित्रित वस्तु को समझ सकते है। एक साढ़े तीन वर्ष के बालक को गाड़ी की तसवीर उल्टी करके दिखाई गई तो उसने उसे झट पहचान लिया कि वह गाड़ी है। प्रश्न करने पर उसने उसके पहिये और छत को ठीक बताया।

कला-ज्ञान—बालक को कला-ज्ञान बहुत धीरे धीरे होता है। यह बालक के वातावरण पर निर्भर रहता है। किन्तु

कला की कुछ बातो को बालक पहले से ही पहचान लेता है। जैसे टेबुल चौकोन होता है, किन्तु चित्र मे उसके दो कोने छोटे किये जाते हैं और दो बड़े। इसी तरह थाली का चित्र, जो गोल होता है, अण्डाकार बनाया जाता है।

संकलित चित्रों की पहचान—बालक जैसे जैसे आयु मे बढ़ता है, और उसके अनुभव की वृद्धि होती है, वैसे वैसे वह अकेली तसवीरों मे रुचि न रखकर कई वस्तुओ की सङ्कलित तसवीरो मे रुचि रखने लगता है। पर जिस समय बालक का शब्द-ज्ञान या अर्थ लगाने की शक्ति बढ़ जाती है उसी समय वह अकेली वस्तु के चित्र में रुचि न रखकर कई वस्तुओ को दर्शानेवाल चित्र मे रुचि दिखाता है और उनके आपस के सम्बन्ध को समझने की चेष्टा करता है। देखा गया है कि बालक सङ्कलित पदार्थों के चित्र का अर्थ भिन्न भिन्न अवस्थाओ मे भिन्न भिन्न लगाता है। इससे उसके बुद्धि-विकास का पता चलता है।

बालक की चित्र-निरीक्षण की अवस्थाएँ—मनोवैज्ञानिकों ने बालक की चित्र-निरीक्षण की तीन अवस्थाएँ मानी है—वस्तुज्ञान, क्रियाज्ञान और सम्बन्धज्ञान।

वस्तुज्ञान की अवस्था—दो वर्ष का बालक चित्र मे से वस्तु को पहचान सकता है, किन्तु जब किसी चित्र मे बहुत सी बातें दिखाई जाती हैं तो उसके ध्यान को अनेक पदार्थ आकर्षित नहीं करते। बालक इस प्रकार के चित्रो का स्वतन्त्र वर्णन बहुत ही कम कर सकता है; किन्तु प्रश्न पूछने पर वह अनेक उत्तर दे सकता है। दो वर्ष की अवस्था तक बालक वस्तुओ का नाम ही बता सकता है, उनका काम नहीं बता सकता। इस अवस्था मे बालक बहुत देर तक किसी एक तसवीर को नहीं देख सकता, वह बहुत सी तसवीरो को देखना चाहता है।

क्रियाज्ञान की अवस्था—जब ढाई वर्ष के बालक मे स्वतन्त्र वस्तुओ के नाम बताने की शक्ति बढ़ जाती है और साथ साथ उसका क्रियाज्ञान भी बढ़ जाता है, वह पदार्थों को उनके नाम से ही नही वर्णन करता वरन् उनके साथ उनकी क्रियाओ का भी वर्णन करने लगता है। चित्र मे कुत्ते के मुँह में

रोटी का टुकड़ा देखकर बालक कहेगा कि "कुत्ता रोटी खा रहा है।" दो वर्ष का बालक केवल "कुत्ता और रोटी" कहेगा। तीन वर्ष की अवस्था तक पहुँचते ही बालक उसकी क्रिया भी जोड़ देता है। किन्तु इस अवस्था तक बालक को तसवीरो की अनेक वस्तुओ का आपस के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। यदि किसी तसवीर मे पाँच सात वस्तुएँ हो तो वह दो तीन को ही एक साथ देख सकता है। अतएव पूरी तसवीर का अर्थ लगाना उसकी बुद्धि के लिए कठिन कार्य है।

सम्बन्ध-ज्ञान की अवस्था—साढ़े चार वर्ष से साढ़े पाँच वर्ष तक के बालक मे सम्बन्ध-ज्ञान का विकास होता है। यदि किसी कहानी को बालक ने सुना है और फिर उसे चित्र मे चित्रित देखा है तो चित्र को देखने से उसे उस कहानी की याद आ जायगी और उस कहानी को वह कह सकेगा; किन्तु यदि तसवीरो को देखकर स्वतन्त्र कहानी के रचने की योग्यता का विकास हम देखना चाहे तो इसे आठ दस वर्ष के बालक में ही पावेंगे। एक बालक को उसकी भिन्न भिन्न अवस्था मे एक ऐसी तसवीर दिखाई गई जिसमें एक स्त्री अपने हाथ मे एक बच्चा लिये हुए थी। जब बालक १ वर्ष ९ महीने का था तो उसने उस तसवीर को देखकर कहा "माँ और मुन्ना।" जब वही तसवीर सवा तीन वर्ष की उम्र मे दिखाई गई तो उसने कहा "माँ खड़ी है और मुन्ना को बाहर घुमाने ले जा रही है।" साढ़े चार वर्ष की अवस्था मे इसी बालक ने कहा कि "यह माँ है" और जब उससे कहा गया कि यह माँ तो नही है तो उसने इस प्रश्न के उत्तर मे कहा "यह हम लोगो की पड़ोसिन है।"

बुद्धि-माप की परीक्षा के प्रसिद्ध आविष्कारक फ्रांस के डाक्टर बिने ने श्रमजीवी बालको के लिए भिन्न प्रकार के ज्ञान की भिन्न-भिन्न आयु बताई है, जो यहाँ दी जाती है।

आयु	ज्ञान
३ वर्ष	चित्र मे वस्तुओ का नाम बताना (वस्तुज्ञान की अवस्था)
७ वर्ष	उनकी क्रिया का वर्णन करना (क्रियाज्ञान की अवस्था)
१२ वर्ष	पूरे चित्र का समझना (सम्बन्ध-ज्ञान की अवस्था)

बोअर टाग महाशय के प्रयोग से पता चला है कि उपर्युक्त ज्ञान की अवस्था ३ साल, ६ साल और ९ साल में होती है। ९ साल की अवस्था में बालक प्रश्न द्वारा चित्र को समझ सकता है; किन्तु १२ साल की अवस्था में वह चित्र का स्वतन्त्र अर्थ लगा सकता है। बोअर टाग महाशय ने सब प्रकार के बालकों की औसत उम्र बताई है। बिने ने केवल श्रमजीवी बालकों का निरीक्षण किया था।

बालकों को चित्र दिखाने की रीति—जिस प्रकार बालक स्वतन्त्र बुद्धि से थोड़ी ही क्रियाएँ कर सकता है, इसी प्रकार वह स्वतंत्र रूप से चित्र भी नहीं देख सकता। इसके लिए बालक को प्रौढ़ लोगों की सहायता की आवश्यकता होती है। बालक के हाथ मे चित्र दे देने से न तो वह उसे भली भाँति देख पायेगा और न वह उसे रुचिकर लगेगा। बालक को चित्र दिखाने की प्रक्रिया इस प्रकार है—

(१) चित्र दिखाकर बालक से पूछा जाय कि चित्र में क्या देख रहे हो।

(२) फिर उससे चित्र की एक एक चीज़ पर प्रश्न पूछा जाय।

(३) अब उससे उन चीजों के विषय मे प्रश्न पूछा जाय जो चित्र मे तो नहीं हैं; किन्तु चित्र मे उपस्थित पदार्थ से संकेतित होती है, जैसे कि चित्र के लोगों की क्रियाएँ और पदार्थों के रङ्ग।

(४) बालक से चित्र के विषय में कल्पना द्वारा वर्णन करने को कहा जाय। वह किसी भी चित्र के अनेक अर्थ लगा सकता है। फिर उन कल्पनाओं को प्रकट करने के लिए कहा जाय। इस प्रकार चित्र देखने से बालक की निरीक्षण तथा स्मरण-शक्ति की वृद्धि होती है। बालक को लगातार चित्र न दिखाकर बीच-बीच मे चित्र हटा लेना चाहिये और उस दशा मे बालक से पूछना चाहिये कि तुमने क्या देखा।

बाजू में दिया हुआ चित्र एक साढ़े तीन वर्ष की बालिका को दिखाया गया। उसका चित्र का स्वतन्त्र वर्णन और प्रश्नोत्तर द्वारा वर्णन निम्नलिखित था—

चित्र का स्वतन्त्र वर्णन

यह रानी (माँ) हैं। यह भगवान् है। रानी पैजना पहने हैं और कड्डोरा (करधनी) पहने है। चूड़ियाँ पहने है। धोती पहने है।

प्रश्नोत्तर द्वारा वर्णन

रानी क्या कर रही है ?—बैठी है।

और क्या कर रही है ?—गिलास दे रही है।

गिलास किसको दे रही है ?—भगवान् को दे रही है। भगवान् गिलास को नहीं ले रहे है।

रानी कहाँ देख रही है ?—भगवान् की तरफ देख रही है।

भगवान् क्या पहने है ?—माला पहने हैं।

पाँव मे क्या पहने है ?—चप्पल पहने है।

भगवान् सिर पर क्या लगाये हैं ?—टोव लगाये है।

रानी और भगवान् कहाँ हैं ?—घर मे बैठे है।

रानी भगवान् से क्या कह रही है ?—मत जाओ।

यह क्या है ? (झण्डे की ओर बताकर)—झण्डा है।

उसके नीचे क्या है ?—फूल है।

फूल किसके ऊपर है ?—मन्दिर के ऊपर।

मन्दिर मे कौन है ?—आदमी है, और शान्ति और बब्बा और भगवान् है।

उपर्युक्त प्रयोग में हम देखते हैं कि बालिका ने स्वतन्त्र वर्णन में उन्हीं चीजों का नाम लिया जो उसे प्रिय हैं, अथवा जिन्हे वह लेना चाहती है। प्रश्नोत्तर द्वारा वर्णन करने मे उसने बहुत सी चित्र की बातें बताईं। उसने अपनी कल्पना-शक्ति से काम लिया, इसमे उसने कुछ भूले भी कीं। पर उसका निरीक्षण अब अधिक सार्थक हो गया।

प्रयोगो द्वारा देखा गया है कि जिस बालक को चित्र-निरीक्षण का अभ्यास रहता है, वह अपने आप ही बहुत से प्रश्न दूसरो से पूछने लगता है। चित्र को देखते ही उसके मन मे अनेक विचार उठने लगते हैं और चित्र के पदार्थों के तथा उसमे अंकित पात्रो के हाव-भावो के अनेक अर्थ वह लगाने लगता है। जब बालक इस प्रकार चित्र देखने मे चतुर हो जाय तब हमे समझना चाहिये कि बालक का चित्र-निरीक्षण सार्थक हुआ।

चित्र दिखाने में सावधानी—बालक को चित्र दिखाते समय कुछ विशेष बातों पर हमें ध्यान देना चाहिये। छोटे बालकों को कोई चित्र अधिक देर तक न दिखाया जाय। उनके ध्यान व रुचि के अनुसार ही उन्हें चित्र दिखाया जाना चाहिये। दूसरे, बालक जितना छोटा हो उतना ही सरल चित्र उसे दिखाया जाना चाहिये। उसमें बहुत सी वस्तुएँ न दिखाई गई हों। इससे बालकों में ध्यान की एकाग्रता न आकर उसकी कमी होती है। तीसरे, बहुत से चित्र बालकों को एक साथ नहीं दिखाने चाहियें। इससे बालक किसी चित्र का निरीक्षण भली तरह नहीं कर पाता तथा चित्रों की आकर्षकता ही चली जाती है। चौथे, बालकों का चित्र देखना स्वयंसाध्य कार्य न मान लेना चाहिये। चित्र-निरीक्षण बाल-मनोविकास व बालकों की शिक्षा का साधनमात्र है।

चित्र-निरीक्षण और शिक्षा—ऊपर कहा जा चुका है कि चित्र-निरीक्षण से बालक का प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृति, कल्पना और विचार-शक्ति का वृद्धि होती है। साथ ही साथ बालक का भाषा-ज्ञान विकसित होता है। जब किसी पाठ मे चित्र का संयोग हो जाता है, तो वह पाठ बालक को रोचक बन जाता है। पाठकों को चाहिये कि वे, जहाँ तक सम्भव हो, छोटे बालकों को पढ़ाते समय चित्रों का प्रयोग अवश्य करे। एक चित्र को लेकर शिक्षकगण भाषा का सुन्दर आदर्श पाठ दे सकते हैं।

बाजू मे दिया हुआ चित्र एक दस वर्ष के बालक को दिखाया गया। चित्र पर निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुआ—

यह चित्र कैसा है?—बहुत अच्छा है।

यह किस स्थान का चित्र है?—राजसभा का।

यह तुमने कैसे जाना?—इसमें राजा लोग, दरबारी, सेनापति तथा सरदार लोग बैठे है!

यह कैसे जाना गया?—राजमुकुट से राजा जाना गया; बाकी सेनापति और सरदार हैं।

और किन बातो से जाना जा सकता है कि यह राजसभा है?—सबके लिए निश्चित स्थान है।

(इसके बाद चित्र का नाम 'दूत श्रीकृष्ण' दिखाया गया। इस

बालक ने कृष्ण की कथा सुनी थी जिसमे वे पाण्डवों के दूत बनकर दुर्योधन के यहाँ गये थे।)

यहाँ श्रीकृष्ण किस लिए आये है?—दुर्योधन को समझाने के लिए दूत बनकर आये है।

चित्र मे श्रीकृष्ण कौन है?—मोर-मुकुटवाले खड़े श्रीकृष्ण हैं।

और उनकी क्या पहचान है?—खड़े होकर कुछ कहते हुए दिखाई दे रहे है?

दुर्योधन कौन है?—वह हाथ मे तलवार लेकर बाईं ओर खड़ा है।

यह कैसे जाना कि यही दुर्योधन है?—वह राजा का पहनावा पहने है, सिर पर मुकुट है। श्रीकृष्ण उसी से बात करने गये थे। इस चित्र मे उसी से बात कर रहे हैं।

उसके भाव कैसे है?—वह क्रोधित सा दीख रहा है।

दुर्योधन क्या कर रहा है?—अपने दरबारियो से श्रीकृष्ण को मारने को या पकड़ने को कह रहा है।

कृष्ण के पास आसन पर बैठा आदमी कौन है?—एक सेनापति है।

उसके भाव कैसे हैं?—दुर्योधन की बात उसे अच्छी नहीं लगती।

यह कैसे जाना?—वह दूसरी ओर देख रहा है।

दुर्योधन के पीछे कौन बैठा है?—भीष्म पितामह।

कैसे जाना?—उनकी आकृति से, बुड्ढे हैं, दाढ़ी बढ़ी है।

कृष्ण अपने कामो मे सफल होगे या नहीं?—नहीं, क्योकि दुर्योधन हठी था; वह किसी की बात नहीं मानता था।

दुर्योधन कृष्ण को क़ैद करने मे सफल होगा या नहीं?—नहीं।

क्यो नहीं?—उसे सब लोग धिक्कारेंगे।

इस प्रश्नोत्तर में बालक को चित्र का भली भाँति निरीक्षण ही नहीं करना पड़ा, बल्कि उसे अपनी कल्पना-शक्ति और विचार से भी काम लेना पड़ा। इस तरह पाठकगण किसी भी चित्र को बालको के लिए सार्थक बना सकते हैं।

चौदहवाँ प्रकरण

स्मृति

स्मृति का मनोविकास में स्थान—प्राणी का जीवन-विकास दो प्रकार की प्रवृत्तियों से होता है—एक तो आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति से और दूसरे अपने अनुभवो को सञ्चित करने की प्रवृत्ति से। प्राणियों का पुराना अनुभव स्मृति के रूप में सञ्चित होता है। इस सञ्चित अनुभव के आधार पर ही वह संसार में उन्नति करता है। प्राणी के पुराने अनुभव आत्मप्रकाशन में अनेक प्रकार से सहायता पहुँचाते है। जो प्राणी जितना ही अपनी स्मृति से लाभ उठा सकता है, वह उतना ही उन्नतिशील होता है। स्मृति ही कल्पना और विचार का आधार होती है। मनुष्य विचार-शील प्राणी कहा गया है, किन्तु स्मृति के अभाव में उसका विचार करना असम्भव है।

स्मृति का आधार—जब हम किसी पदार्थ का अनुभव करते हैं तो वह अनुभव संस्कार के रूप मे हमारे मस्तिष्क में स्थिर हो जाता है। इन संस्कारों के आधार पर ही हम अनुभवो के चित्र मानस-पटल पर खींच सकते हैं। एक प्रकार से देखा जाय तो प्रत्येक प्राणी मे कुछ न कुछ स्मरण करने की शक्ति रहती है। किन्तु मनुष्य मे यह विशेषता है कि उसकी स्मरण-शक्ति दूसरे प्राणियो से चढ़ी बढ़ी और स्पष्ट होती है। इसका एक कारण यह है कि मनुष्य की कल्पनाशक्ति प्रवीण होती है और वह अपनी कल्पना को शब्दों द्वारा स्थिर कर सकता है। मनुष्य में भाषाज्ञान प्राप्त करने की शक्ति दूसरे प्राणी से अधिक है, जिसके कारण उसका सब प्रकार का ज्ञान बढ़ जाता है।

किसी अनुभव के स्मरण करने के लिए हमे तीन बातो की आवश्यकता होती है—अनुभव का मन मे स्थिर रहना, उसका पुनः मानसपटल पर चित्रित होना, और उसका अपने पुराने अनुभव के रूप मे पहचान मे आना; अर्थात् धारणा[1] पुनश्चेतना[2] और पहचान[3]। यहाँ हम स्मृति के इन तीनो अंगो पर क्रमशः विचार करेंगे।

धारणा

अनेक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य की धारणा-शक्ति उसके मस्तिष्क की बनावट के ऊपर निर्भर है। जिस प्रकार मनुष्यो के मस्तिष्को की बनावट मे भेद होता है इसी प्रकार उनकी धारणाशक्ति मे भी भेद होता है। ये भेद जन्म से ही रहते है। इस जन्मजात धारणाशक्ति का बढ़ाया जाना सभव नहीं। मनुष्यों के मस्तिष्क में ऐसे भेद भी है जिनके कारण वे किसी अनुभव को देर तक स्मरण किये रहते है अथवा तुरन्त भूल जाते है। कोई कोई व्यक्ति किसी नई बात को जल्दी याद कर लेते है किन्तु वे उसे उतनी ही जल्दी भूल जाते है। और कई याद करने मे अधिक समय लगाते हैं परन्तु उनका याद किया हुआ विषय उनकी स्मृति मे बहुत दिनो तक बना रहता है।

धारणाशक्ति की वृद्धि बालक की अवस्था की वृद्धि के साथ साथ होती है। यह शक्ति तेरह वर्ष की अवस्था तक धीरे धीरे बढ़ती है। तेरह से सोलह वर्ष की अवस्था के बीच इस शक्ति की वृद्धि का वेग बढ़ जाता है और सोलह से पचीस वर्ष की अवस्था तक फिर वह धीरे धीरे बढ़ती रहती है। इसके उपरान्त उसमे कोई उन्नति नहीं होती।

बालक की धारणाशक्ति की एक विशेषता है जिसे शिक्षकों या अभिभावकों को सदा ध्यान मे रखना चाहिये। बालक के मन पर जो सस्कार भली भॉति अङ्कित हो जाते है वे बहुत दिनो तक ठहरते हैं। जिस प्रकार कच्चे घड़े पर बनाया हुआ

---

1. Retention 2 Recall 3 Recognition

चित्र सदा अङ्कित रहता है उसी तरह बालक जो कुछ बचपन में सीखता है वह उसे जीवन भर काम देता है। उसके लड़कपन के सस्कार उसके स्मृतिपटल से लुप्त नहीं होते। किन्तु बालक उतनी बाते स्मरण नहीं रख पाता, जितनी बातें प्रौढ़ अवस्था के लोग रख पाते है। बालक की तुरन्त की बातें स्मरण रखने की शक्ति प्रौढ़ अवस्था के व्यक्तियो से कम होती है। उसमें ध्यान की एकाग्रता की शक्ति कम होती है। अतएव वह तुरन्त के अनुभवो को भूल जाता है। किन्तु जिस अनुभव में उसकी रुचि होती है वह सदा के लिए उसके जीवन का साथी बन जाता है।

प्रौढ़ अवस्था के लोग किसी भी बात को रटकर याद नहीं कर पाते। बालको मे रटने की शक्ति प्रौढ़ अवस्थावालो से कहीं अधिक होती है। अतएव जिन विषयों में रटने का काम अधिक होता है वे बालक को बचपन मे सिखाना चाहिये। बालक जितनी सुगमता से भाषा सीखता है, उतनी सुगमता से या जल्दी प्रौढ़ अवस्था के लोग नहीं सीख सकते। किसी भी नई भाषा का सीखा जाना किशोर अवस्था के उपरात कठिन है। अतएव नई भाषा का सीखना इसी अवस्था में अथवा इसके पूर्व होना चाहिये।

किसी भी संस्कार का स्मृति मे स्थिर रहना निम्नलिखित चार बातो पर निर्भर रहता है। इन चार बातों के प्रभाव को जानना बालक की शिक्षा के लिए परम आवश्यक है।

(१) अनुभव का समीप काल में होना।
(२) अनुभव का बार बार होना।
(३) अनुभव का रुचिकर होना।
(४) अनेक अनुभवो से सम्बन्धित होना।

समीपता,[1] सघनता,[2] रोचकता[3] और सम्बन्ध[4] ये चार बातें किसी भी अनुभव के सस्कार को मन मे स्थिर रखने के लिए आवश्यक हैं। अब हम क्रम से एक एक का वर्णन करेंगे।

समीपता—जो सस्कार जितने ही समीप काल में मन पर पड़ा

साधारण नियम है कि अधिक काल व्यतीत होने पर उससे पुराने संस्कार अपने आप लुप्त हो जाते है। यदि ऐसा न होता तो हमारे सभी पुराने सस्कार ऐसे सजीव रहते जैसे कि तुरन्त के सस्कार। इससे हमारे जीवन मे स्मृति की उपयोगिता बहुत ही घट जाती। हमे बहुत सी निरर्थक बातों की याद बनी रहती और जब हमें किसी पुराने मौलिक अनुभव को ढूढ़ने की आवश्यकता होती तो हमे स्मृति-पटल पर लिखी हुई अनेक बातो को पढ़ना पड़ता। जिस प्रकार हमारे पुराने पत्र कुछ काल के बाद बेकार हो जाते है और हम अपना कमरा साफ करते समय उन्हे फेंक देते हैं, इसी प्रकार हमारी धारणाशक्ति भी उस घटना को, जो हमारे उपयोग मे बार बार नही आती, भुला देती है। हम सभी अपने बालपन के अनेक अनुभवो को भूल गये है। बालक प्रौढ़ लोगो की अपेक्षा और भी अधिक भूलता है। वह किसी अनुभव की मौलिकता को नही समझता अतएव उसे तुरन्त के पैदा हुए अनुभव का विस्मृत हो जाना स्वाभाविक है।

सघनता—जो सस्कार बार बार बालक के मन पर पड़ते है वे उसकी स्मृति पर एक ही बार होनेवाले संस्कारो की अपेक्षा अधिक देर तक ठहरते है। जिस पाठ को हम बालक को याद करवाना चाहते है उसे हमे कई बार दुहरवाना चाहिये*। किसी पाठ को दुहराने से बालक के मन पर उसके संस्कार दृढ़ हो जाते है। पुराने समय मे, जब पुस्तकों की कमी थी और जब किसी भी विद्या का लाभ उठाने के लिए मनुष्य को अपनी स्मृति के भरोसे रहना पड़ता था, गुरु लोग मौलिक बाते सूत्रों, कारिकाओ या श्लोको के रूप मे बालकों को रटा दिया करते थे। इन सूत्रों कारिकाओ और श्लोकों का पारायण प्रतिदिन

---

* यहाँ तीन प्रश्नो का एक ही उत्तरवाली किवदती को स्मरण कराना अनावश्यक न होगा। किसी व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से प्रश्न किया—"मेरे इन तीन प्रश्नों का एक ही उत्तर दो—घोड़ा क्यो अड़ा? पान क्यो सड़ा? विद्या क्यो भूली?" तीनों का एक ही उत्तर है "फेरा नही"।

बालक किया करते थे जिससे वे विस्मृत न हो जायँ। पुस्तकों की वृद्धि के कारण अब इस तरह की शिक्षा-प्रणाली की उपयोगिता कम हो गई है; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि हम मन में बिना दुहराये किसी बात को देर तक स्मरण रख सकते है। अब रटने की प्रथा तो जाती रही, किन्तु किसी दूसरी तरह से पाठ को दुहराने की आवश्यकता में कोई सन्देह नहीं करता। हम जिस विषय के बारे मे बार बार चिन्तन किया करते है वही हमारी स्मृति के पटल पर ठीक ठीक अङ्कित रहता है। पढ़ने-लिखने में होशियार बालक अपने पढ़ने-लिखने की बाते मन में दुहराया करता है और खेल-कूद में होशियार खेल-कूद की बातो को दुहराता रहता है।

रोचकता—अनुभव की रोचकता या प्रियता एक तीसरा कारण उसके स्मृति मे स्थिर रहने का है। जिस व्यक्ति को जिस बात मे अधिक रुचि रहती है, उसे वह बात याद रह जाती है, दूसरी बातों को वह भूल जाता है। हमारी स्मृति हमारे स्वार्थों के अनुकूल होती है। यदि हमारी स्मृति हमारे स्वार्थों के साधन में सहायता न दे तो उसकी उपयोगिता ही जाती रहे। इस बात को हमे बालक को शिक्षा देते समय सदा ध्यान में रखना चाहिये। माता-पिता तथा शिक्षकों का यह कर्तव्य है कि बालकों की रुचियों को समझें और उन्हे ध्यान मे रखकर बालको को पाठ पढ़ावें। किसी बात को बरबस बालक के मन मे ठूँस देने से वह उसे याद न रहेगी। बालक की स्मृति एक श्यामपट अथवा मोम की तख्ती के समान नही है जिस पर यदि कोई दाग़ लगा दिया जाय तो वह उस पर तब तक ठहरा रहेगा, जब तक उसे कोई मिटा न दे। स्मरणशक्ति एक सजीव पदार्थ है। पहले तो वह अरुचिकर बातों को ग्रहण ही नहीं करती, यदि किसी तरह ग्रहण भी कर ले तो तुरन्त ही उन्हें भुला देती है।

बालक को पाठ पढ़ाते समय शिक्षक उस पाठ को रोचक बनाने के अनेक उपायो को सोचे। साधारणतः प्रत्येक बालक की रुचि खेल-कूद, चञ्चलता और चमक-दमक मे होती है। वह सूक्ष्म की जगह स्थूल बातो को जानने मे अधिक रुचि रखता है।

अतएव शिक्षक अपने पाठ को चित्रों और मेजिक लैटर्न द्वारा, वस्तुएँ दिखाकर तथा अभिनय द्वारा रुचिकर बनावे। जो अध्यापक किसी पाठ को बालकों की स्मृति पर अङ्कित करने के लिए रटने मात्र पर ही भरोसा करता है वह बालकों का बड़ा अनर्थ करता है*। इस तरह से उनकी स्मरणशक्ति का ह्रास होता है और उनकी स्वतंत्र सोचने की शक्ति नष्ट हो जाती है। स्वतंत्र सोचने के लिए स्मरणशक्ति की बड़ी आवश्यकता पड़ती है, किन्तु जो बाते रटकर याद की जाती हैं उनका स्वतंत्र विचार मे अधिक मूल्य नहीं होता।

बालको में रुचिभेद होते है। जिस बालक को जिस विषय मे रुचि होती है उसे वह भली भाँति याद कर सकता है। जिस विषय मे उसकी रुचि नहीं होती उस विषय को वह याद नहीं कर पाता। किसी बालक को भाषापाठ में रुचि होती है तो किसी को गणित मे; कोई मेनुअल ट्रेनिंग मे रुचि रखता है तो कोई ड्राइंग, प्रकृति-निरीक्षण अथवा गाने मे। खेल मे रुचि रखनेवाला बालक खेल की बातें ठीक ठीक याद रखता है और पढ़ने मे रुचि रखने-वाला पढ़ने की। रुचि के कारण बालक अपनी रुचिकर बातो को अनेक बार मन में दुहराया करता है। इस तरह रुचिकर बातो के संस्कार बालक की स्मृति पर दृढ़ हो जाते हैं। इन सस्कारो के कारण बालक का रुचि और भी पाठ्य विषय में बढ़ जाती है। पाठकों का कर्तव्य है कि वे इस प्रकार की बालकों की रुचियों को जानें और उन्हे उनके योग्य मार्ग में लगावें ताकि उनकी शिक्षा का काल व्यर्थ न जाय।

---

* हमारे देश के हिन्दी-उर्दू मिडिल स्कूलो के पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने की विशेष आवश्यकता है। लेखक ने एक हिन्दी मिडिल स्कूल मे देखा कि वहाँ के बालकों को इतिहास की मुख्य घटनाएँ रटा दी गई हैं। १८५७ के विद्रोह के १५ कारणों को क्रम से कक्षा के सब बालकों ने रट लिया था। किन्तु बालकों ने जो कुछ रट लिया था, उसका पूरा पूरा अर्थ नहीं समझते थे।

बालकों को दण्ड के रूप में कोई याद करने का काम देना उनकी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करना है। जो कविता 'डिटेशन' क्लास में याद करने के लिए दी जाती है, वह इतनी अरुचिकर हो जाती है कि बालक यदि उसे एक बार याद करने में समर्थ भी हो जाय तो उसे तुरन्त भूल जाता है। इतना ही नहीं, उसके मन में उस कविता का सम्बन्ध एक दु:खद घटना से हो जाने के कारण उसका अदृश्य मन उससे घृणा करने लगता है और यदि वह कभी स्मरण भी हो तो उसे भुलाने की चेष्टा करता है। हमें बालक से कदापि यह आशा न करनी चाहिये कि वह अरुचिकर बात को याद रक्खेगा अथवा जिस बात को दु:ख से सम्बन्धित कर दिया गया है, उसे याद रक्खेगा।

सम्बन्ध—संस्कारों का स्मृति में स्थिर रहना उनके आपस के सम्बन्धों पर भी निर्भर रहता है। वास्तव में ज्यों ही कोई संस्कार मनुष्य के मानसपटल पर अंकित होता है, वह दूसरे संस्कारों से तुरन्त ही सम्बन्धित हो जाता है। हम किसी भी नये अनुभव को अपने पुराने अनुभव के सहारे समझते हैं और पुराने अनुभव ही नये अनुभव को स्थिर बनाने में सहायक होते हैं। अतएव जब किसी प्रकार का कोई नया अनुभव हम बालक को करावें तो उसे बालक के दूसरे अनुभवों से सम्बन्वित करा दें। जिस प्रकार किसी नगर में आनेवाला कोई व्यक्ति जब वहाँ रहने की इच्छा करता है तो नगर के अनेक लोगों से परिचय बढ़ाता और मित्रता स्थापित करता है, इसी तरह कोई भी नया अनुभव पुराने अनुभवों से अपने आप सम्बन्धित होने की चेष्टा करता है। यदि इस ओर जान-बूझकर कुछ प्रयत्न किया जाय तो अनुभव की स्थिरता और भी निश्चित हो जाय।

संस्कारों के आपस के सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—सहचारिता[1], समानता[2], और विरोध[3]।

सहचारिता—एक साथ होनेवाले दो अनुभव एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित हो जाते हैं कि जब एक स्मृति में आता है तो दूसरे का भी स्मरण अपने आप होने लगता है। एक

1 Contiguity 2 Similarity 3 Contrast

अनुभव के सस्कार दूसरे अनुभव के संस्कारो को सजीव करने में उत्तेजक का कार्य करते हैं। अतएव यदि हम बालक की स्मृति मे किसी अनुभव को स्थिर बनाना चाहते है तो हमे उस अनुभव का साथ दूसरे अनुभव से कर देना चाहिये। हम देखते है कि बालक से जब गिनती गिनाई जाती है तो वह एक के बाद दूसरे अंक को अपने आप कहता जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि बालक की स्मृति मे अको के बीच सहचारिता का सम्बन्ध दृढ़ हो गया है। पाठक को भूगोल पढ़ाते समय नकशे की सहायता लेनी चाहिये, तथा इतिहास पढ़ाते समय टाइमचार्ट का उपयोग करना चाहिये। इन साधनो के द्वारा बालक की धारणाशक्ति पर पाठ के संस्कार दृढ़ता से अंकित हो जाते हैं। नकशा और टाइमचार्ट पाठ की मौलिक बातो के बीच सहचारिता का सम्बन्ध स्थापित करने मे बड़ी सहायता करते है।

समानता—किसी नई बात को स्मरण रखने मे उसके समान लक्षणो की दूसरी बात सहायता देती है। हम एक घटना की तुलना जितनी दूसरी घटना से करते हैं, उतनी ही वह हमे याद रहती है। बालक को इतिहास और भूगोल पढ़ाते समय तथा प्रकृति-निरीक्षण कराते समय समान परिस्थिति, देश और वस्तुओ का स्मरण करना चाहिये। इतिहास के एक व्यक्ति की तुलना दूसरे से करनी चाहिये। भूगोल पढ़ाते समय किसी देश के जलवायु, उपज और निवासियो की तुलना दूसरे देशो के जलवायु, उपज और निवासियो से करनी चाहिये। इस तरह एक बात की तुलना दूसरी बात से करते रहने से दोनो बातो के संस्कार दृढ़ होते है, पुरानी बात दुहरा ली जाती है, उसकी विशेषताओ की ओर दृष्टि जाती है और नई बात पुरानी बातो के बीच एक निश्चित स्थान पा लेती है। जब पुरानी बातो की फिर से याद आती है तो वह नई बात भी याद आ जाती है। कोई नया शब्द पढ़ाते समय शिक्षक को पर्य्यायवाची दूसरे शब्द का स्मरण बालको को कराना चाहिये। समभाव की दो कविताओ की तुलना करनी चाहिये।

विरोध—दो अनुभवों के बीच जहाँ समानता के लक्षण न दिखाई पड़ें वहाँ बालकों को विरोधी लक्षण बता दिये जायँ। औरंगज़ेब की अदूरदर्शिता को बालक के मन पर बैठाने के लिए उसकी नीति की तुलना अकबर की नीति से की जाती है। इस प्रकार दोनों बादशाहों की मुख्य मुख्य बातें बालक को याद रहती हैं। किसी देश की गरीबी दिखाने के लिए उसको तुलना किसी धनी देश से करनी चाहिये। किसी कठिन शब्द का अर्थ समझाने के लिए पाठक को उसके विपरीत अर्थ वाले शब्द से तुलना करनी चाहिये। जैसे 'सहिष्णुता' 'निर्दयता' का उल्टा है; 'जंगम' 'स्थिर' का उल्टा है।

पुनश्चेतना

हमारे स्मृतिपटल पर जो संस्कार अंकित हो जाते है उनका फिर चैतन्य मन मे आना पुश्नचेतना कहलाता है। वास्तव में स्मृति का यही प्रधान अंग है। अतएव प्रायः इसे स्मरण भी कहा जाता है। बालकों में संस्कारों के ग्रहण करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा मे होती है, किन्तु उनकी पुनश्चेतना की शक्ति परिमित होती है। बालक के किसी अनुभव के स्मरण करने की योग्यता से कदापि इस निष्कर्ष पर न पहुँचना चाहिये कि बालक की वैसी ही परिमित धारणाशक्ति भी है। बालक के मानसपटल पर जो बात अंकित हो जाती है उसे वह तुरन्त याद न आवे, किन्तु कालान्तर में उसे याद आ सकती है। सस्कारों के पुनश्चेतन होने की शक्ति धारणाशक्ति ही पर निर्भर है। जिस मनुष्य की धारणाशक्ति जितनी वढ़ी-चढ़ी होती है उतना ही वह पुरानी वात को स्मरण मे ला सकता है। जिस संस्कार को हम एक वार अभ्यास करके, उसे कई दूसरे सस्कारों से सम्बद्ध करके मन मे दृढ़ कर लेते हैं वही हमे शीघ्रता के साथ याद आते है। किन्तु मन मे स्थित सब संस्कारों का पुनश्चेतन होना न सम्भव ही है और न आवश्यक ही।

मन की कोई भी शक्ति अभ्यास से बढ़ती और अनभ्यास से घटती जाती है। बालक को अपने पुराने संस्कारों को स्मरण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, अतएव उसकी स्मरण-शक्ति परिमित जान पड़ती है। जैसे जैसे उसको अपने जीवन में पुराने अनुभव का स्मरण करने की आवश्यकता पड़ती है, वैसे वैसे उसकी स्मरणशक्ति बढ़ती जाती है। संस्कारों की पुनश्चेतना उनकी उत्तेजना के ऊपर निर्भर है। जो संस्कार जितना ही दूसरे संस्कारों से अधिक सम्बद्ध रहते हैं, वे उतनी ही सरलता से उत्तेजित किये जा सकते हैं। फिर जिस अनुभव का सम्बन्ध बालक ने अपने पुराने अनुभवों के साथ कर लिया है वे अनुभव याद आने पर बालक को अवश्य ही ताजे हो जायँगे। उसके उत्तेजक अनेक अनुभव हो जाने के कारण वह सदा सजीव बना रहता है। स्मरण करते समय एक अनुभव यदि दूसरे अनुभव से सम्बद्ध होता है तो वह दूसरे अनुभव की याद अपने आप दिलाता है। इसी तरह यह दूसरा अनुभव तीसरे अनुभव को ले आता है और यह क्रम आगे चलता जाता है। हमें यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि यदि किसी प्रकार इन अनुभवों का आपस में सम्बन्ध टूट जाय तो फिर एक अनुभव दूसरे की याद नहीं करता। सम्बन्धों को स्थिर रखने में आत्म-विश्वास बड़ा काम करता है। किसी बात को स्मरण करते समय हमें बालक को प्रोत्साहन देना चाहिये कि वह उस बात की याद अवश्य कर लेगा। इस प्रकार के निर्देश बालक की स्मरणशक्ति को बढ़ाते हैं। यदि किसी बात का स्मरण करते समय बालक को सन्देह हो जाय तो उसे स्मरण करने में बाधा पड़ जाती है। इससे अनुभवों का सम्बन्ध टूट जाता है, फिर कुछ का कुछ याद आने लगता है। शिक्षकों को चाहिये कि बालक को पढ़ाते समय इस बात का ध्यान रक्खें कि दो मिलती-जुलती बातों को एक साथ ही न पढ़ा दें, नहीं तो उन्हें याद करते समय एक दूसरे के विषय में अवश्य भ्रम पैदा हो जायगा। छोटे बालक को पढ़ाते समय श्यामपट पर किसी शब्द के गलत हिज्जे न

लिखना चाहिये, क्योकि यह ग़लत हिज्जे भी बालक के स्मृतिपटल पर अंकित हो जाता है और सही हिज्जे के स्मरण में बाधा डालने लगता है। उदाहरणार्थ 'विकास', 'प्रशंसा' और 'शासन' ऐसे शब्दो के ग़लत हिज्जे श्याम-पट पर लिखकर कुछ शिक्षक बालको के सही हिज्जे के याद करने मे बाधा डाल देते है। सौभाग्यवश हमारे देश से निकली हुई भाषाओं में इस प्रकार के भ्रमात्मक हिज्जों के लिए कम स्थान है।

उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य है कि किसी भी प्रसङ्ग को स्मरण करने के लिए निर्विघ्नता आवश्यक है। संशय एक प्रकार का विघ्न है। जिस प्रकार संशय हमारी दूसरी शक्तियो को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार यह स्मरणशक्ति का भी नाश कर देता है। बालक को पाठ पढ़ाते समय उसके मन को सदा निस्संशय बनाये रखने की चेष्टा करनी चाहिये।

पहचान

दिखाया जाय। जब सब कार्ड दिखा दिये जायँ तो बालक को जितनो के नाम स्मरण रहे उन्हें कहने को कहा जाय। इससे बालक की स्मरणशक्ति का पता चलेगा। अब उन बीस कार्डों को दूसरे सौ कार्डों मे मिला दीजिए। बालक से अब कहिये कि उन कार्डो को उठाकर दे, जिनको उसने पहले देखा था। इससे बालक की पहचानने की शक्ति का पता चलेगा। इस प्रयोग मे छोटी अवस्था के बालको के लिए हम चित्रो को काम मे ला सकते है। बीस परिचित पदार्थों के चित्र बालक को दिखाये जायँ और इसके बाद जो पदार्थ उसे याद रहें वह उनके नाम बतावे। फिर जैसा पहले किया गया था, इन चित्रो को भी दूसरे चित्रो मे मिलाकर बालक से उन चित्रो को उठा उठाकर देने को कहे, जिनको उसने पहले देखा था। इस प्रकार के प्रयोगो से पता चलता है कि बालक की पहचानने की शक्ति उसकी स्मरणशक्ति से कही अधिक होती है।

मनुष्य अपने बाल्यकाल मे अनुभवो को सचित करता है। वह उनका उपयोग प्रौढ़ावस्था मे करता है। बालक बहुत से अनुभवो को याद नही कर पाता। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसका अनुभव उसके बुद्धि-विकास मे काम नहीं देता। बालक का पुराना अनुभव बालक को नई परिस्थिति मे पड़ने पर सहायता देता है। पुराने अनुभवो से उसकी वस्तुओं को पहचानने अथवा उसकी बोधीकरण की शक्ति बढ़ जाती है। यह बोधीकरण की शक्ति बालक की समझ का सहारा है। अतएव जैसे जैसे मनुष्य की पहचानने की शक्ति, जो अनुभव पर निर्भर है, बढ़ती जाती है, वैसे वैसे उसकी समझ म विकास होता जाता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से हम एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते है। बालक की परीक्षा मे हमें उसकी केवल स्मरणशक्ति की जॉच पर ही ध्यान न देना चाहिये, प्रत्युत हमे उसकी पहचानने की शक्ति पर भी ध्यान देना चाहिये। कभी कभी देखा जाता है कि दो बालको मे से एक जो वास्तव मे अधिक विद्वान् है तथा जिसका अनुभव अधिक विस्तीर्ण है दूसरे बालक से, जो मन्दबुद्धि है और जिसका

अनुभव संकुचित है, कम नम्बर पाता है। कक्षा में प्रायः सभी परीक्षाएँ बालक की स्मरणशक्ति की ही जाँच करती है, इसलिए बालक की वास्तविक प्रतिभा तथा अनुभव का पता नहीं चलता। हमें इस प्रकार की परीक्षा लेनी चाहिये जिससे बालक के वास्तविक ज्ञान या प्रतिभा का पता चले। साधारण परीक्षाओ मे रटनेवाला बालक प्राय: अधिक नम्बर पाता है। आजकल बुद्धिमापक की परीक्षाओं का आविष्कार हुआ है। इन परीक्षाओ मे बालक की पहचानने की अथवा बोधीकरण की शक्ति की जाँच की जाती है, इससे उसके वास्तविक ज्ञान या प्रतिभा का पता चलता है। बालक को जो प्रश्न दिये जाते है उनका उत्तर भी प्रश्नपत्र में लिखा रहता है। केवल बालक को पहचान करके सही उत्तर के नीचे रेखा खींचनी पड़ती है। बालक की स्मरणशक्ति पर उतना जोर नहीं पड़ता जितना कि उसकी साधारण समझ पर पड़ता है। इस तरह बालक की बुद्धि की वास्तविक परीक्षा हो जाती है।

पहचानने की शक्ति और स्मरणशक्ति मे पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने की चेष्टा कई मनोवैज्ञानिकों ने की है। दोनों ही स्मृति के अग है। किन्तु पहचानने मे पुराने संस्कारो को उत्तेजित करनेवाला कोई प्रत्यक्ष पदार्थ होता है। स्मरण में इस प्रकार की सुविधा नहीं होती। अतएव किसी वस्तु का पहचानना उसके स्मरण करने की अपेक्षा सरल होता है। परन्तु साधारणत: जिस व्यक्ति की जितनी अधिक पहचानने की शक्ति होती है, उतनी ही अधिक उसको पुराने अनुभव को पूर्णतया स्मरण करने की भी शक्ति होती है। प्रयोगो द्वारा पता चला है कि किसी भी व्यक्ति की दोनों प्रकार की योग्यताओ में ८८ प्रतिशत सह-सम्बन्ध[1] होता है। अतएव यदि हम किसी बालक की पहचानने की योग्यता के विषय मे कोई निश्चित पता चला लें तो हम उसकी स्मरणशक्ति के विषय मे भी मौलिक अनुमान कर सकते है।

1. Coefficient of Correlation

स्मृति-वर्द्धन

प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्मरण-शक्ति की वृद्धि करना चाहता है। इसी तरह प्रत्येक शिक्षक या माता-पिता चाहते है कि उनके बालको की स्मरणशक्ति अच्छी हो। अतएव हर एक व्यक्ति आशा करता है कि मनोवैज्ञानिक स्मृति-वर्द्धन के उपायों को बतावे।

अभ्यास की उपयोगिता—स्मृति-वर्द्धन पर पुराने लोगो का विचार था कि जिस प्रकार हम शारीरिक व्यायाम करके शरीर की शक्ति को बढ़ा सकते है, उसी प्रकार मानसिक व्यायाम करके मन की शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। इस धारणा से प्रेरित होकर अनेक शिक्षक कविताएँ या इतिहास की तारीखें बालकों से याद करवाते थे। फिस्ट महाशय का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति 'मार्निंग पोस्ट' के अग्रलेख को प्रतिदिन याद करे तो उसकी स्मरणशक्ति अवश्य बढ़ जायगी।

आधुनिक मनोवैज्ञानिको के प्रयोग सिद्ध करते है कि उपर्युक्त धारणा भ्रमात्मक है। हमे बालको की स्मरणशक्ति को ऐसी बातो के याद करने मे कदापि नही लगाना चाहिये जो उनके भविष्य जीवन मे उपयोगी न हो। कोलम्बिया युनिवर्सिटी के प्रसिद्ध विद्वान् थार्न डाइक ने इस विषय मे अनेक प्रयोग किये हैं। उनकी खोजो का निष्कर्ष यह है कि हमारी स्मरणशक्ति हमारी शारीरिक शक्तियो के समान व्यायाम द्वारा नहीं बढ़ाई जा सकती। स्मरण करने का अभ्यास हमे लाभदायक अवश्य होता है किन्तु इस अभ्यास द्वारा हम ऐसी ही बातो को स्मरण कर सकते हैं जिनको हमने अभ्यास करते समय काम मे लाया हो। जिसे कविताएँ स्मरण कराई जाती है ऐसा बालक एक नई कविता को ही शीघ्रता से याद कर सकता है, किन्तु यह विज्ञान-सम्बन्धी किसी विषय को स्मरण करने मे अपने अभ्यास के कारण अधिक समर्थ नहीं होता। यदि कविताएँ याद करनेवाले बालक को गद्य-साहित्य याद कराना पड़े तो वह उन दूसरे बालको की अपेक्षा सरलता से याद कर लेगा, जिन्हे किसी प्रकार के साहित्य के स्मरण करने का अभ्यास नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि गद्य और पद्य दोनो

में ही भाषा-ज्ञान की आवश्यकता होती है और दोनों में ही अनेक समान भाव प्रकाशित होते है। जब कविता याद करनेवाले बालक को रसायन-शास्त्र के सिद्धान्त (फारमूला) याद करने पड़ते है तो इन दोनों विषयों की विषमता इतनी अधिक हो जाती है कि एक विषय मे किया हुआ अभ्यास दूसरे विषय के स्मरण करने में कुछ भी सहायता नहीं देता। इससे स्पष्ट है कि बालक को उपयोगी ही बातें सिखाई जायें और उससे मानसिक व्यायाम के लिए कोई स्मृति का कार्य न कराया जाय। इस प्रकार के अभ्यास से उसे कोई लाभ नहीं होता।

विलियम जेम्स का कथन है कि हरएक बालक की धारणा-शक्ति उसके जन्म के साथ आती है। हम अभ्यास के द्वारा इस धारणाशक्ति में परिवर्तन नहीं कर सकते। हाँ, उचित उपयोग के द्वारा उसे बालक के लिए अधिक लाभकारी बना सकते हैं, जिस तरह कि थोड़ी पुस्तकों का मालिक उन पुस्तकों का सदुपयोग करके उनसे अधिक लाभ उठा सकता है जब कि दूसरा व्यक्ति अधिक संख्या में पुस्तकें रखकर भी विशेष लाभ नहीं उठा सकता। इसी तरह धारणा-शक्ति परिमित रहने पर भी हम उचित उपयोग करके उसको अपने लिए अधिक लाभकारी बना सकते है। अनुभवो को सुसंगठित करके स्थिर रखने से धारणा-शक्ति की उपयोगिता बढ़ जाती है। जो व्यक्ति अधिक बातो को याद रखता है, वह संसार मे अधिक प्रतिभा-शाली नहीं गिना जाता है। अधिक प्रतिभाशाली तो वही है जो अपनी स्मृत बातो को सुसंगठित रूप में धारण करता है और समय आने पर उनको काम में ला सकता है।

हमें बालकों की स्मरणशक्ति को व्यर्थ बातो के याद करने में न लगाना चाहिये। हमें उन्हे ऐसी ही बातें याद करने को देनी चाहिये जो उन्हे रुचिकर हों, जिन पर उनके ध्यान की एकाग्रता हो सकती हो और जो उन्हे सफल जीवन बनाने मे सहायक हों। प्रत्येक बालक अपनी रुचि की वस्तुओ को सुगमता से याद कर सकता है। जो बालक किसी विशेष विषय के पढ़ने मे मन्दबुद्धि जान पड़ता है, वही पढ़ने का विषय बदल देने

पर, अपनी विशेष प्रतिभा दिखलाता है। हमें शिक्षा के कार्य्य में रुचि-वैचित्र्य का सदा स्मरण रखना चाहिये।

रटाने की उपयोगिता—प्रायः देखा गया है कि शिक्षकगण किसी पाठ की मौलिक बातें बालको को रटाकर याद कराने की चेष्टा करते हैं। इसके विषय मे ऊपर थोड़ा सा विचार किया गया है। यहाँ हम उसके दोष और गुण पर पूर्णतः विवेचन करेंगे।

किसी विषय के याद करने में रटने से अवश्य सहायता मिलती है। रटने से पुराने संस्कार गहरे हो जाते हैं। ऊपर यह कहा जा चुका है कि जिस बात को वार वार दुहराया जाता है उसके संस्कार मानस-पटल पर दृढ़ हो जाते हैं। बालको का भाषाज्ञान प्रायः रटाकर ही बढ़ाया जाता है। इसी तरह साहित्य की अनेक सुन्दर कविताएं बालको को रटाकर याद करानी चाहिये। जीवन की कोई कोई मौलिक बाते रटाकर ही याद कराई जा सकती है। पुराने समय मे संसार के सभी देशो में रटने के ऊपर विशेष जोर दिया जाता था। आजकल पुस्तको की वृद्धि हो जाने के कारण इसकी आवश्यकता नहीं।

पर अधिक रटने से बालको की मानसिक क्षति होती है। बालक में स्वतन्त्र सोचने की शक्ति नहीं रह जाती। जब बालक किसी बात को रटने लगता है तो उसके अर्थ पर ध्यान नहीं देता। इस कारण रटे हुए विषय का सम्बन्ध बालक के दूसरे अनुभवों से दृढ़ नहीं होता। अतएव अधिक परिश्रम करने के बाद भी रटी हुई चीज को प्रायः बालक भूल ही जाया करता है। रटने मे एक ही क्रिया को वार वार करते रहना पड़ता है। इस कारण वह कार्य अरुचिकर हो जाता है। अरुचिकर काम करने मे थकावट वहुत जल्दी आती है। इस थकावट के कारण बालक का ध्यान पाठ से विचलित हो जाता है। यदि ऐसा अभ्यास कई दिनो तक चलता रहे तो बालक अपने ध्यान की एकाग्रता खो देता है।

रटने के स्थान पर बालक को समझाकर नई बात बताई जानी चाहिये। एक संस्कार का सम्बन्ध अन्य संस्कारो से जोड़ना

चाहिये। जिस बात का रटाना आवश्यक हो उसका अर्थ बालक को पहले भली भाँति समझा देना चाहिये। शिक्षक बालकों को जो कविता या परिभापा रटावें उसे भली भाँति समझा दें और उन्हें आदेश करें कि कविता या परिभाषा रटते समय वे उसके अर्थ पर भी ध्यान दें।

पाठ याद कराने के सुगम उपाय

मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगो द्वारा बालको को पाठ याद कराने के कुछ सुगम उपायों का पता चलाया है। प्रत्येक शिक्षक को इनका जानना आवश्यक है।

समय-विभाग—लगातार याद करने की अपेक्षा बीच बीच में समय देकर याद करना अधिक लाभदायक होता है। इस विषय में जोस्ट महाशय का एक प्रयोग उल्लेखनीय है। जोस्ट ने दो बालको को कुछ निरर्थक शब्द याद करने के लिए दिये। दोनों को भिन्न भिन्न तरह से उन शब्दो को याद कराया गया। दोनों बालकों ने २४, २४ बार उन शब्दो को पढ़ा। पहली बार प्रत्येक बालक ने आठ आठ बार प्रतिदिन शब्दो को दुहराया। इस तरह २४ बार तीन दिन में उन शब्दो को दुहराया। दूसरी बार छै-छै बार प्रतिदिन उन शब्दो को दुहराया गया। इस तरह २४ बार दुहराने मे चार दिन लगे। तीसरी बार दो दो बार प्रति दिन १२ दिन तक दुहरवाया गया। प्रत्येक समय के नम्बर इस प्रकार बालकों को मिले—

पढ़ने की रीति (कुल संख्या २४)	पहले लड़के के प्राप्त नं०	दूसरे के प्राप्त नं०
३ दिन ८ वार प्रतिदिन पढ़ना।	१८	७
४ दिन ६ वार ,, ,,	३९	३१
१२ दिन २ वार ,, ,,	५३	५५

उपर्युक्त प्रयोग से यह निश्चित है कि हमे बालको को कोई विषय लगातार न पढ़ाना चाहिये। यदि कोई कविता बालको को याद करानी हो तो लगातार उसे न दुहरवा कर कई दिनो तक उसे दुहरवाना चाहिये। हिन्दी प्राइमरी स्कूलो मे बालकों को प्रतिदिन खड़ा करके गिनती या पहाड़ा कहलवाना याद कराने का बहुत सरल उपाय है। लगातार एक ही बात को कहने से मन उकताने लगता है, थकावट जल्दी आती है और रुचि नष्ट हो जाती है। जब एक बार और दूसरी बार के दुहराने में कुछ समय का अन्तर रहता है तो मस्तिष्क ताज़ा रहता है। दूसरे एक बार जो संस्कार पड़ जाते हैं वे स्थिर होने के लिए कुछ समय लेते है। जब हम किसी भी बात के दुहराने मे कुछ अवकाश लेते है तो इस बीच मे पुराने संस्कार पक्के हो जाते हैं तथा नये संस्कार इसके कारण मस्तिष्क पर और भी अधिक प्रभाव डालते है। जितने छोटे बालकों की कक्षा हो उतनी ही जल्दी जल्दी पढ़ाते समय विषय-परिवर्तन होते रहना चाहिये। बालको को लगातार एक ही विषय न पढ़ाना चाहिये।

अर्थ की प्रधानता—जो बात बालकों को अर्थ के सहारे पढ़ाई जाती है वह अधिक स्थायी रहती है। किसी बात का अर्थ समझाने का तात्पर्य यह है कि उस बात को बालक के दूसरे अनुभवों से सम्बन्धित किया जाय। जब बालको से कविता रटवाना हो तो कविता की भिन्न भिन्न कल्पनाओं का अर्थ समझाने से वह बालकों को शीघ्र याद होगी। यहाँ कविता के याद कराने की भिन्न भिन्न रीतियो पर विचार करना आवश्यक है।

कविता तीन प्रकार से याद कराई जा सकती है। पूरी कविता कई बार पढ़ाकर, कविता को भागो मे विभाजित कर एक एक भाग को याद कराकर और इन दोनो प्रकारो को मिलाकर। इन प्रकारो को सम्पूर्ण-प्रकार, विभाग-प्रकार तथा मिश्रित-प्रकार कहा गया है। देखा गया है कि २४० पक्तियों तक की कविता को प्राय: सम्पूर्ण-प्रकार से अच्छी तरह याद किया जा सकता है। सम्पूर्ण-प्रकार से याद करने मे कविता का अर्थ सहायक होता है। यह सहायता विभाग-प्रकार से नहीं

मिलती। दूसरे, विभाग-प्रकार से याद करने में एक पद और दूसरे पद के बीच अवाञ्छनीय सम्बन्ध स्थापित हो जाते है जिससे कविता लगातार स्मरण में नहीं आती*।

---

* मान लीजिए, बालक को निम्नलिखित कविता याद करनी है—

एक सफेद बड़ा सा ओला,
था मानो हीरे का गोला।
हरी घास पर पड़ा हुआ था,
वहीं पास मै खड़ा हुआ था॥
मैने पूँछा क्या है भाई,
तब उसने यों कथा सुनाई।
जो मै अपना हाल बताऊँ,
कहने में भी लज्जा पाऊँ॥
पर मै तुम्हें सुनाऊँगा सब,
कुछ भी नहीं छिपाऊँगा अब।
जो मेरा इतिहास सुनेंगे,
वे उससे कुछ सार चुनेंगे॥
यदपि न मै अब रहा कही का,
वासी हूँ मै किन्तु यहीं का।
सूरत मेरी बदल गई है,
दीख रही वह तुम्हें नई है॥
मुझ मे आर्द्र भाव था इतना,
जल में हो सकता हो जितना।
मैं मोती जैसा निर्मल था,
तरल; किन्तु अत्यन्त सरल था॥

यह 'ओले की आत्मकथा' नाम की कविता के कुछ पदों का उद्धरण है। पूरी कविता का एक अर्थ उसके किसी एक पद से व्यक्त नहीं होता; जब एक एक पद करके कविता याद की जाती है तो बालक को अर्थ की सहायता नहीं मिलती। दूसरे, अवाञ्छनीय सम्बन्ध पहले पद के अन्त के शब्द और उसी पद के पहले शब्द में हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब बालक पहले पद की "वहीं पास मै

पुनरावृत्ति—जब कोई पाठ पढ़ाया जाय तो पाठ के पूरे होने पर बालकों से प्रश्न द्वारा उसके मुख्य मुख्य अंगों को दुहरवाना चाहिये। इस प्रकार का अभ्यास नये अनुभवों के संस्कारों के दृढ़ करने में बड़ा लाभदायक होता है। किसी कविता को याद कराते समय लगातार उसको दुहराने की अपेक्षा बीच बीच में आत्मपरीक्षा करते रहने से कविता अधिक शीघ्रता से याद होती है। जो बालक किसी पाठ को पढ़ते ही रहते हैं और यह जानने की चेष्टा नहीं करते कि उन्हें कितना याद हुआ, उन्हें अपने ज्ञान के ऊपर भरोसा नहीं रहता। शिक्षकों को चाहिये कि बालकों को पाठ याद करने का उचित उपाय बतावें। वे लगातार पाठ को याद न करें, बीच बीच में पुस्तक बन्द करके यह जानने की चेष्टा करें कि उन्हें कहाँ तक पाठ याद हुआ है। इस प्रकार याद किया जानेवाला विषय शीघ्रता से याद होता है। साथ ही बालक को अपने ज्ञान के ऊपर भरोसा हो जाता है।

इस प्रकार की पुनरावृत्ति किसी पुस्तक या पाठ के पढ़ने के बाद तुरन्त ही बालकों को करनी चाहिये। प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि इस पुनरावृत्ति के कार्य्य में जितनी देर होती है उतना ही नये अनुभव के संस्कार शिथिल हो जाते हैं। इबिंगहास और बेलार्ड महाशय ने इस विषय में बहुत से प्रयोग

खड़ा हुआ था" इस पंक्ति को कह चुकता है तो उसे दूसरे पद की पंक्ति "मैंने पूछा क्या है भाई" स्मरण होनी चाहिये न कि 'एक सफ़ेद बड़ा सा ओला" पहली पंक्ति याद आवे। "था" शब्द का सम्बन्ध 'मैंने' से जुड़ना चाहिये न कि "एक" से। किन्तु जब बार बार "था" के बाद 'एक" आया करेगा तो उन दोनों शब्दों में सम्बन्ध जुड़ना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार पूरी कविता के याद करने में विभाग-प्रकार उतना लाभदायक नहीं होता जितना कि सम्पूर्ण-प्रकार। हाँ, जब बहुत लम्बी कविता हो तब उसको अर्थ के अनुसार विभाजित करना अनुचित नहीं है।

किये हैं। इविंगहास के प्रयोगो का फल दर्शाता है कि किसी भी स्मृत विषय का ५८ प्रतिशत ही २० मिनट के उपरान्त हमें याद रहता है। एक घंटे के वाद ४४ प्रतिशत, ९ घंटे के वाद ३६ प्रतिशत, १ दिन के वाद ३४ प्रतिशत, दो दिन के वाद २८ प्रतिशत, छः दिन के वाद २५ प्रतिशत तथा ३० दिन के पश्चात् २१ प्रतिशत विषय का भाग याद रहता है। अतएव किसी विपय को पढ़ाने के वाद अथवा वालक द्वारा पढ़े जाने के वाद उसकी तुरन्त ही पुनरावृत्ति करना और कराना आवश्यक है। जिस पाठ को हम ३५ मिनट तक पढ़ाते हैं उसको ८ या १० मिनट मे अवश्य ही वालको द्वारा दुहरवाना चाहिये। पाठ को दुहराने का अर्थ यह नहीं कि हम उसे फिर से पढ़ाने लग जायँ, वरन् उसका यही अर्थ है कि प्रश्नो द्वारा वालक से मुख्य मुख्य वाते दुहरवावें।

वाह्य-क्रिया का सहयोग—वालक के मन मे किसी विपय के संस्कार दृढ़ करने के लिए वाह्य-क्रिया का सहयोग वाञ्छनीय है। पाठ पढ़ाते समय शिक्षक को मस्तिष्क के काम के साथ साथ हाथ का काम कराते रहना चाहिये। जव हम कोई नया शब्द पढ़ावें तो उसका उच्चारण वालकों द्वारा करावे और उनकी नोटवुक पर भी लिखवा दें। भूगोल और इतिहास पढ़ाते समय वालकों से नक्शे या टाइमचार्ट वनवाना चाहिये। रेखागणित पढ़ाते समय यदि वालकों से कागज की तख्ती से भिन्न भिन्न चित्रों के नमूने वनवावें तो उन चित्रों की परिभापा याद करने में वालक को वड़ी सहायता मिले।

आत्मप्रकाशन—किसी संस्कार को दृढ़ करने मे सवसे महत्त्व की वात आत्म-प्रकाशन है। विलियम जेम्स का कथन है कि हम जिस विपय में जितना ही आत्म-प्रकाशन करते हैं उतना ही वह हमें अधिक देर तक याद रहता है। हाथ से काम कराना एक प्रकार का आत्मप्रकाशन है, किन्तु शिक्षकगण दूसरे आत्म-प्रकाशन के उपाय सोच सकते हैं। वालकों को पाठ पढ़ाते समय प्रत्येक वालक से प्रश्न पूछना चाहिये। जिस प्रश्न का उत्तर देने में वालक समर्थ होता है ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर

बालक के मन पर दृढ़ता से बैठ जाता है। बालकों में पढ़ाई के विषय पर वाद-विवाद करने की रुचि बढ़ानी चाहिये। इस प्रकार से उनके विचार स्पष्ट हो जाते हैं और देर तक स्मृत रहते हैं। कक्षा के प्रतिभाशाली बालको को अपने पिछड़े हुए सहपाठियो की सहायता करने के लिए उत्तेजित करना चाहिये और उन्हे इस कार्य में अनेक प्रकार से प्रोत्साहन देना चाहिये। ज्ञान का यह सहज गुण है कि वह जितना अधिक दूसरो को दिया जाता है उतना ही अधिक बढ़ता है। जो बालक दूसरो को अपना ज्ञान देने की चेष्टा करता है उससे दूसरे बालक का लाभ होता है तथा उसका अपना ज्ञान भी परिपक्व हो जाता है।

बालकों द्वारा पढ़े हुए पाठ के विषय पर समय समय पर अभिनय करना चाहिये। बालक जब इस प्रकार अपनी योग्यता का प्रदर्शन दूसरो के सामने करता है तो उसका आत्म-विश्वास बढ़ जाता है। मनुष्य की प्रत्येक मानसिक शक्ति की वृद्धि के लिए आत्म-विश्वास की बड़ी महत्ता है।

— —

पन्द्रहवाँ प्रकरण

बालकों की भूल

पिछले प्रकरण मे हमने स्मृति के साधारण नियम बताये है। जिन संस्कारो को बार बार दुहराया जाता है, वे दृढ़ता से मन में बैठ जाते है। जो संस्कार रुचिकर हों और दूसरे संस्कारों से गुथे हुए हों वे देर तक स्मरण रहते है अन्यथा वे नष्ट हो जाते हैं। ये स्मृति के साधारण नियम हैं। समय व्यतीत होने पर साधारणतः सभी संस्कार शिथिल हो जाते हैं और धीरे धीरे मिटते जाते है। यदि हम किसी पाठ को पढ़कर न दुहरायें तथा उसको प्रयोग में भी न लावें अथवा उसकी आवश्यकता भी हमें न पड़े तो वह विस्मृत हो जायगा। हम यहाँ पर बालकों की भूलों की विशेषताओं और उनके कारणो पर विचार करेंगे।

बालक की भूलने की विशेषताएँ

बालक की भूलों की पहली विशेषता यह है कि उसके मन में जितने संस्कार पड़ते है उनमे से बहुत थोड़ों का वह स्मरण कर सकता है। बालक की भूलो की दूसरी विशेषता यह है कि बालक एक घटना की जगह दूसरी घटना को आरोपित कर देता है; एक वस्तु की जगह दूसरी का चिन्तन करता है; किसी वस्तु के एक गुण की जगह दूसरे गुण को बता देता है।

बालक की भूलो की तीसरी विशेषता यह है कि वह लगातार क्रम से किसी घटना का वर्णन नहीं कर पाता। यदि हम बालक से प्रश्न पूछकर किसी घटना के बारे में जानना चाहे तो हम उससे अधिक बाते जान सकते हैं। किन्तु जब बिना प्रश्न किये ही उससे अपने आप घटना सुनाने को कहा जाता है तो वह बहुत थोड़ी बात कह पाता है।

बालक बहुत सी बातो को इसलिए भूल जाता है कि उनके ऊपर वह ध्यान को एकाग्र नहीं करता। बालक के ध्यान की वस्तुएँ

प्रौढ़ावस्थावालो के ध्यान की वस्तुओ से अधिक होती हैं। वह अपनी स्मृति मे स्थित पुराने संस्कारो से किसी अनुभव को सम्बन्धित नहीं करता है। इस कारण उनका स्मरण करते समय उसके पास संस्कारो को उत्तेजित करनेवाले सम्बन्धो का अभाव रहता है। बालक के मन मे पड़ा हुआ प्रत्येक संस्कार सक्रिय होता है। उसके मन मे जब अनेक संस्कार बैठ जाते हैं तभी नये और पुराने संस्कारो मे सम्बन्ध जुड़ने का कार्य्य आरम्भ हो सकता है। जो संस्कार बालक के मन पर पड़ते हैं, उनके कारण उसकी पदार्थ को पहचानने की शक्ति अवश्य बढ़ती हैं, किन्तु वे संस्कार पुराने अनुभव के स्मरण मे सहायता नहीं देते।

बालक अपने पुराने अनुभवों के बारे मे बहुत कम चिन्तन करता है। हमारी मानसिक शक्तियाँ अभ्यास से बढ़ती है। बालक को अपनी स्मरणशक्ति से अधिक काम नहीं लेना पड़ता है। वह या तो प्रत्यक्ष या कल्पना के जगत् मे रहता है। उसे स्मरण करने का अभ्यास कम होता है अतएव जब उसे किसी बात का स्मरण करना पड़ता है तो वह अनेक प्रकार की भूलें करता है, अथवा उसे कुछ याद ही नहीं रहता।

बालको के स्मरण मे भूलें करने का सबसे महत्त्व का कारण उनका समय-ज्ञान का अभाव है। चार वर्ष तक के बालक को कल से पहले का समय-ज्ञान नहीं रहता। जब उससे किसी अतीत घटना के विषय मे पूछा जाता है तो वह दो विभिन्न कालो मे हुई घटनाओ मे से एक का गुण दूसरे मे आरोपित कर देता है।

मान लीजिए, बालक ने दो नये व्यक्तियो को देखा, एक को दो दिन पहले और दूसरे को तीन दिन पहले। एक लाल कोट पहने था और दूसरा नीला। अब यदि बालक से पूछा जाय कि कौन व्यक्ति कैसा कोट पहने हुए था तो सम्भव है वह लाल कोटवाले व्यक्ति को नीले कोटवाला बतावे और नीले कोटवाले को लाल कोटवाला। बालक इस प्रकार के कथन में झूठ नहीं बोलता है। अपनी समझ मे वह जो कुछ कह रहा है, सच कह रहा है। जब बालक अपनी स्मृति मे इस प्रकार की भूलें करता है तो हमे इस बात का विचार अवश्य करना चाहिये कि

जिस घटना के बारे में उससे पूछ रहे हैं उसके और आज के बीच दूसरे अनेक संस्कार किस प्रकार के हुए हैं।

बालक की भूलों का कारण उसकी इच्छा और कल्पना भी है। उसकी कल्पनाशक्ति प्रबल होती है अतएव वह जो कुछ चाहता है उसे ही पुरानी घटना मे घटित देखने लगता है। बालक को भ्रम में बड़ी सरलता से डाल दिया जा सकता है। उसका निश्चय दृढ़ नहीं होता। यदि उससे कोई व्यक्ति निर्देशात्मक प्रश्न पूछे तो वह सरलता से भ्रम में पड़ जायगा। बालक से पिछली घटनाओं के विषय में ऐसे प्रश्न पूछना जो उसके मन मे झूठी बातें ले आते है उससे भूलें कराना है।

बालक जब किसी घटना के विषय मे अपने आप कहते है तो वे प्रश्न किये जाने की अपेक्षा अधिक कम भूलें करते है। बालकों में देर तक प्रश्नो की बौछार सहने की शक्ति नहीं होती। अतएव जब बालकों से प्रश्न पर प्रश्न पूछे जाते है तो उनसे अधिक भूलें होती हैं।

भूल सम्बन्धी प्रयोग

बालक की भूलों की जॉच प्रत्येक माता-पिता कर सकता है। इस जाँच के द्वारा अभिभावकगण बालक की स्मरणशक्ति के विषय में बहुत सी महत्त्व की बातें जान सकते हैं। यह जाँच दो प्रकार से की जाती है। एक तो किसी अतीत घटना का वर्णन कराने तथा उसके विषय में प्रश्न करके, दूसरे चित्र के द्वारा उनकी स्मरणशक्ति का निरीक्षण करके।

अतीत घटना द्वारा जाँच—बालक ने कल क्या क्या खाया था, इस विषय में हम उससे प्रश्न कर सकते है। प्रश्न पूछने पर बालक बहुत सी बातो का नाम लेगा। अब यदि हम कहे कि तुमने हलुवा भी खाया था, तो उसने चाहे हलुवा न खाया हो या

चाहे एक दिन पहले हलुवा खाया हो; वह कह देगा कि हलुवा भी खाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि बालक हलुवा खाने की इच्छा रखता है। दूसरे हमारा प्रश्न उससे हलुवा के बारे में विचार करने को निर्देश कर देता है। इसी तरह बालक अतीत काल के विषय मे और भी दूसरी भूलें किया करता है। उसको स्थान का भी भ्रम होता है। जो वस्तु एक स्थान मे हो, उसे बालक उसके बदले दूसरे स्थान में बता सकता है। एक बालक ने एक चित्र बहुत दिनो तक एक कमरे में टॅगा देखा था। उस चित्र को उस कमरे से १० दिन पहले हटा लिया गया था और तब बातचीत मे बालक से चित्र का स्थान पूछा गया तो उसने चित्र का कमरा वही पुराना स्थान बतलाया। कई दिनो के पड़े हुए संस्कार को उसके मस्तिष्क से निकलने में देर लगती है। अभ्यास के कारण बालक के मन में चित्र का सम्बन्ध पुराने कमरे से ही बना रहा।

चित्र द्वारा बालक की स्मरणशक्ति की जाँच—बालक की स्मरणशक्ति की जाँच चित्र द्वारा भली भाँति की जा सकती है। बालक को कोई चित्र दिखाया जाय और फिर उसको हटाकर उससे वर्णन करने को कहा जाय। इसके बाद उस चित्र पर उससे प्रश्न किये जायँ। अब हमें बालक की स्वतन्त्र वर्णन की शक्ति और प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर देने की शक्ति की तुलना करनी चाहिये। इस प्रकार उसकी स्मरणशक्ति या भूलों का पता चलेगा।

विलियम स्टर्न महाशय ने एक चित्र के ऊपर निम्नलिखित प्रयोग अपनी बालिका 'आइभा' के ऊपर किया था जिसकी उम्र दो साल ११ महीने की थी। उसे एक चित्र दिखाया गया था, जिसमे उसका भाई गन्थूर भोजन कर रहा था, उसकी नौकरानी थैला लिये खड़ी थी और कुछ अन्य चीजें भी रक्खी हुई थीं। उससे कहा गया कि इस चित्र का वर्णन करो और फिर उसके सम्बन्ध में प्रश्न किया गया। चित्र को दो मिनट देखकर जो परिणाम निकला उसे यहाँ दिया जाता है।

स्वतन्त्र वर्णन	प्रश्नोत्तर से परीक्षा	
	प्रश्न	उत्तर
गन्थूर रोटी खा रहा है और यहाँ टानी है, दाई है, फूल है।	१—यह स्त्री बैठी है या खड़ी है?	खड़ी है। गन्थूर बैठा है।
और यह क्या है?	२—क्या वह चोगा पहने है?	चोंगा उसके आस-पास बँधा है।
यह आलमारी है और वह कमरा है। (दरवाज़े की तरफ बताकर)	३—उसका रग कैसा है?	हरा।
तुम किसमें जाती हो, और यह रसोईघर है।	४—उसके हाथ मे क्या है?	मै नही जानती जब तक तुम नही कहोगे।
यह गन्थूर क्या खा रहा है?	५—क्या तुम टेबुल को देख सकती हो?	हाँ।
रोटी खा रहा है।	६—टेबुल के ऊपर क्या रक्खा है?	रोटी।
	७—और क्या है?	कुछ नही।
	८—क्या उसके ऊपर मक्खन भी रक्खा है?	नहीं।
	९—क्या उस स्त्री के हाथ में चाकू है?	नहीं।

इस प्रयोग में यह भी देखा गया कि बालिका से चित्र देखने के बाद तुरन्त ही जो प्रश्न पूछे गये थे उनमें उसने ३५ उत्तर दिये, जिनमें ५ ग़लत निकले। तीन दिन बीतने के बाद उसने जो जवाब दिये उनमें ३७ में से ८ ग़लत निकले। इससे यह पता चलता है कि इस बालिका की स्मरणशक्ति बहुत अच्छी है। दूसरे, हम देखते हैं कि तीन साल का बालक अपने आप बहुत थोड़ी ही बातें याद कर सकता है। किन्तु वह चित्र सम्बन्धी बहुत से प्रश्नों के उत्तर दे सकता है। बालक से

समय के बीतने पर भूलें होती हैं। इसका कारण यह है कि बीच के समय में वह दूसरे चित्रों को भी देखता है और उन चित्रों के संस्कार उसको भ्रम में डालने लगते है। 'आइभा' से पूछा गया कि दाई क्या कर रही है? उसने जवाब दिया कि 'शोरवा बना रही है।' इस गलत जवाब का कारण दूसरे चित्र के संस्कार थे।

यह बालिका निर्देश द्वारा सरलता से प्रभावित नहीं होती है। उससे दो-तीन प्रश्न ऐसे किये गये थे जिनका वह ग़लत उत्तर दे सकती थी; जैसे कि "क्या लड़का नगे पैर नही था?" "क्या टेबुल के ऊपर मक्खन नहीं रक्खा था?" उसका जवाब बालिका ने "नहीं नहीं" दिया। बालिका ने अपनी स्मृति पर ही विश्वास किया। यह उसके व्यक्तित्व को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार हम परीक्षा के द्वारा ही बालक की जाँच भली भाँति कर सकते है।

यही चित्र फिर उसके भाई गन्थूर को, जो उससे अवस्था में ढाई साल अधिक था, दिखाया गया और उसकी उसी प्रकार परीक्षा ली गई। इस परीक्षा से यह पता चला कि उसके बयान प्रायः आइभा के दुगुने थे। सबसे बड़ी महत्त्व की बात यह है कि उसने अपने आप जो बयान दिया, उसकी संख्या प्रश्न के उत्तरों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। आइभा ने अपने उत्तरो में प्रायः वस्तुओं के ही नाम रक्खे थे, किन्तु गन्थूर ने अपने वर्णन मे क्रिया को भी बताया। उसे दूसरा चित्र एक हफ्ते बाद दिखाया गया तो पहली बार की अपेक्षा दूसरी बार उसकी स्मृति खराब नही पाई गई। आइभा की अपेक्षा गन्थूर की भूलें अधिक थीं। देखा गया कि गन्थूर निर्देशात्मक प्रश्नो का उत्तर ग़लत देता है।

इस परीक्षा के बाद बालक को गलती जानने के लिए चित्र दिया गया। इसमे देखा गया कि बालक बिना दूसरे की सहायता के अवस्था के अनुसार अपनी गलती ढूँढ़ने मे अधिक समर्थ होता है अर्थात् उसमे अपने को सुधारने की शक्ति बढ़ जाती है। गन्थूर के तथा दो-एक और बालको के प्रयोगो से पता चला है कि

चार या पाँच वर्ष के बालक में अपने को सुधारने की शक्ति पैदा हो जाती है। वे अपने आप कहने लगते हैं कि मैंने अमुक बात में ग़लती की है। इस प्रकार बालकों द्वारा उनकी ग़लती का पता लगवाना बहुत ही लाभदायक है। जिस बालक को इस प्रकार का अभ्यास हो जाता है, वह वस्तुओं को भली भाँति देखता है और भूलो की संख्या भी कम कर देता है। धीरे धीरे उसकी ग़लत उत्तर देने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। बालको के चित्र के वर्णन करने के विषय में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि भिन्न भिन्न प्रकार के बालकों की कल्पनाशक्ति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। जिन बालकों की दृष्टि-कल्पना दूसरो से कम होती है, वे बहुत सी देखी हुई बातों को भूल जाते हैं। इसी तरह हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि बालकों को रंग का ज्ञान ठीक नहीं होता। अतएव रंग के विषय में वे अनेक भूलें करते है। कितने ही बालक रंग के विषय में अन्धे होते है। उनसे रंग के विषय में ग़लती होना स्वाभाविक ही है।

जिस प्रकार कुछ मिनट तक देखे हुए चित्र के बारे में स्मरण सम्बन्धी प्रयोग किया जा सकता है उसी तरह बहुत देर तक देखे हुए चित्र के विषय में प्रयोग किया जा सकता है। ऐसा प्रयोग चित्र को हटाकर हम तुरन्त कर सकते हैं अथवा कई दिनों के बाद कर सकते है। ऐसे प्रयोगों से पता चला है कि बालक के अधिक देर तक देखे चित्र के स्मरण और थोड़ी देर तक देखे चित्र के स्मरण मे प्राय बराबर भूलें होती हैं। अर्थात् बालक जितनी ग़लती किसी चीज़ को थोड़ी देर तक देखकर कहने मे करता है प्रायः उतनी ही वह बहुत देर तक देखकर कहने मे करता है। इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि वास्तव मे बालक बहुत देर तक अपने सामने रहनेवाली चीज़ो को भली भाँति देखता ही नहीं। जब तक बालक को निरीक्षण करने के लिए विशेष रूप से उत्तेजित न किया जाय तब तक वह किसी वस्तु को भली भाँति ध्यान देकर नहीं देखता इसी लिए उनके विषय में प्रश्नों के उत्तर देने में उससे भूलें होती हैं।

इच्छित भूल

आधुनिक मनो-विश्लेषण-विज्ञान ने मनुष्य की भूलों के विषय मे एक नया प्रकाश डाला है। किसी बात को साधारणतः मनुष्य की स्मृति इसलिए ही विस्मृत कर देती कि उसके संस्कार दृढ़ नही थे अथवा उसमे मनुष्य की रुचि नहीं थी; किन्तु कितनी ही बातो के भूलने का कारण मनुष्य की भूल जाने की अव्यक्त या अदृश्य इच्छा होती है। हम देखते हैं कि दूसरो से ली हुई चीज़ो को प्रायः सभी लोग भूल जाते हैं किन्तु अपनी उधार दी हुई चीज़े नही भूलतीं। मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति को स्मरण रहता है कि उसने किसको कितने रुपये दिये हैं। जो रुपये उसे दूसरों से वापस मिले हैं, उनका उसे स्मरण नहीं रहता। दूसरो की पुस्तकें लौटाने की याद न रहना हमारे अनुभव की साधारण सी बात है। इन भूलो का कारण पुराने संस्कारो का मिट जाना नहीं है। वरन् अदृश्य मन की इच्छा है इन भूलो को प्रयत्नात्मक अथवा इच्छित भूल कहा जाता है। जिस व्यक्ति को हम पत्रोत्तर नहीं देना चाहते उसको पत्र लिखना ही हम भूल जाते हैं। जिस सभा मे हम नहीं जाना चाहते उसका समय ही भूल जाते हैं। जब सभा का समय ख़तम हो जाता है तब हमें याद आता है कि हमे किसी विशेष अधिवेशन मे जाना था। दूसरो के दिये हुए जिस काम को हम भार समझते हैं, उसे हम करना भूल जाते हैं। कोई मनुष्य जिस व्यक्ति से द्वेष रखता है उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना भी वह भूल जाता है। ऐसी भूलें मनुष्य की आन्तरिक इच्छा की परिचायक है*।

---

* इस सम्बन्ध में ए० जी० टेन्सले का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

'The mechanism of repression involves the cutting off of the obnoxious complex from the rest of the mind, so that it no longer has normal access to consciousness and the conflict is automatically brought to an end The process of repression is in itself in most cases unconscious—the mental elements of the complex are simply forgotten—but the forgetting may sometimes follow a deliberate

निम्नलिखित इच्छित भूल का उदाहरण फ्राइड ने अपनी पुस्तक साईकोपैथालाजी आफ एव्रीडे लाइफ मे दिया है—

एक व्यक्ति का विवाह एक ऐसी महिला से हो गया था जिसके प्रति उसका कोई विशेष आकर्षण न था। वह स्त्री कर्तव्यपरायण थी, अतएव उस मनुष्य की नैतिक बुद्धि भी उसे पत्नी के प्रति कर्तव्य-पालन करने के लिए बाध्य करती थो। ऐसी परिस्थिति मे मनुष्य के व्यक्त और अव्यक्त मन में सदा अन्तर्द्वंद्व बना रहता था अतएव उस मनुष्य के द्वारा विचित्र प्रकार की भूलें होती थीं। एक बार उस स्त्री ने अपने पति को प्रसन्न करने के लिए एक सुन्दर पुस्तक ख़रीदी और पति को दे दी। पति के लिए पुस्तक थी तो रुचिकर किन्तु उसका अव्यक्त मन ऐसी किसी बात को स्मरण नहीं रखना चाहता था, जो पत्नी के प्रेम की परिचायक हो। उस मनुष्य ने वह पुस्तक किसी जगह रख दी और उस स्थान को भूल गया। बार बार ढूँढ़ने पर भी वह पुस्तक उसे नहीं मिलती थी।

एक बार इस व्यक्ति की माँ बीमार हुई। उसकी पत्नी ने माँ की सेवा बड़ी लगन के साथ की। यह देखकर पति का हृदय द्रवित हो गया; अपनी स्त्री के प्रति उसके हृदय में प्रेम का संचार हो गया। ऐसा होते ही खोई हुई पुस्तक का स्थान एकाएक याद आ गया और पुस्तक मिल गई। वास्तव में पुस्तक उसकी टेबुल की ड्राअर मे ही रक्खी थी, पर खोजते समय वह सब स्थानों को तो देखता था, किन्तु जहाँ पुस्तक रक्खी हुई थी उसे ही देखना भूल जाता था।

मन की किसी ग्रन्थि के कारण मनुष्य अनेक प्रकार की विचित्र भूले करता है। वह कुछ का कुछ

---

effort to banish the complex from the mind. The repressed complex is not destroyed, as is clearly shown by its subsequent vitality. It is not allowed to manifest itself directly in consciousness, it is dissociated from the rest of the mind, but may find its expression in indirect, symbolic, and often curiously distorted forms.'

—*New Psychology and its Relation to Life, P. [illegible]9.*

कह देता और कुछ का कुछ लिख देता है। टेन्सले महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण बड़ा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है।

एक शिक्षक एक लड़के के प्रति द्वेष-भाव रखता था। जब परीक्षा का समय आया तो यह शिक्षक परीक्षक नियुक्त हुआ। परीक्षा के विषयो मे बालक की योग्यता अच्छी थी, इससे परीक्षक के दूसरे साथियो की सम्मति थी कि वह बालक द्वितीय श्रेणी मे रक्खा जाय; किन्तु परीक्षक उस बालक को इतना ऊँचा स्थान नहीं देना चाहता था। उसकी आन्तरिक इच्छा बालक को अनुत्तीर्ण करने अथवा तृतीय श्रेणी मे रखने की थी, पर उसका कुछ वश न चला; उसे अपने साथिया की बात माननी ही पड़ी। पर जब परीक्षक परीक्षाफल लिखने लगा तो उसकी आँखो के सामने अन्धकार छा गया और उस लड़के के नाम के सामने उसने द्वितीय श्रेणी की जगह तृतीय श्रेणी लिख दिया।

एक बार आस्ट्रिया देश की व्यवस्थापिका सभा का सभापति जब उस सभा का उद्घाटन कर रहा था तो उसने अपने भाषण के अन्त मे कह दिया—"मै अब सभा को विसर्जित करता हूँ"। वास्तव मे उसे कहना यह चाहिये था कि "मै अब सभा का उद्घाटन करता हूँ।" बात यह है कि सभापति सभा का उद्घाटन हृदय से नहीं चाहता था।

बालकों की इच्छित भूल[1] के कारण

बालको द्वारा भी इस प्रकार की अनेक भूले होती हैं। जब शिक्षकगण देखें कि बालक किसी विषय की नोट-बुक लाना भूल गया तो उन्हे इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि सम्भव है, बालक को जो काम दिया गया है उसे उसने न किया हो अथवा वह कार्य उसे अरुचिकर हो। जब बार बार किसी विषय के बारे मे बालक भूलें करता है तो हमें

---

1 Active forgetting

समझना चाहिये कि बालक को वह विषय अच्छा नहीं लगता। यदि हम बालक को उसकी इच्छा के विरुद्ध काम करने को दें तो उसे भूल जाना उसके लिए स्वाभाविक ही है।

एक बार लेखक ने एक बालक को किसी विशेष व्यक्ति के बुलाने के लिए भेजा। उस व्यक्ति का नाम उसे भली भाँति याद करा दिया गया किन्तु उस व्यक्ति को बुलाने जाना उसकी इच्छा के प्रतिकूल था। जब बालक उस बताये हुए स्थान पर गया तो उस आदमी का नाम ही भूल गया। घर लौटते समय उसे नाम स्मरण आया। वह फिर से उस व्यक्ति को बुलाने के लिए गया, किन्तु अब वह उस स्थान पर था ही नहीं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि इच्छा के विरुद्ध बालकों से कोई काम कराना उनकी शक्ति का अपव्यय कराना है। बालक को जो पाठ ज़बरदस्ती पढ़ाया जाता है उसे बालक एक बार याद करके भी भूल जाता है। हम पहले भी कह चुके हैं कि 'डिटेन्शन क्लास' में याद की हुई कविता अरोचक मनोवृत्ति से सम्बन्धित हो जाने के कारण बालक को याद नहीं होती।

स्मरणशक्ति संवेगों से कितनी प्रभावित होती है, इसका दृष्टान्त हम बालक के किसी विशेष विषय के भूल जाने में देखते हैं। यदि किसी विषय को कोई ऐसा शिक्षक पढ़ाता है जिसके प्रति बालक के अनुदार भाव हों अथवा जिससे बालक डरता हो तो बालक उस विषय की पढ़ाई जल्दी ही भूल जाता है। प्रिय शिक्षकों की पढ़ाई जितनी लाभकर होती है उतनी अप्रिय शिक्षकों की नहीं होती। शिक्षक के प्रति बालक के भाव पढ़ाये जानेवाले विषय से सम्बन्धित हो जाते हैं; यदि कोई व्यक्ति अप्रिय है तो उसके द्वारा पढ़ाये जानेवाला विषय भी अप्रिय हो जाता है फिर ऐसे विषय को भूल जाना स्वाभाविक ही है।

फ़िस्टर महाशय ने एक ऐसे बालक का उदाहरण दिया है, जो गणित में तो बहुत ही कमज़ोर था पर भाषा याद करने में बड़ा प्रवीण था। शिक्षकों और अभिभावकों के लाख प्रयत्न करने पर भी यह गणित नहीं सीख पाता था। यह बालक दूसरे बालकों से सामान्यतः मन्द-बुद्धि न था, किन्तु इसे एक दो विषय याद नहीं

होता था। बालक मे यह विचित्रता देखकर उसे मनोवैज्ञानिक के पास मनोविश्लेषण के लिए भेजा गया। बालक के अदृश्य मन के अध्ययन से पता चला कि उसके मन मे गणित के प्रति द्वेष की भावना-ग्रन्थि थी। इस ग्रन्थि का कारण उसके पिता का उसके प्रति दुर्व्यवहार था। बालक के पिता को गणित जानने का अभिमान था और पहले-पहल उसके पिता ने ही उसे गणित सिखाया था। जब बालक गणित मे कोई गलती करता तो उसके लिए उसे डाँट-फटकार मिलती थी। बालक का पिता के प्रति पहले से ही सद्भाव न था, अतएव पिता के द्वारा गणित सीखने और गणित सीखने मे डाँट-फटकार पड़ने से पढ़ाई के विषय मे भी उसकी द्वेष-भावना आ जमी। बालक को भाषा की शिक्षा उसकी माँ देती थी। बालक माँ को प्यार करता था। अतएव भाषा का सीखना माँ के प्रेम से सम्बद्ध होकर प्रिय हो गया। यही कारण है कि यह बालक भाषा सीखने मे अधिक उन्नति करता था और गणित पढ़ने मे पिछड़ता जाता था।

यहाँ लेखक को अपने जीवन की कुछ अनुभूतियाँ स्मरण आती है। लेखक अँगरेज़ी भाषा की व्युत्पत्ति मे आज दिन तक कमज़ोर है पर अँगरेज़ी के व्याकरण मे उसे उतनी ही रुचि है। सम्भव है कि इस प्रकार की कमज़ोरी तथा रुचि का कारण अदृश्य मन की भावना-ग्रन्थि ही रही हो। अँगरेज़ी भाषा सीखने की प्रारम्भिक अवस्था मे व्युत्पत्ति भूलने से मार पड़ा करती थी। एक गलती के कारण एक बेंत की सज़ा निश्चित थी, पर उस भाषा के व्याकरण मे प्रारम्भिक क्लास के शिक्षक की कुशलता के कारण रुचि हो गई थी। यही रुचि आज तक व्याकरण याद करने मे सहायता देती है।

लेखक के एक परिचित व्यक्ति ऐसे है, जिन्हे अपने एक पुत्र के प्रति बचपन से ही यह धारणा थी कि वह मन्द-बुद्धि है। लेखक ने इस बालक को भाषा पढ़ाई। इसमें उसको मन्द-बुद्धि न पाया। बालक के पिता स्वयं उसे गणित पढ़ाते थे, जिसके कि वे विशेषज्ञ हैं। गणित पढ़ाने के पहले

से ही बालक के प्रति पिता का प्रोत्साहन का भाव न था। जब बालक गणित पढ़ने मे पिछड़ने लगा, तब पिता को निश्चय हो गया कि यह मन्द-बुद्धि है। जब कभी बालक किसी प्रश्न को हल करने मे असमर्थ होता तो उसे पिता से बड़ी डाँट-फटकार मिला करती। परिणाम-स्वरूप बालक को गणित से ही नहीं, किन्तु दूसरे विषयो की पढ़ाई से, तथा घर मे रहने से भी घृणा हो गई। किन्तु बेचारा पढ़ाई और घर छोड़कर जाय कहाँ? इस प्रकार के प्रतिकूल वातावरण मे रहने के कारण बालक वास्तव मे कुछ मन्दबुद्धि-सा हो गया। फिर उसके अव्यक्त मन की जो इच्छा थी वह पूरी हो गई। उसकी कालेज की पढ़ाई छूट गई। वह घर से बाहर जाकर दूसरी जगह एक रोजगार सीखने लगा। घर से निकलते ही उक्त बालक की बुद्धि मे परिवर्तन हो गया। वह अब साधारण बुद्धिवाले दूसरे रोजगार सीखनेवाले व्यक्तियो से पिछड़ा नहीं है। इस समय वह अपनी जीविका स्वय उपार्जित कर लेता है और साधारण जीवन व्यतीत करता है।

उपर्युक्त उदाहरण में पिता के कारण ही बालक मे बुद्धि के दोष आये। यहाँ इस बात को कह देना आवश्यक है कि पिता का निजी जीवन असफल ही रहा। वे जितना अपने आपको प्रतिभावान् समझते थे, उस धारणा के अनुसार उनको ससार में प्रतिष्ठा का स्थान न मिला। जो व्यक्ति स्वयं असफल रहता है वह सब लोगों की सफलता के प्रति आन्तरिक

इतिहास का विषय क्यो भूल जाता है, इस पर मनोविश्लेषण ने विशेष प्रकाश डाला है। अपने जन्म के विषय मे जिस बालक को कोई सन्देहजनक भाव रहता है, उसे कुछ विशिष्ट विषयो के अध्ययन मे कठिनाई होती है। जिस व्यक्ति का जन्म किसी ऐसी घटना से सम्बन्धित रहता है जिसे सोचने में उसे आन्तरिक वेदना होती है, वह अपनी जन्म सम्बन्धी सभी बातो को भुला देना चाहता है। किन्तु इस प्रकार के भुलाने के प्रयत्न से उसके दु:खदायी भाव नष्ट नहीं होते; वे भावना-ग्रन्थि का रूप धारण कर लेते हैं। इस भावना-ग्रन्थि के कारण ऐसा व्यक्ति उन सभी विषयों से घृणा करने लगता है जो किसी प्रकार से जन्म की बातें करते हैं। इतिहास मे मनुष्यजाति के जन्म तथा उसकी वृद्धि का वृत्तान्त रहता है, इससे इस विषय को पढ़ने मे ऐसे व्यक्ति को कठिनाई होती है।

देखा गया है कि भारतवर्ष के स्कूलो मे पढ़नेवाले सभी बालको को इतिहास का विषय उतना प्रिय नहीं है जितना कि दूसरे विषय। आज से बीस वर्ष पूर्व का इलाहाबाद विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा का फल देखा जाय तो ज्ञात होगा कि परीक्षा के कठिन से कठिन विषय मे जितने लड़के अनुत्तीर्ण होते थे, उतने ही प्रायः इतिहास मे होते थे। इसका एक कारण यह अवश्य था कि परीक्षार्थियों को अगरेजी भाषा मे इतिहास के प्रश्नो का उत्तर देना पड़ता था। किन्तु इसका कारण इतना ही नहीं हो सकता। इतिहास का विषय भी बालको को उतनी अच्छी तरह से याद नहीं रहता था, जैसे कि दूसरे विषय याद रहते थे। क्या इसका कारण बालको के अदृश्य मन मे स्थित कोई भावना-ग्रन्थि नही है?

तत्त्ववेत्ता शोपेनहावर का कथन है कि हम अपनी बुद्धि से वैसे काम कराने मे समर्थ कदापि न होगे जो हमारी आन्तरिक इच्छा के प्रतिकूल हैं। साधारणत: बुद्धि वही करती है जो इच्छा-शक्ति चाहती है। जब बुद्धि की क्रियाएँ इच्छाशक्ति के प्रतिकूल होती हैं, तो व्यक्तित्व मे सघर्ष उपस्थित हो जाता है। किसी मनुष्य के व्यक्तित्व मे इस प्रकार के संघर्ष का अधिक

देर तक चलने का निश्चित परिणाम विक्षिप्तता होता है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य स्वस्थ अवस्था में अपने जीवन की उन घटनाओ का स्मरण न रख सकेगा जो उसके लिए लज्जा-जनक हैं और जिनकी याद उसे दुःखप्रद है। इसके प्रतिकूल जो घटनाएँ उसके गौरव को बढ़ानेवाली है तथा जिनकी स्मृति उसके मन को प्रफुल्लित कर देती है, उन्हे वह भले प्रकार से स्मरण रक्खेगा। अर्थात् मनुष्य की बुद्धि घटनाओ को स्मरण रखने में उसकी आन्तरिक इच्छाओ की ही पूर्ति करती है।

अब हम यदि इस सिद्धान्त को भारतवर्ष के विद्यार्थियों के इतिहास-स्मरण करने में लागू करे तो क्या हम यह नहीं देखते कि जिस इतिहास को हम पढ़ते है वह हमारे गौरव को बढ़ाने-वाला न होकर मन मे आत्म-ग्लानि और दुःख को उत्पन्न करता है? यदि विदेशियो द्वारा लिखे गये भारतवर्ष के इतिहास की तुलना हम दूसरे देश-वासियो द्वारा लिखे गये उनके देश के इतिहासो से करें तो हम यह भली भाँति देख लेगे कि हमारे वालकों का इतिहास के स्मरण न रख सकने का क्या कारण है। जब कोई देश-भक्त अपने देश का इतिहास लिखता है तो उसका हृदय उस इतिहास के लिखते समय प्रेम के भावो से रञ्जित हो जाता है। वह अपनी जाति के सद्गुणों को पाठको के समक्ष रखता है, जिससे उस जाति के प्रति उनका प्रेम दृढ़ हो जाता है। वास्तव मे जिस प्रकार की 'वैज्ञानिक दृष्टि' विदेशी इतिहासकार भारतवर्ष का इतिहास लिखने में रखते हैं, विरला ही इतिहासलेखक अपने देश का इतिहास लिखने मे रखता होगा। एक देश-भक्त इतिहासकार अपनी जाति तथा देश का इतिहास लिखकर देश और जाति के प्रति प्रेमोद्गार उभाड़ता है और इस प्रकार उस देश के वालकों मे देशभक्ति तथा जाति-भक्ति के भाव भरता है। विदेशी इतिहासकार की वैसी सद्भावना हमारे देश के प्रति कदापि नहीं हो सकती जैसी कि एक देश-भक्त इतिहासकार की हो सकती है। वे जाने-अनजाने अपमानसूचक शब्द हमारे प्रतिष्ठित पूर्वजो के सम्बन्ध में कह देते हैं। हमारे सम्मानित देश-भक्त और हिन्दू-संस्कृति-

रक्षक शिवाजी महाराज को कुछ इतिहासकारों ने 'राबर चीफ्टेन' (डाकुओं का सरदार) की उपाधि दी है। जिन भारतीय बालकों के हृदय में किंचित् भी देश-भक्ति होगी वे भला इस प्रकार के कड़ुवे घूँट कैसे पी सकेंगे? फिर जिन लोगों के हाथ से हमारे पूर्वज अपमानित हुए, उनके गुणों की वार्ता हमारे बालकों को स्मरण करनी पड़ती है। ऐसे कार्य बुद्धि कैसे कर सकती है?

यदि हम चाहते हैं कि बालक अपने देश के इतिहास को पढ़ने में सुयोग्य बनें तो हमें उस इतिहास को भी सुधारना चाहिये। यह हमारे सौभाग्य की बात है कि वर्तमान काल में ऐसे अनेक भारतीय इतिहासकार कार्य कर रहे हैं जिनके हृदय मे देश-भक्ति के भाव हैं, और जो पुरानी संस्कृति को श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। उन्हें यह विश्वास है कि भारत का भविष्य उज्ज्वल है। उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ अवश्य है किन्तु ये बाधाएँ धीरे धीरे दूर हो रही है। इन बाधाओं के हटते ही इतिहास का विषय बालकों के लिए रोचक हो जायगा।

सोलहवाँ प्रकरण

कल्पना[1]

कल्पना-शक्ति का स्वरूप

कल्पना उस मानसिक शक्ति का नाम है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये अनुभव का ज्ञान हमें उस अनुभव की अनुपस्थिति में होता है। विलियम जेम्स के अनुसार जब हमें कोई भी इन्द्रिय-ज्ञान होता है तो हमारे मस्तिष्क के स्नायु इस प्रकार प्रभावित हो जाते है कि बाह्य पदार्थ के अभाव में हम उस पदार्थ का चित्र देखने लगते हैं। हम अपने संस्कारों के आधार पर ही पुराने अनुभव को मानस-पटल पर चित्रित कर सकते हैं।*

काल्पनिक पदार्थ कई प्रकार के होते हैं। जिस इन्द्रिय द्वारा किसी प्रत्यक्ष-ज्ञान का अनुभव होता है, उसी इन्द्रिय-ज्ञान से सम्बन्धित कल्पना-पदार्थ भी होता है। किन्तु साधारणतः हमारी कल्पना में अनेक इन्द्रिय-ज्ञान का सम्मिश्रण होता है। जो हम देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श करते हैं और सूँघते हैं, अथवा जो ज्ञान हम किसी पदार्थ को इधर-उधर हिला-डुलाकर, उठाकर या छूकर प्राप्त करते है वह सब ज्ञान एक दूसरे में सम्मिश्रित होकर ही पदार्थज्ञान होता है। हम जब इस प्रकार के पदार्थ-ज्ञान की कल्पना करते हैं तो उस कल्पना में सब प्रकार का ज्ञान सम्मिश्रित रहता है; किन्तु किसी

विशेष प्रकार के ज्ञान की प्रधानता रहती है। कभी कभी यह भी होता है कि हमें किसी विशेष पदार्थ की एक प्रकार की कल्पना तो हो और दूसरे प्रकार की न हो। यदि हमारी किसी इन्द्रिय में दोष हो तो हम उस इन्द्रिय के द्वारा होनेवाले पदार्थ-ज्ञान की कल्पना न कर सकेंगे। अन्धे को किसी पदार्थ के रूप-रंग की कल्पना तथा बहरे को शब्द की कल्पना नहीं हो सकती।

मनोविकास में कल्पना का महत्त्व

प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक विकास के लिए कल्पना की वृद्धि होना आवश्यक है। मनुष्यों और पशुओं में एक मुख्य भेद यह है कि पशुओं में कल्पनाशक्ति का अभाव होता है। पशु अपने भूतकाल के अनुभवों को थोड़ा बहुत अवश्य अपने मानस-पट पर चित्रित कर सकते हैं किन्तु उनका चित्रण अस्पष्ट होता है। इस कारण उनके जीवन में इस कल्पना का अधिक उपयोग नहीं होता। पशु भविष्य में होनेवाली घटनाओं के विषय में कुछ सोच ही नहीं सकता। भावी घटनाओं के बारे में सोचने के लिए कल्पनाशक्ति की अभिवृद्धि की आवश्यकता होती है। जो अपने पुराने अनुभवों का भली भाँति उपयोग करना चाहता है उसे मानसपटल पर चित्रण करना पड़ता है तभी वह उन अनुभवों के आधार पर नई सृष्टि कर सकता है।

मनुष्य की कल्पनाशक्ति उसको नई बात के सीखने में अधिक सहायता देती है। पशुओं का सीखना प्रयत्न और भूल के तरीक़ों से ही होता है। पशु को यदि किसी नई परिस्थिति में रक्खा जाय तो वह यह नहीं विचार कर सकता कि उसे क्या करना चाहिये। वह जब तक एक अन्धे के समान टटोल टटोल-कर अपना मार्ग नहीं खोज लेता तब तक उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। किन्तु मनुष्य अपनी कल्पना के आधार पर किसी क्रिया के भावी परिणामों को चित्रित कर लेता है। इस तरह जिन क्रियाओं के परिणाम उसे हानिकर प्रतीत होते हैं, उन्हें करना वह छोड़ देता

है। मनुष्य प्रयत्न और भूलों के तरीक़ों से ही नहीं सीखता किन्तु विचार और कल्पना के द्वारा भी काम करना सीखता है और इन्हीं के आधार पर उसे अधिक सफलताएँ प्राप्त होती है। कल्पना के आधार पर मनुष्य वर्षों के बाद होनेवाली भावी घटनाओ का निश्चय कर लेता है। इंजिनियर बड़े बड़े मकान बनाने के पहले उन्हे अपनी कल्पना मे बनाता है। सामाजिक और राजनैतिक नेता कार्य्य के सुदूर भावी परिणाम को पहले से ही चित्रित कर लेते है। वास्तव मे तीव्र कल्पनावाले राजनैतिक एव सामाजिक नेता को ही हम दूरदर्शी नेता कहते हैं।

कल्पना के आधार पर ही विचारों का विकास होता है। जब बालक मे पुराने अनुभवो को कल्पना द्वारा मन मे चित्रित करने की शक्ति आ जाती है तो उसमें उस अनुभव के मर्म को समझने की शक्ति का भी विकास होता है; अर्थात् वह तर्क करने लगता है और पुराने अनुभव के आधार पर जीवन के कुछ मौलिक सिद्धान्त बनाता है। ये सिद्धान्त उसके दूसरे कार्य्यों को सफल बनाने में सहायक होते हैं।

जब हमारी चेतना का विकास होता है, तब हमारे मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ उठती रहती है। कल्पना का आधार अतीत अनुभव होता है। पर उसका लक्ष्य भविष्य की सृष्टि निर्माण करना होता है। कल्पना और स्मृति मे यह भेद है कि जहाँ स्मृति पुराने अनुभवों को ही मन मे दुहराती है, वहाँ कल्पना एक नई सृष्टि की रचना करती है।

यह रचना किस लिए होती है? यदि इस रचना का कुछ लक्ष्य न हो तो अवश्य ही वह निर्मूल होगी। पर वास्तव में हमारी मानसिक क्रियाएँ लक्ष्यहीन नहीं होती। कल्पना का लक्ष्य या तो कल्पना-जगत् की सृष्टि ही करना होता है, अथवा कल्पना में सृजन किये हुए जगत् को वास्तविकता मे परिणत करना होता है। अधिकतर हमारी कल्पना दूसरे ही प्रकार की होती है। हाँ, कुछ ऐसी कल्पनाएँ अवश्य हैं, जिनका लक्ष्य वास्तविकता में परिणत होने लायक होने पर भी उनको परिणत करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। पर इतना तो निश्चित है कि हम वास्तविक

जगत् मे ऐसी सृष्टि नहीं कर सकते है, जिसकी हमने कल्पना न की हो। श्रीमती निवेदिता का कथन है कि जिस व्यक्ति ने कल्पना मे महल नहीं बनाये, उसे वास्तविक महल की उपलब्धि कदापि नहीं हो सकती।

एक विचारवान् अँगरेज लेखक का कथन है कि वायुयान की सृष्टि हमारे स्वप्न मे उड़ने के अनुभव से हुई। जब स्वप्न में अनुभव किये हुए पदार्थों में इतनी शक्ति है कि वे वास्तविकता में अवतीर्ण हो सकते हैं, तो काल्पनिक पदार्थों के वास्तविकता में अवतीर्ण हो सकने मे सन्देह ही क्यो होना चाहिये? कल्पना की क्रियाओ का एक प्राकृतिक नियम है कि साधारणतः मनुष्य निरर्थक कल्पना नहीं करता अर्थात् उसे इस प्रकार को कल्पना नहीं आती जो कि उसकी पहुँच के बिलकुल ही बाहर हो। एक घसियारा यह नहीं कल्पना करता कि वह राजा बन जायेगा, पर जिस राजा का राज्य छीन लिया जाता है, वह अपने राज्य के वापिस पाने की कल्पना प्रतिक्षण किया करता है। जिस विद्यार्थी मे क्लास की परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होने की योग्यता नहीं होती है वह यह कल्पना नहीं करता कि मै क्लास में सर्व-प्रथम आऊँगा।

जो कल्पना बहुत ही स्पष्ट, रोचक तथा स्वभावानुकूल होती है, वह मनुष्य को तदनुकूल कार्य मे भी लगा देती है। हमारे कितने कार्य ऐसे होते है, जो विचारो की दृढ़ता के कारण अपने आप ही होने लगते है। वास्तव मे हर एक कल्पना में कार्यान्वित होने की शक्ति निहित रहती है। उसकी यह शक्ति दूसरी भावनाओ के कारण कार्यान्वित होने नहीं पाती। यदि तत्परता से कोई कल्पना हम अपने मन मे लावे, तो काला-न्तर मे देखेगे कि हम वास्तविक जगत् मे उसी प्रकार का आचरण करने लगे है। हमारी कल्पना वास्तविकता मे परिणत हो जाती है।

यदि हमको किसी मनुष्य के बारे मे जानना है कि वह भविष्य मे क्या करेगा, तो हमे उसकी कल्पना का अध्ययन करना चाहिये। हमारी कल्पना हमारे सामर्थ्य के अनुसार होती

है; यह बात ऊपर कही जा चुकी है। जैसे जैसे हमारे सामर्थ्य में विकास होता जाता है, हमारी कल्पना-शक्ति भी उसी प्रकार अनेकानेक सुयोग्य पदार्थों का निर्माण करती है। यदि किसी व्यक्ति ने किसी विशेष बात के बारे में सोचा ही नहीं है, तो वह उसे मिलेगी कैसे ?

जिस प्रकार हमारे क्रियात्मक जगत् में कल्पना का प्रमुख स्थान है, उसी प्रकार हमारे वास्तविक जगत् के ज्ञान में भी कल्पना की भारी आवश्यकता है। मनोविज्ञान का कथन है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान में नवदशांश अनुमान रहता है। हम जिन वस्तुओं को देखते है और उनके बारे में हम जो धारणा करते हैं, वह कल्पना के आधार पर ही। जिस तरह वर्तमानकाल का ज्ञान भूत और भविष्यत् के आधार पर होता है, उसी प्रकार हमारा प्रत्यक्ष-ज्ञान हमारी स्मृति और कल्पना के द्वारा ही होता है। अतएव इस कथन में भारी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम वस्तुओं को वैसी नहीं देखते हैं जैसी वे है, वरन् जैसे हम है। हमारे काल्पनिक जगत् और वास्तविक जगत् में इतना सम्मिश्रण हो जाता है कि कल्पना के भाग को वास्तविक अनुभव से पृथक् करना साधारण मनुष्य के लिए असम्भव है।

जिन व्यक्तियों की कल्पना-शक्ति प्रबल नहीं होती, वे वास्तविक जगत् का ज्ञान भली भाँति नहीं प्राप्त कर सकते। हम सभी संसार को देखते है। क्या हमने संसार को उतना देखा है जितना कि कालिदास, तुलसीदास अथवा वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने देखा था ? उनकी कल्पना ने ही संसार को एक विशेष प्रकार का स्वरूप दिया है। ससार के कवि और साहित्यिक ही हमें वास्तविक जगत् का दर्शन कराते हैं। जिन पाठकों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संसार के उपन्यासों को पढ़ा है, वे इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचेंगे कि उपन्यासकार हमें संसार से जितना परिचित कराता है इतना परिचय स्वतंत्र बुद्धि से प्राप्त करना असम्भव है। हमारी देखी हुई कितनी ही चीजें अनदेखी रह जाती है। दूसरे अनेक चीजो पर दृष्टिपात करने का अवकाश भी हमें कम रहता है।

लोगों का कथन है कि उपन्यासकार वास्तविक जगत् से अपने पात्रों का चित्रण करता है। जिसे वास्तविकता का परिचय नहीं, वह उपन्यासकार की कृति का महत्त्व भली भाँति नहीं समझ सकता। पर सच तो यह है कि हममें से अनेक लोगों को वास्तविकता का परिचय कलाकार ही कराता है।

कल्पना वास्तविक जगत् की मौलिकता को बढ़ाती है। जिस व्यक्ति की जिस प्रकार की कल्पना होती है, उसको उसी प्रकार का संसार दिखाई देता है। हम अपनी कल्पना द्वारा वास्तविक संसार के कष्टों को सरलता से निवारण कर सकते हैं तथा दुःखों में रहकर सुखों का आनन्द ले सकते हैं।

बाल्यजीवन में कल्पना का महत्त्व—बालक के जीवन में कल्पना का बड़ा महत्त्व है। बालक के सुख की सामग्री परिमित होती है तथा उस सामग्री के उपार्जन करने की शक्ति भी परिमित ही होती है। बालक अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के लिए सदा दूसरे लोगो पर आश्रित रहता है। उसे मनमाना यहाँ वहाँ घूमने की स्वतन्त्रता भी नहीं रहती। ऐसी अवस्था में कल्पना ही उसके जीवन के सुख का सहारा होती है। कल्पना से ही उसे जीवन में सरसता प्राप्त होती है। बालक को जब भूख लगती है और उसको मनमानी चीज़ खाने को नहीं मिलती तो वह बासी रोटी को हलुवा-पूरी के स्वाद से खा लेता है। उसके भोजन में जो कमी रहती है उसकी पूर्ति वह अपनी कल्पना के जादू से कर लेता है। बालक की कल्पना इतनी सजीव होती है कि उसके लिए काल्पनिक और वास्तविक पदार्थ में अधिक भेद नहीं रहता। जब बालक एक लकड़ी को अपने पैरों के बीच लेकर जोर से दौड़ता है तो उसे उसी तरह के आनन्द का अनुभव होता है जैसा एक घुड़सवार को घोड़े की सवारी करने पर होता है। जब बालक यह कहता है—

बड़ा तेज़ है मेरा घोड़ा,
छू होता देखते कोड़ा।

दाना घास कभी नहिं खाता,
दूर दूर की दौड़ लगाता।

तो उसे अपने उस आनन्द के अनुभव की याद आ जाती है, जो उसने अपने काल्पनिक घोड़े पर सवार होते समय प्राप्त किया था। बालक कल्पना के द्वारा अपनी खटोली को राजा की पालकी बना लेता है और उसमे बैठकर राजा की भाँति देश-विदेश की सैर करता है। उसका पालना ही उसकी मोटर बन जाती है। वह कल्पना के द्वारा ही सिपाही, डाक्टर, राजा इस प्रकार के अनेक स्वाँग रचता है। इस तरह वह अपने नीरस जीवन को सरस तथा आनन्दमय बना लेता है। जब कोई बलवान् व्यक्ति बालक को मार देता है तो वह अपने कल्पनाजगत् मे उसकी ख़ूब कसर निकालता है।

कल्पनाशक्ति में वैयक्तिक भेद

साधारणत: प्रत्येक व्यक्ति मे सब प्रकार की इन्द्रियो के ज्ञान को कल्पना मे लाने की शक्ति होती है, किन्तु इसमे वैयक्तिक भेद अवश्य होता है। किसी की कल्पना अधिक सजीव होती है और किसी की कम। साधारणत: स्त्रियो की कल्पना पुरुषो की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है; भाव-प्रधान व्यक्तियो की कल्पना विचार-प्रधान व्यक्तियों की अपेक्षा तीव्र होती है। इसी तरह जिन व्यक्तियों का अधिक समय चिन्तन में जाता है, उनकी तुलना में साधारण लोगो की दृष्टि-कल्पना अधिक तीव्र होती है। चिन्तनशील व्यक्ति अधिकतर अपने विचार शब्दो के आधार पर करते है अतएव वे देखे हुए पदार्थ का चित्रण अपने मानस-पटल पर भली भाँति नहीं कर पाते। गैल्टन का कथन है कि अधिकतर वैज्ञानिकों की दृष्टि-कल्पना की शक्ति परिमित होती है। इसका प्रधान कारण यह है कि वैज्ञानिको को इस प्रकार की कल्पना की अपने चिन्तन में आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जिस मानसिक शक्ति का हम उपयोग नहीं करते उसका ह्रास अपने आप हो जाता है। इस तरह वैज्ञानिको की दृष्टि-कल्पना

की शक्ति का ह्रास हो जाता है।* डारविन ने अपने एक लेख में खेद के साथ प्रकट किया है कि मैं संगीत के रस का आस्वादन नहीं कर सकता। इसी तरह गम्भीर दार्शनिकों में कविता-रस के आस्वादन की शक्ति नहीं रहती। इस शक्ति के नष्ट हो जाने का कारण उसको उपयोग में न लाना ही है।

डारविन जैसे मनीषी सदा वैज्ञानिक खोजों मे लगे रहते थे। उन्हे संगीत के स्वरों पर विचार-करने का अवसर ही कब मिलता था? और वे कब संगीत के आनन्द का उपयोग करने के लिए अपना समय देते थे? अतएव उसका यह सहज परिणाम है कि वे संगीत के आनन्द से सदा के लिए वञ्चित हो गये।

उपर्युक्त कथन से हमे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि बालक की किसी प्रकार की कल्पनाशक्ति को हम बिलकुल बेकार न रहने दें। यदि बालकों की बढ़ती हुई कल्पनाशक्ति पर ध्यान न दिया जायगा तो वे उसे सदा के लिए खो देंगे। हमें बालकों के देखे और सुने हुए पदार्थों का उनसे वर्णन कराना चाहिये और अनेक प्रकार के प्रश्न पूछकर उनकी विभिन्न प्रकार की कल्पना को तीव्र करना चाहिये। बालकों की कल्पना प्रौढ़ लोगों से अधिक सजीव होती है। हमारा कर्तव्य है कि शिक्षा द्वारा बालकों की हर प्रकार की कल्पनाशक्ति की अभिवृद्धि करें और उसे नष्ट न होने दें।

---

* गैल्टन महाशय का कथन उन्हीं के शब्दों मे इस प्रकार है—

Scientific men, as a class have feeble powers of visual representation. There is no doubt whatever on the latter point, however it may be accounted for My own conclusion is that an over-ready perception of sharp mental pictures is antagonistic to the acquirement of habits of highly generalised and abstract thought, especially when the steps of reasoning are carried on by words as symbols, and that if the faculty of seeing the pictures was ever possessed by men who think hard, it is very apt to be lost by disuse. The highest minds are probably those in which it is not lost but subordinated and is ready for use on suitable occasions'—

James *Principles of Psychology*, *Vol II p* 5[illegible]

मनोवैज्ञानिको ने कल्पनाशक्ति के भेद के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण किया है। कोई कोई दृष्टि-कल्पना में प्रवीण होते हैं, कोई शब्द-कल्पना में, कोई स्पर्श-कल्पना में, कोई घ्राण-कल्पना में और कोई रस-कल्पना में। साधारणतः सब प्रकार की कल्पना हर एक बालक मे होती है। किन्तु वह किसी विशेष प्रकार की कल्पना में दूसरी कल्पनाओ की अपेक्षा प्रवीण हो सकता है। इस बात को विचारते हुए माता-पिता या शिक्षको का कर्त्तव्य है कि बालक को जब भी किसी प्रकार का ज्ञान दें तो अनेक इन्द्रियो के द्वारा उस वस्तु या विषय की परख करा दें।

यदि हम बालक को कोई नया शब्द पढ़ाते हैं तो हमे बालक के सामने उस शब्द का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये, फिर उस शब्द का बालक से उच्चारण कराना चाहिये। इसके बाद उसे हमें श्यामपट पर लिखना चाहिये, फिर बालक से उसकी स्लेट पर लिखाना चाहिये। इस तरह जो शब्द बालक के मन पर चित्रित होगा, वह उसकी विभिन्न इन्द्रियों से ज्ञात होने के कारण उसके मन पर स्थायी रूप से अंकित हो जायगा। शब्द के स्मरण करने मे उसके सुने जाने के कारण उसका कान सहायता देगा; श्यामपट पर लिखा हुआ देखने के कारण उसकी आँखें सहायता करेंगी; बालक के द्वारा शब्द का उच्चारण किये और लिखे जाने के कारण उसकी क्रियात्मक प्रवृत्ति भी उसे याद करने मे सहायता देगी। जब हम बालक को इस प्रकार कोई पाठ पढ़ाते हैं तो उसके स्थायी ज्ञान की वृद्धि करते हैं। जो बालक शब्द-कल्पना मे प्रवीण होता है वह शब्द के द्वारा उस पाठ को याद रखता है, जो दृष्टि-कल्पना मे प्रवीण होता है वह उसके रूप के कारण उसे याद रखता है, और जो क्रियात्मक कल्पना में प्रवीण है वह पाठ को अपने आप पढ़ लेने के अथवा हाथ से लिख लेने के कारण स्मरण रखता है।

संसार के अधिकतर लोग दृष्टि-कल्पना में ही प्रवीण होते हैं; किन्तु कोई कोई ऐसे भी होते हैं जिनकी शब्द-कल्पना प्रवीण होती है। जब बालक किसी पाठ को स्मरण करता है तो प्रायः आँख से देखी हुई लिपि के सहारे ही उसका स्मरण करता है। किन्तु कुछ बालक ऐसे भी होते हैं जो शब्द के द्वारा पाठ का स्मरण

करते हैं। ऐसे बालको के लिए यह आवश्यक है कि वे पाठ को ज़ोर ज़ोर से ही पढ़ें। जो शब्द-कल्पना मे अधिक प्रवीण होते है वे एक बार सुनी बात को नहीं भूलते। मोजार्ट नामक एक व्यक्ति काफी लम्बी लम्बी किताबो को दो बार सुनकर ही दुहरा देता था। कविवर स्काट की भी ऐसी ही तीव्र कल्पना थी। कहा जाता है कि राजा विक्रमादित्य की सभा मे ऐसे कवि थे जो किसी भी नई कविता को एक या दो बार सुनकर तुरन्त दुहरा देते थे। जो व्यक्ति एक विशेष प्रकार की कल्पना मे प्रवीण होते हैं वे दूसरे प्रकार की कल्पना मे प्राय: निर्बल रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जब अपनी विशेष शक्ति को खो देते है तो जड़वत् हो जाते है।*

---

* यहाँ विलियम जेम्स की 'प्रिन्सिपुल्स आफ साईकॉलाजी' (भाग २ पृष्ठ ५८) से निम्नलिखित मनोरञ्जक दृष्टांत को उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा—

वियना नगर का एक व्यापारी जर्मन, स्पैनिश, फ्रेञ्च, ग्रीक, लेटिन आदि अनेक भाषाओं का पंडित था। उसकी दृष्टिकल्पना इतनी तीव्र थी कि जिस पुस्तक को वह एक बार पढता था उसके सब वृत्तान्त तथा उसके पृष्ठ तक उसके मानस-पटल पर भली भाँति चित्रित हो जाते थे। जिस नाटक को वह पढ़ता था, उसके पात्र उसको आँखों के सामने नाचने लगते थे। वह देश देश मे भ्रमण करता था। वह जहाँ जहाँ जाता था वे सब स्थान उसे भली भाँति याद रहते थे।

इस व्यापारी को एक बार किसी कारण अपने व्यापार के सम्बन्ध मे बड़ी चिन्ता हो गई। उसे कई दिनो तक नींद नहीं आई। जब वह इस स्थिति से पार हुआ तो उसने अपने आप मे बड़ा भारी परिवर्तन पाया। अब वह किसी देखी हुई चीज़ को अपनी स्मृति में नहीं ला सकता था। उसकी दृष्टिकल्पना का बिल्कुल ह्रास हो गया। वह अपनी स्त्री और बच्चों तक के चेहरो का स्मरण नहीं कर सकता था। एक बार दर्पण में वह अपना मुँह देख रहा था तो अपने प्रतिबिम्ब से ही इस तरह बातचीत करने लगा मानों किसी दूसरे व्यक्ति से बातें कर रहा हो। उसे सुनी हुई बातें याद रहती थीं पर देखी हुई सभी बातें वह भूल जाता था।

अभिभावको तथा शिक्षकों को चाहिये कि वे प्रत्येक बालक की कल्पना-शक्ति की प्रवीणता एवं विशेषता को जान लें और उसका शिक्षा-क्रम तदनुकूल बनावें। जो बालक दृष्टि-कल्पना में प्रवीण है वे सुन्दर चित्रकार हो सकते हैं, जो श्रुति-कल्पना मे प्रवीण हैं वे संगीत और कविता में प्रतिभाशाली हो सकते हैं। इसी तरह जो बालक नामो तथा शब्दों को भली भाँति स्मरण रख सकते है वे योग्य लेखक, वैज्ञानिक तथा वक्ता बन सकते है। बालक की किसी भी पाठ्य-विषय में रुचि उसकी मानसिक योग्यताओं पर निर्भर होती है। बालक का जीवन सफल बनाने के लिए उसकी शिक्षा उसकी रुचि के अनुसार होनी चाहिये। इस प्रकार हम उसकी योग्यताओ का सदुपयोग कर सकते है।

कल्पना के प्रकार

मनोवैज्ञानिको ने कल्पना को निम्नलिखित रीति से विभिन्न प्रकारो में विभाजित किया है—
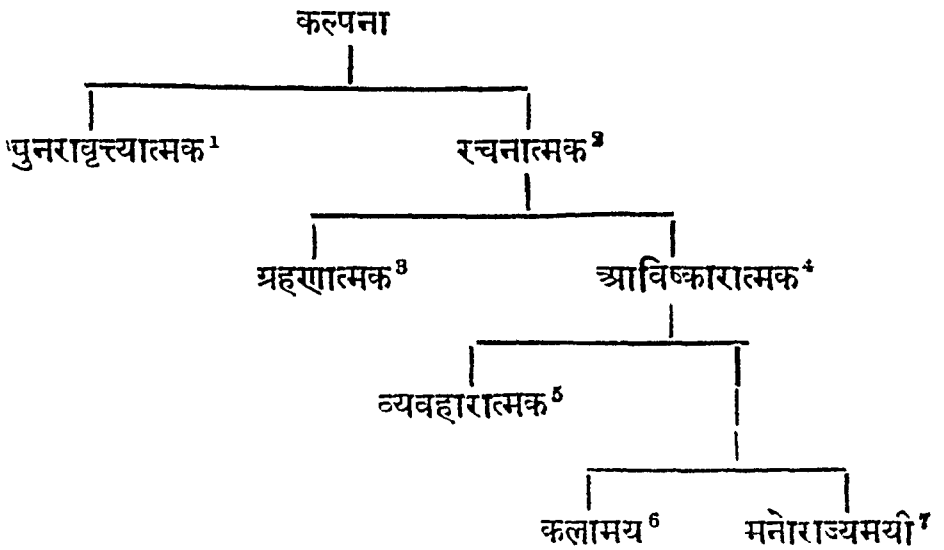
इस व्यापारी को अपना जीवन नई रीति से व्यतीत करना पड़ा। उसे अपनी शब्दकल्पना बढ़ानी पड़ी और उसके सहारे फिर वह जीवन का काम चलाने लगा।

1 Reproductive 2 Productive. 3 Receptive.
4. Inventive (constructive) 5 Pragmatic (practical)
6 Artistic (creative) 7. Fantastic (fanciful).

कल्पना शब्द से हमें उस मानसिक क्रिया का बोध होता है जो प्रत्यक्ष पदार्थ की अनुपस्थिति मे मनुष्य के मन मे हुआ करती है, अर्थात् किसी भी अनुभव का पुन: मानस-पटल पर चित्रित होना कल्पना कहा जाता है। कल्पना शब्द के बृहत् अर्थ मे स्मृति और रचनात्मक कल्पना दोनो का समावेश होता है। किन्तु संकुचित अर्थ मे कल्पना शब्द से उसी क्रिया का बोध होता है जो पुराने अनुभव के आधार पर नवीन मानसिक रचना के रूप मे की जाती है। हम यहाँ उपर्युक्त सभी प्रकार की कल्पना के विषय में क्रमश: विचार करेंगे।

पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना—पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना वह है जिसमें हम पुराने अनुभव को ज्यों का त्यों मानस-पटल पर चित्रित करते है। मनुष्य अपनी वृद्धावस्था मे इन्द्रियों के शिथिल होने पर अपने पुराने अनुभवो को दुहराया करता है। इसी तरह हम जब कोई बड़ा काम करते हैं तो उस काम से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का चित्रण होता रहता है। इस क्रिया को हम स्मरण भी कह सकते है किन्तु स्मरण और पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना मे यह भेद है कि स्मृति का पदार्थ चुना हुआ होता है। परन्तु पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना का पदार्थ इस प्रकार चुना नहीं जाता। कोई कोई लेखक पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना मे स्मृति का भी समावेश करते हैं। इस प्रकार देखा जाय तो बालक की कल्पनाशक्ति की वृद्धि करने मे उसकी प्राय: सभी मानसिक शक्तियो की वृद्धि होती है।

पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना की वृद्धि के लिए आवश्यक है कि हम बालकों से उन अनुभवो के बारे मे प्रश्न करें जो उन्हे हाल में हुए हो। जब बालको को किसी स्थान पर भ्रमण के लिए ले जाया जावे तो उस स्थान से लौटने पर हमे उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न करना चाहिये जिससे बालको को पुराने अनुभव को दोहराने की आवश्यकता पड़े। हम इस तरह की परीक्षा करने पर देखेंगे कि बालक न तो नये स्थान के हर एक पदार्थ को देखता ही है और न उसकी अनुभूति के अनेक पदार्थ मानसपटल पर देरी तक स्थिर ही रहते हैं। जिस प्रकार हमारा प्रत्यक्ष अनुभव हमारी रुचि के ऊपर अवलम्बित है इसी प्रकार किसी भी अनुभव का मानस-

पटल पर पुनः चित्रित होना रुचि पर ही निर्भर रहता है। जैसे जैसे बालक की रुचि में विकास होता है, उसकी कल्पना-शक्ति भी विकसित होती है। हम अपने प्रयत्नों से इस विकास में सहायता कर सकते है। बालकों से पुराने अनुभव के विषय में प्रश्न करना इस प्रकार की सहायता है।

रचनात्मक कल्पना—रचनात्मक कल्पना पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना से बिलकुल भिन्न है। रचनात्मक कल्पना का आधार पुराना अनुभव अवश्य है, किन्तु रचित पदार्थ एक प्रकार से बिलकुल नवीन होता है। जिस तरह हम एक इमारत को गिराकर उसके ईंट पत्थर से नई इमारत तैयार कर लेते हैं इसी तरह हम पुराने अनुभव की सामग्री लेकर नई कल्पना का सृजन करते हैं। वास्तव मे ऐसी ही कल्पना को उसके यथार्थ अर्थ में कल्पना कहा जा सकता है।

इस प्रकार की कल्पना का मनुष्य के जीवन में बड़ा महत्त्व है। इसी कल्पना के आधार पर हम भविष्य के विषय में अनेक प्रकार की बातें सोच सकते है तथा अपने मनोरञ्जन के लिए विचित्र प्रकार की सृष्टि कर लेते है। जब हम किसी कार्य का प्रोग्राम बनाते है तो अपनी रचनात्मक कल्पना से काम लेते हैं। पशु मनुष्य की अपेक्षा ऐसी कल्पना-शक्ति में निर्बल रहता है। अतएव वह भविष्य के बारे में अपने कार्यों का कोई प्रोग्राम नहीं बना सकता। रचनात्मक कल्पना ही हमारे अनेक प्रकार के आनन्दो का स्रोत है।

ग्रहणात्मक कल्पना—ग्रहणात्मक कल्पना रचनात्मक कल्पना का एक प्रकार है। बालक में कल्पना का उदय पहले पहल प्रायः ग्रहणात्मक कल्पना के रूप में ही होता है। इस कल्पना के द्वारा बालक दूसरे लोगों के विचारो के सहारे काल्पनिक पदार्थ की सृष्टि करता है। हम जब बालक से कोई किस्सा-कहानी कहते हैं तो वह हमारे कहे हुए शब्दों के आधार पर उस स्थिति को अपने मानस-पटल पर चित्रित करता है जो कि हमारी कहानी में वर्णित है। हम जब किसी कविता को पढ़ते हैं तो उस कविता के रस का आस्वादन अपनी ग्रहणात्मक कल्पना-शक्ति की सहा-

यता से ही करते है। कविता के पढ़ते समय कवि की कल्पना हमारी कल्पना बन जाती है। इसी तरह जब कोई व्यक्ति किसी संवेगपूर्ण घटना को हमारे सामने शब्दो मे चित्रित करता है तो हम अपना ग्रहणात्मक कल्पना के सहारे घटना का चित्रण करनेवाले व्यक्ति के अनुभव को अपना अनुभव बना लेते हैं। बालको से जब कहानियाँ कही जाती हैं तो उनके मन मे तदनुरूप कल्पना का उदय हो जाता है और उनके हृदय मे वे संवेग चलने लगते हैं जो उस कल्पना की सृष्टि के अनुकूल होते है।

आविष्कारात्मक कल्पना—जीवन मे कल्पना की वास्तविक उपयोगिता हम आविष्कारात्मक कल्पना मे देखते हैं। आविष्कारात्मक कल्पना करनेवाला व्यक्ति दूसरो की कल्पना के आधार पर अपनी कल्पना के जगत् का निर्माण नही करता, किन्तु वह अपने अनुभव के आधार पर ही एक स्वतन्त्र काल्पनिक जगत् का निर्माण करता है। जीवन की साधारण समस्याओ को सुलझाने के लिए आविष्कारात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। यदि बालक को बाज़ार मे जाकर अपनी किताब और पेन्सिल किसी दुकान से खरीदनी है तो इसके लिए आविष्कारात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति अपने प्रतिदिन के कार्य्यों मे अपनी कल्पना से काम नहीं लेता वह अन्धे के समान टटोल टटोलकर संसार मे भ्रमण करता है।

जिस प्रकार आविष्कारात्मक कल्पना हमको हमारे जीवन की साधारण समस्याओ के सुलझाने मे सहायता देती है उसी तरह उसे सरस बनाने मे भी सहायक होती है। आविष्कारात्मक कल्पना के आधार पर ही कला का निर्माण होता है। जो आविष्कारात्मक कल्पना हमारे साधारण जीवन के व्यवहारो मे सहायक होती है, उसे व्यवहारात्मक कल्पना कहा जाता है तथा जो कल्पना अपने मानसिक आनन्द की वृद्धि के लिए की जाती है उसे स्फूर्त्तिजन्य एव कलामयी कल्पना कहा जाता है। कलामयी कल्पना मे कवि अपने बनाये हुए विशिष्ट नियमो से सदा अपनी कल्पना को नियन्त्रित किये रहता है। कला वास्तविकता के

नियमों से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होती। जब किसी व्यक्ति की कल्पना का वास्तविकता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता और न वह किसी नियम का पालन ही करता है, तो उस कल्पना को मनोराज्यमयी कहते है।

बालक के काल्पनिक साथी

प्रत्येक बालक चार पाँच वर्ष की अवस्था से काल्पनिक साथी की भावना करने लगता है। इस काल्पनिक साथी की प्रतिमा बालक के मन मे इतनी सजीव होती है कि वह अपने अनेक कामो में उसको अपने साथ देखता है। बालक कभी कभी उसके साथ खेलता, खाता और सोता तक है, कहीं जाते समय उससे सलाह भी ले लेता है। जो बालक अकेला रहता है वह दूसरे बालकों के साथ रहनेवाले बालकों की अपेक्षा अपने काल्पनिक साथी पर अधिक आश्रित रहता है। कभी कभी बालक अपने काल्पनिक साथी को कुछ भेंट देता है। यदि कोई बड़ा आदमी इस भेंट की वस्तु को बिगाड़ दे तो बालक उसी प्रकार दुखी होता है जैसा कि हम अपने मित्र को समर्पित वस्तु के बिगाड़े जाने से दुखी होते है। बालक अपने इस साथी का मनमौजी नाम भी रख लेता है। यदि किसी प्रकार इस साथी को कष्ट पहुँचता है तो बालक को बड़ा दुःख हो जाता है।

बालक का इस प्रकार काल्पनिक साथी का मानना स्वाभाविक है। छोटी अवस्था में यह उसके मनो-विकास के लिए हानिकर नहीं है। किन्तु अधिक काल तक इस प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति का रहना मन की अवनति का सूचक है। साधारणतः नौ-दस वर्ष की अवस्था तक ही ऐसा काल्पनिक साथी बालक के साथ रहता है। इससे अधिक अवस्था होने पर ऐसे साथियों का साथ छूट जाता है और उनका स्थान वास्तविक साथी ग्रहण कर लेते है। किशोरावस्था तक किसी बालक के सम्पर्क मे इस प्रकार के साथी का रहना उसके सामाजिक एवं नैतिक जीवन के विकास में बाधा

डालता है। जो बालक अपने काल्पनिक साथी के साथ ही खेलना पसन्द करते है, उन्हे दूसरो के साथ योग्य व्यवहार करने की शिक्षा नहीं मिल पाती। वे सहनशीलता और उदारता के गुणो का अभ्यास नहीं कर पाते। जब उन्हें वास्तविकता का सामना करना पड़ता है तो वे कुशलता से अपनी कठिनाइयों का निवारण नहीं कर सकते।

कल्पना-विकास के उपकरण

बालक की कल्पना का विकास स्वभावत: उसके अनुभव की वृद्धि के साथ साथ होता है। जैसे जैसे बालक को नये वातावरण मिलते है और उसे अनेक परिस्थितियो का सामना करना पड़ता है, वैसे वैसे उसे अपने पुराने अनुभव के आधार पर भविष्य के विषय मे सोचने की आवश्यकता पड़ती है। मनोविकास का यह मूल सिद्धान्त है कि अपने जीवन को सफल बनाने के लिए हमे जिन शक्तियो की आवश्यकता होती है, उन शक्तियो का आविर्भाव अथवा वृद्धि प्रकृति स्वत: कर देती है। जिस प्रकार देखने की इच्छा ने आँख का विकास किया और सुनने की इच्छा ने कान का, इसी प्रकार भविष्य के विषय मे विचार करने तथा वास्तविकता के घोर नियंत्रण से बचने की इच्छा ने कल्पनाशक्ति का विकास किया। हम सबको अपने अपने जीवन मे कल्पना की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु बालक को हमसे भी अधिक इसकी आवश्यकता पड़ती है।

भाषा-ज्ञान की वृद्धि—बालक में कल्पनाशक्ति का विकास भाषाज्ञान के साथ साथ ही होने लगता है। वास्तव मे भाषा और कल्पना का इतना घनिष्ठ संबंध है कि हम एक को दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। पशुओ में भाषाविकास अधिक नही होने पाता, अतएव उनकी कल्पनाशक्ति भी परिमित रहती है। मन में किसी कल्पना के आने के लिए यह आवश्यक है कि किसी प्रकार मन मे उत्तेजना पैदा हो। किसी पदार्थ को मन में लाने के लिए उसका नाम ही सबसे सुयोग्य साधन है। मान लीजिए, बालक ने बिल्ली को देखा और उसको

'म्याउँ' कहते सुना। अब यदि बालक 'म्याउँ' शब्द बिल्ली की अनुपस्थिति में सुने तो उसके मानसपटल पर बिल्ली का चित्र अंकित हो जायगा। इसी तरह यदि बालक स्वयं ही 'म्याउँ' शब्द एकाएक कह पड़े तो भी उसकी कल्पना में बिल्ली आ जायगी।

जब हम बालक से कोई कहानी कहते हैं तो बालक हमारे शब्दो को सुनकर उनसे सम्बन्धित पदार्थ की कल्पना कहानी सुनने के साथ ही साथ करता जाता है। जितना ही बालक का शब्दज्ञान बढ़ता है उतना ही उसकी कल्पनाशक्ति का विकास होता जाता है।

पाँच वर्ष तक के शिशु का भाषाज्ञान बिलकुल परिमित रहता है, अतएव हम कह सकते हैं कि उसका काल्पनिक जगत् भी बहुत संकुचित होता है। पाँच साल तक बालक अधिकतर अपना जीवन प्रत्यक्ष-ज्ञान के सहारे ही चलाता है। यह ऐसा काल है जब बालक को अनेक प्रकार के इन्द्रियज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है। इस ज्ञान के आधार पर उसके प्रत्यक्ष-ज्ञान की वृद्धि होती है। और जब तक प्रत्यक्ष-ज्ञान में पर्य्याप्त-वृद्धि न हो जाय, कल्पना का विकास होना सम्भव नहीं।

बालक का भाषा-ज्ञान जब ठोस हो जाता है, तब वह शब्दों के सहारे मन में अनेक घटनाओं को सोचने लगता है। पहले पहल वह प्रायः दृष्टि-कल्पना को ही सोचते समय काम में लाता है। बालक की इस काल की कल्पना बड़ी सजीव और संवेगपूर्ण होती है। प्रौढ़ व्यक्ति प्रायः शब्दों के सहारे सोचा करते हैं। उनकी कल्पनाएँ दृष्टिकल्पना न होकर प्रायः शब्द-कल्पना होती हैं। अतएव उनकी कल्पना में वह सजीवता नहीं रहती जो बालक की कल्पना में रहती है। इस कारण प्रौढ़ लोग इस बात को नहीं समझ पाते कि बालक किस्से-कहानियो से अत्यधिक प्रफुल्ल क्यों हो उठता है। किन्तु हमे इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये और बालक की रुचि एवं योग्यता के अनुसार उन साधनों

को अपनाना चाहिये, जिनसे उसकी अनेक प्रकार की कल्पना-शक्ति बढ़े।

कहानियाँ—ऊपर कहा गया है कि बालक को कहानियाँ बड़ी रुचिकर होती हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस बात को अपनी एक कहानी में, जिसका शीर्षक "किसी समय एक राजा था" भली भाँति दर्शाया है। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर सात-आठ वर्ष के थे, उन्हें कहानियाँ सुनने की बड़ी उत्कंठा रहती थी। वे कहानियाँ सुनने को सभी कष्ट सहने के लिए तैयार हो जाते थे। जब दादी उन्हे कहानियाँ सुनाने लगती थीं तो वे खाना-पीना भूल जाते थे। कहानी सुनने से उन्हें स्वर्ग का आनन्द प्राप्त होता था। रवीन्द्रनाथ ने बालकों की इस प्रवृत्ति की प्रशंसा की है। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला है कि सत्य काल्पनिक जगत् मे ही है; हम बालक को जो वास्तविकता का ज्ञान प्राय: दिया करते हैं वह उसके लिए व्यर्थ है—वह अयथार्थ ज्ञान है। बालक को इस प्रकार के ज्ञान से क्या लाभ?

माता-पिता या अध्यापकों को चाहिये कि वे बालक की कहानी सुनने की भूख कभी न मारें। माताओं या दाइयों को अनेक प्रकार की सुन्दर सुन्दर कहानियाँ सीखनी चाहिये। इसके अतिरिक्त उन्हे बालकों से कहानी कहने का तरीक़ा भी ठीक तरह से जानना चाहिये। बालक का मन प्रौढ़ अवस्थावालों के मन की स्थिति में नहीं रहता, अतएव जिस प्रकार से कहानी का कहा जाना हमें रुचिकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार बालको को भी रुचिकर प्रतीत होना सम्भव नहीं। हम जितनी जल्दी किसी बात को सुनकर समझ लेते हैं उतनी जल्दी बालक उस बात को सुनकर नहीं समझ सकता। बालक का भाषाज्ञान परिमित होता है और उसके विचार का सहारा दृष्टिकल्पना के चित्र होते हैं। अतएव बालक से कहानियाँ बहुत सरल भाषा में धीरे धीरे कही जानी चाहिये। कहानी कहनेवालों को बीच बीच में ठहर जाना चाहिये जिससे बालक अपनी शंका समाधान कर सके। बालक जिस कहानी के सुनने में आनन्द लेता है, उसको एकाग्रचित्त होकर सुनता है और जब वक्ता कुछ समय के लिए रुक जाता है

तो वह कहने लगता है 'हाँ, आगे क्या हुआ।' एक तरह से हमारे घर की बूढ़ी दाइयाँ और दादी बच्चो से कहानी कहने के लिए बड़ी ही उपयुक्त होती है। वे बच्चों के जीवन में आनन्द लेती है और उनसे धीरे धीरे कहानियाँ कहती है। उनमें इतना धैर्य्य होता है कि वे बालकों के सब प्रश्नो का जवाब दे। जो दाइयाँ बालकों से इस प्रकार कहानियाँ कहती हैं और समय समय पर उन्हे झुँझला नहीं देतीं वे बालको को बहुत प्रिय होती है।

बालकों की कहानियो मे उन नियमो के पालन करने की आवश्यकता नहीं होती जो प्रौढ़ अवस्था के लोगो की कहानियो मे आवश्यक होते है। बालक के लिए सभी असम्भव बातें सम्भव है। वह जितनी भी विचित्र बातें किसी किसी कहानी मे सुनता है, उतना ही ख़ुश होता है। जानवरो का आपस मे बातचीत करना, उनका वेष बदल देना तो एक साधारण सी बात है। इसी तरह बालक देवताओ और राक्षसो की कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होता है। किसी भी सभ्य देश के साहित्य को देखने पर पाठकों को ज्ञात होगा कि उस देश का साहित्य बालकों के लिए उनके उपयुक्त पशु-पक्षियो की कहानियो से भरा पड़ा है। हमारे पूर्वजो ने हितोपदेश और पचतत्र ऐसे कथानको का निर्माण किया था। यूरोप मे एमप्स फेबल्स जैसी अनेक प्रकार की कहानियो का प्रचार है। अलिफ-लैला की कहानियाँ भी ऐसी ही कहानियाँ है जो बालकों के मनोरंजन के लिए है। पचतंत्र तथा एसप्स फेबल्स मे पशु-पक्षियों की कहानियो द्वारा बालकों को अनेक प्रकार के सदुपदेश दिये गये है।

श्रीमती मान्टसरी का मत—आजकल के कितने ही शिक्षा-वैज्ञानिक ऐसे है जो बालको को पशु-पक्षियो या राक्षसो की कहानियो का सुनाया जाना अनुचित समझते है। इनमे एक मैडम मान्टसरी भी है। उनका कथन है कि इन कहानियो के द्वारा बालक के कोमल हृदय पर ऐसे संस्कार पड़ जाते है जिनके कारण वे अनेक अवैज्ञानिक बातो पर विश्वास करने लग जाते हैं। शैशवावस्था के संस्कार स्थायी होते हैं अतएव इन अवैज्ञानिक बातो के सस्कारो को बालक के मन से हटाना पीछे कठिन हो जाता है। अतएव ऐसा

वालक अन्धविश्वासी और अप्रगतिशील नागरिक वनता है। उसमें तर्कवुद्धि उतनी प्रवल नहीं रह जाती, जितनी कि वैज्ञानिक वातो पर विश्वास करनेवाले वालक की हो सकती है।

दूसरे, जो वातें वालक से इन अवैज्ञानिक घटनाओं से भरी हुई कहानियो में कही जाती हैं उनसे जीवन में उसको कुछ लाभ भी नहीं होता। हरक्लीस और एन्टीयस की लड़ाई को जानकर वालक किस भावी संग्राम में सफल हो सकता है; इसी प्रकार वन्दरों द्वारा पुल वाँधे जाने की कथा सुनकर कौन वालक पुल वाँधने के काम मे निपुण हो सकता है? इस प्रकार की कहानियाँ उसके जीवन-सग्राम मे सहायक न वनकर उसकी वुद्धि में अधिक अड़चनें पैदा कर देती हैं, अतएव वालकों को ऐसी कहानियो से वचाना चाहिये।

मान्टसरी का तो यहाँ तक कहना है कि सव प्रकार की कहानियाँ वालक को हानिकर होती हैं। कहानियाँ सुनने से उसको काल्पनिक जगत् में विचरण करने का अभ्यास हो जाता है। जो वालक काल्पनिक जगत् में रहने से प्रसन्न रहता है वह वास्तविकता से भागने की चेष्टा करता है। इस तरह उसे वास्तविक जगत् का पर्याप्त ज्ञान भी नहीं रह पाता। ऐसा वालक जव किसी कठिनाई में पड़ जाता है तो वह अपनी कठिनाइयों को हल करने की चेष्टा न कर निकम्मा वन जाता है अथवा मनोराज्य में विचरण करने लगता है।

उपर्युक्त अनेक कारणों से मैडम मान्टसरी ने अपनी शिक्षा-पद्धति में वालको के लिए कहानी कहे जाने का कोई स्थान नहीं रक्खा है। अव हम यह विचार करेंगे कि हमे मैडम मान्टसरी की विचार-परम्परा का अनुकरण कहाँ तक करना चाहिये।

मैडम मान्टसरी की शिक्षा-पद्धति मे वैज्ञानिक विचारो का ध्यान अवश्य रक्खा गया है, किन्तु उनकी पद्धति में एक प्रकार से वालक के स्वभाव की अवहेलना की गई है। वालक का जगत् प्रौढ़ लोगों के जगत् से भिन्न होता है। प्रौढ़ावस्था के लोगो को वैज्ञानिक विचारो का जितनी आवश्यकता होती है, उतनी वालक को नहीं होती। जो कल्पना प्रौढ़ अवस्थावालों को शोभा

नहीं देती और उनके मानसिक पतन की सूचक होती है, वही कल्पना बालक के लिए उपयुक्त होती है और उनकी मानसिक शक्तियों का विकास करती है। प्रौढ़ व्यक्तियों को राक्षसों और दैत्यों की कहानियों में रुचि रखना उचित नहीं। यदि वे १०० गज़ ऊँचे, २० भुजावाले और १० मुँहवाले राक्षस की कहानी चाव से सुनते है तो अपने आपको उस शिशु की अवस्था में रख देते हैं जो सदा ही आश्चर्य-जनक घटनाएँ सुनने के लिए उत्सुक रहता है और जो प्रकृति के नियमो के विषय में इतना अज्ञ होता है कि उसे कुछ भी असंभव प्रतीत नहीं होता। जैसे जैसे बालक का वास्तविकता का ज्ञान बढ़ता है, उसकी कल्पना स्वयं ही नियंत्रित हो जाती है और उसकी रुचि अवैज्ञानिक बातों से हट जाती है।

स्टैनले हाल का कथन है कि मनुष्य विकास के क्रम के अनुसार छोटे कीटाणु से लेकर सभ्यता की उच्च सीढ़ी तक की सभी अवस्थाओ की जीवन में पुनरावृत्ति करता है। पुनरावृत्ति का सिद्धान्त प्राणिशास्त्र का एक मौलिक सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त को हम मनुष्य के जीवन-विकास में घटित देखते है *। मनुष्य पहले बर्बर अवस्था को पार करके ही सभ्य बना है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी बर्बरावस्था को पार कर सभ्य बनता है। बालक की रुचि बर्बर लोगों जैसी होती है। जिस प्रकार बर्बर जाति के लोग राक्षसो या पशु-पक्षियों की कहानियाँ सुनने पर आनन्दित होते है, उसी प्रकार बालक भी बड़े चाव से राक्षसो या पशु-पक्षियो की कहानियाँ सुनता है। यही कारण है कि प्रत्येक सभ्य देश के विद्वानो ने बालकों के लिए पशु-पक्षियों या राक्षसों की कहानियों का निर्माण किया। इनके द्वारा बालकों को अनेक प्रकार की नैतिक शिक्षा दी जा सकती है।

---

* हिन्दुओं के पुराणो में वर्णित भगवान् के २४ अवतार इस विकासक्रम के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। मच्छ, कच्छ, वाराह इत्यादि योनियो से पार होकर आत्मा मनुष्य योनि मे आती है और मनुष्यो मे भी वामन, परशुराम, राम और कृष्ण भी आत्मा के विकास के क्रम को प्रदर्शित करते हैं।

वालक का जीवन जैसे जैसे विकसित होता है वैसे ही उसकी कहानियाँ भी उसकी अवस्था के अनुसार परिवर्त्तित होनी चाहिये। जो कहानियाँ शिशु के लिए उपयुक्त हैं वे किशोर वालक के लिए नहीं। शिशु को नैतिकता की शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। उससे जो कहानियाँ कही जायँ, उनका लक्ष्य उसकी कल्पनाशक्ति की वृद्धि मात्र ही होना चाहिये। वच्चा जैसे जैसे शिशु-अवस्था को पार करता है, उसकी कहानियों में नैतिकता का रहना आवश्यक होता है। किशोर वालक की कहानियाँ वास्तविक जीवन के आधार पर वनी हो। उसका तोतामैना या राक्षसों की कहानियों मे रुचि रखना उसके मानसिक विकास में रुकावट का परिचायक है। जो शिक्षक किशोर वालकों को ऐसी कहानियाँ पढ़ने के लिए देते हैं वे उनकी वड़ी मानसिक क्षति करते हैं।

संसार के वड़े वड़े तत्त्ववेत्ताओं ने और शिक्षा-वैज्ञानिको ने वालकों के लिए कहानी कहे जाने की महत्ता को वताया है। यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने अपनी "रिपवलिक" नामक पुस्तक में कहानी को वालक की शिक्षा में मुख्य स्थान दिया है। उसका कथन है कि प्रत्येक घर की सयानी स्त्रियों को अच्छी अच्छी कहानियाँ याद कराई जायँ और उन्हे यह आदेश दिया जाय कि वे उन कहानियों को वालकों से कहें। राष्ट्र के अधि-कारियों को इस वात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि दाइयाँ वालकों से ऐसी कहानियाँ कदापि न कहें जिनके कारण वालक के मन में अनैतिकता के संस्कार पड़ जायँ।

फ्रोवेल ने भी अपनी किंडरगार्टन नामक शिक्षा-पद्धति में वालक की प्रारम्भिक शिक्षा में कहानियों को महत्त्व का स्थान दिया है। जो प्रशस्त कहानियाँ वालक को रुचिकर प्रतीत होती हैं उनका वालको द्वारा अभिनय कराया जाना भी आवश्यक है। इस तरह हम देखते है कि मैडम मान्टसरी का कहानी-वहिष्कार का मत न तो सर्वग्राह्य ही है और न मनोविज्ञान-विचार-परम्परा के अनुकूल ही।

वालकों के उपयुक्त कहानियाँ—ऊपर यह संकेत किया गया है कि भिन्न भिन्न अवस्था के वालकों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार

को कहानियाँ कही जानी चाहिये। किन्तु सभी कहानियों में इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि बालक के कोमल मस्तिष्क पर कहानियों द्वारा किसी प्रकार का कुसंस्कार न पड़ जाय। बालक को नैतिकता के विरुद्ध कहानियाँ न सुनाई जायँ। इसी तरह भूत, पिशाच इत्यादि की कहानियाँ उन्हें न सुनाई जायँ। कितने ही कहानी कहनेवाले बालकों को आश्चर्य मे डालने के लिए भूत, पिशाच आदि की कहानियाँ गढ़ गढ़कर सुनाते हैं। बालक इन कहानियों को बड़े चाव के साथ सुनता है; किन्तु इसका उसके जीवन पर बड़ा दुष्परिणाम होता है। उसके अव्यक्त मन में भूतों के भय का संस्कार बैठ जाता है। आगे चलकर यह एक भावना-ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है जिसके कारण बालक का स्वभाव भीरु हो जाता है।

कहानियाँ कहते समय इस बात का सदा विचार रखना चाहिये कि बालक की मानसिक स्थिति प्रौढ़ लोगों की मानसिक स्थिति से भिन्न है। जो कहानियाँ हमें हँसाती हैं वही कहानियाँ बालक के हृदय मे भय का सञ्चार कर सकती हैं। दूसरे हमें इस बात पर भी ध्यान रखना है कि बालक कहानी सुनते समय जिन संवेगों का अनुभव करता है उनसे भिन्न संवेगों का अनुभव वह दूसरी परिस्थिति में पड़ने पर सुनी हुई कहानी की कल्पना के कारण कर सकता है। जिस कहानी को दिन के समय बालक आनन्द से सुनता है वही कहानी रात के समय बालक के हृदय मे भय उत्पन्न कर सकती है। प्रत्येक बालक रात के समय डरने लगता है। यह भय उसे जन्म से नहीं होता; किन्तु प्रौढ़ लोगों की बातचीत तथा किस्सा-कहानियों से उत्पन्न होता है।

नासेवर्दी और म्हटले महाशयों का कथन है कि बालकों को सिनेमा के ऐसे दृश्य भी न दिखाना चाहिये जिनके कारण उनके हृदय में भय का सञ्चार हो। जो चित्र बालक देखता है वे उसके मन मे घूमने लगते हैं और प्रतिकूल परिस्थितियों मे उसके मानसिक दुःख का कारण बन जाते हैं। इनके अतिरिक्त हमें बालक के स्वप्नों पर भी विचार करना चाहिये। कितने

वालक सोते सोते चौंक पड़ते हैं। इस प्रकार चौंकने का कारण उनके संवेग-पूर्ण जागरित अवस्था के अनुभव ही हैं। वालकों की कहानियाँ उनके स्वप्नों की सामग्री वन जाती हैं। अतएव वालकों के उत्साह और आनन्द की वृद्धि करनेवाला कहानियाँ ही उन्हे सुनाई जायँ।

भारतीय साहित्य में शिशु-साहित्य की वड़ी कमी है। इसकी पूर्ति करना प्रत्येक समाजसेवी का कर्तव्य है। प्रत्येक शिक्षित युवती को वालकों के उपयुक्त सैकड़ो कहानियाँ जाननी चाहिये। माताओं का धर्म है कि वालकों के मनोरञ्जन के लिए अनेक कहानियाँ सीखें और उन्हे वालकों से कहे। कितनी थोड़ी माताएँ हैं जिनमे इस प्रकार की योग्यता है तथा जो इस योग्यता को प्राप्त करना अपना कर्तव्य समझती हैं। शिवाजी जैसे वीर पुरुषों का आविर्भाव जीजावाई जैसी माता की गोद मे ही हो सकता है। जीजावाई ने शिवाजी को भारत के पुराने वीरो की गाथाएँ सुना सुनाकर वीर वना दिया था। इसी प्रकार नैपोलियन को उसकी माता ने वीर वनाया था।

अभिनय

वालक की रचनात्मक कल्पनाएँ जव वाह्यक्रिया का रूप धारण करती हैं तो अभिनय का आविर्भाव होता है। अभिनय को कुछ लोग एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति मानते हैं, पर यह वात सत्य नहीं है। अभिनय वालक की साधारण आत्म-प्रकाशन की चेष्टा मात्र है। वालक स्वभावतः ही शारिरिक कार्य्यों के करने मे आनन्द का अनुभव करता है। जव वालक की इस प्रवृत्ति का संवंध उसकी कल्पनाओ से हो जाता है, तो उसका सहज परिणाम अभिनय होता है।

अभिनय का वाह्य जीवन मे वड़ा महत्त्व है। अभिनय से वालक के ज्ञान की वृद्धि होती है और उसका आत्म-विश्वास वढ़ता है। अभिनय के द्वारा उसका अस्पष्ट ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और वह किसी घटना की छोटी छोटी वातों पर ध्यान देना सीख जाता है। अभिनय द्वारा वालक की रचनात्मक कल्पना

उद्देश्यपूर्ण हो जाती है। वह एक दृष्टिकोण से विचार करने लगता है और किसी भी कार्य्य के प्रधान और गौण अंश के भेदों को जानने लगता है। अभिनय से बालक को वास्तविकता और कल्पना का भेद स्पष्ट हो जाता है। किसी घटना का अभिनय करते समय बालक यह जानता है कि यह वास्तविक घटना नहीं है, किन्तु उसका अभिनय मात्र है। अभिनय से बालक के वास्तविकता के विचारों की वृद्धि होती है, उसकी कल्पना रसमय हो जाती है इसलिए वह रचनात्मक कार्य्यों में प्रवीण हो जाता है।

अभिनय से बालक की दूसरी मानसिक शक्तियों का विकास होता है। इसके द्वारा बालक का आत्म-विश्वास, प्रतिभा और प्रत्युत्पन्न-बुद्धि बढ़ती है। वह अभिनय से भाषा का सदुपयोग करना सीखता है और उसकी स्मरणशक्ति की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त उसमें ऐसे सामाजिक गुणों का विकास होता है जिनके कारण वह सुयोग्य नागरिक बन सकता है। अभिनय के द्वारा बालक में सहनशीलता, सहकारिता तथा दूसरे अनेक सद्भावों का प्रादुर्भाव होता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि बालक के मनो-विकास मे अभिनय का बड़ा महत्त्व है। शिक्षकों को चाहिये कि जहाँ तक सम्भव हो, बालकों को पढ़ाते समय अभिनय का अवसर दें और उनको किसी घटना का अभिनय करने मे प्रोत्साहित करें। जो पाठ बालकों को अभिनय द्वारा पढ़ाया जाता है वह रुचिकर ही नहीं हो जाता वरन् बालकों के मानसपटल पर सदा के लिए अंकित हो जाता है। जब बालक को कोई कहानी पढ़ाई जाती हो तो शिक्षक को कहानी मे रुचि पैदा करने के लिए बालकों द्वारा उसका अभिनय कराना चाहिये। इसी तरह कविता-पाठ में अभिनय से काम लिया जा सकता है।

मान लीजिए, दो सच्चे मित्रों की कहानी बालकों को पढ़ाई जा रही है। दोनों मित्र एक दूसरे के प्राण बचाने के लिए अपने आप को फांसी पर लटकाना चाहते हैं। इसे देखकर नागरिक लोग दंग रह जाते हैं और न्यायाधीश आश्चर्य्य में

पड़ जाता है। अन्त में देश के कठोरहृदय राजा का दिल पिघल जाता है। वह दोनों को ही छोड़ देता है।

इस कहानी का यदि अभिनय किया जाय तो यह कितनी मनोरंजक कहानी बन जायगी। दो बालक मित्रों का पार्ट लेंगे। एक राजा बनेगा और शेष नागरिक। बालकों को अभिनय करते समय यह सोचना पड़ेगा कि किस समय कैसे हाव-भाव का प्रदर्शन करे। उनका ध्यान छोटी छोटी बातों पर जायगा जो कि अभिनय के लिए आवश्यक हैं। ऐसी बातों का उन्हें आविष्कार भी करना पड़ेगा। इस प्रकार बालक की स्मृति, रचनात्मक कल्पना और प्रत्युत्पन्न-बुद्धि की वृद्धि होगी। कहानी अब शुष्क पाठ न बनकर बालक के आनन्द का केन्द्र बन जायगी और उसकी स्फूर्ति की वृद्धि करेगी।

इसी तरह जब लक्ष्मण-परशुराम-संवाद पढ़ाया जावे तो शिक्षक को चाहिये कि अपनी कक्षा में एक प्रकार की छोटी सी रामलीला करावें। बालक इस तरह दूसरों के सामने खुलकर बोलना सीखता है। उसका दब्बूपन जाता रहता है तथा उसकी आविष्कारात्मक कल्पना की वृद्धि होती है।

अभिनय बालक की शिक्षा का भारी साधन है किन्तु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम अभिनय को ही ध्येय न बना ले। जब अभिनय कराना ही हमारी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य हो जाता है तो उसकी सफलता के लिए बालक के बहुत समय और शक्ति का अपव्यय होता है। अभिनय के विषय की सब बातें बालको को ही सोचना चाहिये। जब शिक्षकगण एक पूरी योजना या प्रोग्राम बनाकर किसी अभिनय को बालकों द्वारा कराते हैं तो बालको को ऐसे अभिनय से अधिक लाभ नहीं होता। न तो उनकी रचनात्मक कल्पना की वृद्धि होती है और न उनमे आत्मविश्वास ही दृढ़ होता है।

अभिनय की प्रवृत्ति का परिमित मात्रा मे बढ़ना ही बालक के लिए लाभदायक होता है। इस प्रवृत्ति का अत्यधिक बढ़ना हानिकर है। "अति सर्वत्र वर्जयेत्" यह सिद्धान्त अभिनय के विषय में भी पूर्णतः लागू है। प्रत्येक अभिनय-क्रिया का संबंध

किसी न किसी संवेग से रहता है। अतएव ऐसी क्रिया के करते समय मन उद्विग्न हो जाता है। बालकों के मन का बार बार उद्विग्न होना मानसिक गम्भीरता लाभ करने में बाधक होता है। इसके कारण बालक को भविष्य मे अनेक प्रकार के दुःख उठाने पड़ते है तथा शान्त-चित्त होकर किसी विषय पर विचार करना उसके लिए कठिन हो जाता है। किन्तु हमारे जीवन के अधिक कार्य्य ऐसे ही है जिनमे शान्त-चित्त और गम्भीरता के बिना सफलता प्राप्त करना असम्भव है। जो बालक सदा अभिनय की बुद्धि से प्रेरित रहता है, वह दूसरो के साथ व्यवहार करते समय अभिनेता की भाँति ही व्यवहार करता है। उसे अपनी ऐसी किसी भी क्रिया से सन्तोष नहीं होता, जिसे देखकर दूसरे लोग आश्चर्य न करने लगे, अतएव वह समय समय पर झूठा व्यवहार करने लगता है। बालकों को इस मनोवृत्ति से बचाना अभिभावकों और शिक्षको का कर्त्तव्य है।

कल्पना और कला

बालकों की कल्पना के विकास का सबसे सुन्दर साधन कला है। जो शिक्षक बालकों की रचनात्मक कल्पना की वृद्धि का महत्त्व समझते हैं, उन्हे बालको की सब प्रकार की कलाओ मे रुचि पैदा करनी चाहिये। बालकों की छोटी छोटी कृतियो को इस प्रकार देखना चाहिये कि वे उनकी भावी योग्यताओं की प्रतीक हैं। कितने ही बालकों की प्रतिभा योग्य शिक्षकों के अभाव में अविकसित रह जाती है। जैसे पारखी के अभाव में अमूल्य-रत्न की दुर्गति होती है, इसी तरह योग्य और सहृदय शिक्षको के अभाव मे प्रतिभाशाली बालकों की प्रतिभा का सदुपयोग नहीं होता।

बालकों मे कला के प्रति प्रेम शिशु-काल से ही पैदा किया जा सकता है। बालक जैसे वातावरण मे रहता है, उसका प्रभाव उसके जीवन पर अवश्य ही पड़ता है। यदि शिशु-काल से ही बालक कला-प्रेमियो के साथ रहे तो वह स्वयं कला-प्रेमी बन जाय। जो बालक अपने आस-पास सुन्दर वस्तुएँ देखता है, उसका स्वभाव सौंदर्यप्रिय हो जाता है।

बालको की रचनात्मक कल्पना की वृद्धि चित्र-कला और कविता से ही हो सकती है। जब बालकों से कोई कहानी कही जाय तो शिक्षकों को चाहिये कि वे उस कहानी को बालको द्वारा लिखाने के समय उसमे वर्णित घटनाओ का चित्र भी बनवावे। हमे यहाँ इस बात को महत्त्व नहीं देना है कि बालक कितना सुन्दर चित्र बनाता है, हमे महत्त्व इस बात पर देना है कि वह अपनी कल्पना को कहाँ तक चित्रित कर सकता है। जो बालक एक सुनी हुई कहानी का चित्र बना सकता है, वह कहानी का वास्तविक लाभ उठाता है। जब बालक सुनी हुई कहानी को दुहराता है, तो उसकी ग्रहणात्मक कल्पना ही काम करती है, किन्तु उसका चित्र खीचते समय उसकी रचनात्मक कल्पना भी कार्य करती है।

प्रत्येक स्कूल मे बच्चो की हस्तलिखित मासिक पत्रिका होनी चाहिये, जिसमे बालको के सुन्दर लेख, चित्र तथा कविताएँ प्रदर्शित की जायँ। इस प्रकार बालको को अनेक कार्यो मे प्रोत्साहन मिलता है और उनकी रचनात्मक कल्पना की वृद्धि होती है। स्कूल के अधिकारियो को चाहिये कि बालकों की कला की प्रदर्शनी करें, और जो बालक ऐसी प्रदर्शिनियों मे योग्य सिद्ध हो, उन्हे उचित पुरस्कार दे।

यहाँ यह स्मरण करना आवश्यक है कि जिन्हे साधारण लोग बालक के चित्रो के गुण समझते है वे बाल-मनोविकास की दृष्टि से प्राय· गुण नहीं होते और जिन्हे दोष समझते है वे दोष नहीं होते। जो चित्र शिक्षा-प्रदर्शनियो मे लोगो को साधारणत· दिखाये जाते है उनका महत्त्व बाल-मनोविकास की दृष्टि से अधिक नही है। वे प्रायः दूसरे कलाकारो के अनुकरण मात्र रहते है। हमे बालक के बनाये चित्र मे यह देखना चाहिये कि वह कहाँ तक उसके निजी भावो और कल्पनाओ को प्रदर्शित करता है, और कहाँ तक दूसरो की*। सुन्दर रंग किया हुआ चित्र सुन्दर

---

* लेखक एक बार भारतवर्ष के न्यू एजूकेशन फेलोशिप के सचालक हारवे महाशय के साथ ग्वालियर की १९३५ ई० में हुई शिक्षा-प्रदर्शनी की वस्तुओं को देख रहा था। उस प्रदर्शनी मे बालको

नहीं है, सुन्दर कल्पनावाला चित्र ही सुन्दर है। पाठकगण किसी चित्र को इस दृष्टि से देखें कि उसमें बालक की रचनात्मक कल्पना कहाँ तक कार्य्य करती है।

मनुष्य की सुन्दर से सुन्दर कल्पना का बाह्य-रूप कविता है। जो व्यक्ति उच्च कविता के रस का आस्वादन कर सकता है उसका जीवन सराहनीय है। कविता मनुष्य के अन्तस्तल की अनुभूति को व्यक्त करने का साधन है। यह हृदयस्थित अनुभूति पहले कल्पना के रूप में कवि के मन में अवतीर्ण होती है। पीछे व्यक्त जगत् में कविता-रूपी सरिता होकर प्रवाहित होती है। बालको को सब प्रकार की कला में प्रवीण करने का एक बड़ा लाभ यह है कि कला में निहित सौन्दर्य की उपासना से बालक के विचार तथा भाव सुन्दर हो जाते है, ऐसे बालक अपने जीवन में मानसिक स्वास्थ्य का दूसरे बालको की अपेक्षा अधिक उपभोग करते है। कविता हृदय को पवित्र करनेवाली पुनीत जाह्नवी है। यह मनुष्यमात्र का कल्याण करती है; उन्हे दुर्वासनाओं से मुक्त कर परमानन्द का उपभोग कराती है। ससार जितना ही कविता और कला से विमुख हो रहा है, उतना ही अन्तर्ज्वाला से दग्ध हो रहा है तथा विनाश की ओर अग्रसर है। जब तक मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन को सुन्दर नहीं बना लेता, उसका बाह्य-जीवन कदापि सुन्दर और सुखी नहीं हो

के बनाये अनेक सुन्दर चित्र दिखाये गये थे। हारवे महाशय को उनमें से एक भी चित्र अच्छा न लगा। उन्होंने उन चित्रों में यही त्रुटि बताई कि वे बालक के व्यक्तित्व को प्रकाशित नहीं करते थे। उनमें बालको की रुचि या कल्पना नहीं पाई जाती थी। वे किसी बड़े कलाकार के अनुकरणमात्र थे। कई एक चित्रो मे ॲगरेज़ी वातावरण था। हारवे महाशय ने कहा कि यह वातावरण भारतवर्ष के बालकों की कल्पना में कैसे आ सकता है। अतएव ऐसे चित्रों मे बालकों की कल्पना एव व्यक्तित्व का विकास नहीं होता। बालकों से चित्र बनवाने के लिए चित्र बनवाना वैसा ही व्यर्थ है जैसा कि अभिनय मे दक्ष करने के लिए बालको से अभिनय करवाना।

सकता। जिन मनुष्यों के हृदय मे कलह है, वे वाहर की कलह मिटाने में कैसे सफल हो सकते हैं। वाह्य-जगत् अन्तर्जगत् का प्रतिविम्व मात्र ही तो है।

यदि उपर्युक्त कथन में कुछ भी सत्य है तो शिक्षकों को चाहिये कि वालकों को कला और कविता-प्रेमी वनावें। इससे उनकी कल्पना सुन्दर होगी तथा उनके भाव सुनियन्त्रित और आनन्ददायी वन जावेंगे। मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रत्येक वालक को कविता-प्रेमी वनाना परमावश्यक है।

वालको के हृदय मे कविता के लिए रुचि शैशवावस्था से ही वढ़ाई जा सकती है। पर हमें यहाँ इस वात को ध्यान में रखना चाहिये कि वालको की कविताएँ उनकी कल्पनाओ, रुचियों और अनुभवो के अनुसार ही हों। विहारी की सतसई, रहीम के दोहे, छायावादी कविताएँ प्रौढ़ लोगों को ही अच्छी लग सकती हैं। वालकों की कविता में तो आँख और कान से देखने और सुननेवाली वस्तुओ का ही वर्णन होना चाहिये। वालक समवयस्क वालकों के जीवन मे ही रुचि रखता है। अतएव उसकी कविता मे जहाँ तक वालकों के भावो और क्रियाओं का वर्णन हो उतना ही अच्छा है।*

---

* जर्मन भाषा में जितनी सुन्दर कविताएँ वालको के लिए हैं उतनी जान पड़ता है किसी देश के साहित्य में नहीं हैं। शिक्षा-शास्त्र संसार को जर्मनी की देन है। हम वहाँ के वाल-साहित्य में एक से चढ़कर एक चमत्कारिक वात पाते हैं। यहाँ शिशु-कक्षा की एक कविता का उद्धरण अवाञ्छनीय न होगा—

WETTSTREIT.

Der Kuckuck und der Esel,
die hatten grossen streit,
wer wohl am besten sänge
zur schönen Maienzeit
Der Kuckuck sprach · 'Das kann ich''
und fing gleich an zu schrei'n

जब बालकगण कोई कविता स्वयं बनावें तब उन्हें उचित प्रोत्साहन देना चाहिये। बालकों की कृति पर हमें कदापि हँसना नहीं चाहिये; चाहे वह हमे कितनी ही तुच्छ क्यों न जान पड़े। कवि की प्रतिभा वास्तव मे ऐसी ही तुच्छ कृतियों में पहले पहल प्रदर्शित होती है।* कभी कभी बालको की कल्पना इतनी सुन्दर

"ich aber kann es besser,"
fiel gleich der Esel ein.

Das klang so schon und lieblich,
so schon von fern und nah,
sie sangen alle beide
"Kuckuck, kuckuck, i-a !"

कविता का शीर्षक है "होड़ाहोड़ी"। एक कोयल और एक गधे में यह लड़ाई हुई कि कौन अच्छा गाता है। कोयल ने कहा—मै ऐसे गाती हूँ और गाने लगी। गधे ने कहा, मैं इससे भी अच्छा गा सकता हूँ। दोनों गाने लगे। उनका राग दूर दूर सुनाई देता था। कोयल "कू, कू" कर रही थी और गधा "रेंभो, रेंभों" चिल्लाता था।

ऐसी कविताएँ बालकों को कितना आनन्द देती हैं और उन्हें कितनी जल्दी याद हो जाती हैं, यह पाठक स्वयं जान सकते हैं। साथ ही साथ ये कविताएँ गुप्त रूप से नैतिक और व्यावहारिक शिक्षा भी देती हैं।

* नीचे बिसेन्ट स्कूल (बनारस) की एक ११ वर्ष की बालिका की कविता का उद्धरण है—

हवा

हवा कहाँ तुम जाती हो,
क्या कभी न तुम सुस्ताती हो ?
दिन भर दौड़ धूप करती हो,
क्या कभी न तुम थकती हो ?

होती है कि वहाँ तक हमारी पहुँच हो नहीं रहती। यह बात किशोर बालक की कृतियो के विषय में निश्चित रूप से कही जा सकती है।

कल्पना और स्वास्थ्य

कल्पना और स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वस्थ मनुष्य की कल्पनाएँ सुन्दर और आनन्ददायी होती हैं; अस्वस्थ मनुष्य की कल्पनाएँ बीभत्स और हृदय को पीड़ित करनेवाली होती हैं। प्रत्येक पाठक को अनुभव होगा कि शरीर की अस्वस्थावस्था में अभद्र कल्पनाएँ मन को घेरे रहती है। जब शरीर निर्बल रहता है, तो मन भी निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य बुरे विचारो का मन मे आना रोक नहीं पाता। कभी कभी आनेवाली बीमारी पहले से ही मनुष्य की कल्पना में आने लगती है। यहाँ शारीरिक अस्वस्थता ही बुरी कल्पना का कारण है।*

जाती हो तुम कहाँ रोज,
करती हो तुम किसकी खोज ?
आओ हम तुम मिल जावे,
और यहाँ से भग जावें।

—प्रमिला देवी

* जब शरीर अस्वस्थ रहता है तो प्रायः अभद्र कल्पनाएँ ही मन में आती हैं। इसका एक प्रधान कारण यह है कि शरीर की अस्वस्थ अवस्था मे मनुष्य के संवेग विचलित रहते हैं। हम शरीर की आन्तरिक क्रियाओं का सवेगों से सम्बन्ध पहले ही बता चुके हैं। कल्पनाओं के स्रोत भाव तथा सवेग हैं। अस्वस्थ अवस्था में वे शरीर की ग्रन्थियाँ जिनका संवेगों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, ठीक से कार्य नहीं करती तथा ऐसी अवस्था में मनुष्य का मस्तिष्क भी कमज़ोर रहता है; अतएव वह अवाञ्छनीय सवेग का नियन्त्रण नहीं कर पाता। इस तरह से शरीर के विकार सवेगों को विकृत करते हैं और ये विकार विकृत कल्पनाओं के रूप में प्रदर्शित होते हैं। यदि हम किसी बालक के साधारण स्वास्थ्य की वृद्धि करें, तो उसकी कल्प-

फिर जब एक बार बुरी कल्पना मन में स्थान पा लेती है तो उसको दूर करना असम्भव हो जाता है। इस तरह कल्पना वास्तविकता में परिणत हो जाती है।

जिस प्रकार शरीर की अस्वस्थता का प्रभाव मन पर पड़ता है, उसी तरह मन की अस्वस्थता का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। यदि किसी मनुष्य की कल्पनाएँ सुनियन्त्रित रहें तो वह हज़ारो शारीरिक रोगों से सरलता से मुक्त हो जाय। उसके समीप रोग आवें ही नहीं। कितने लोग अपनी दुर्भावनाओं के कारण अनेक भयंकर रोगों के शिकार बन जाते हैं और समय से पूर्व अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर देते है अतएव बालकों में सुन्दर कल्पनाओ का अभ्यास डालना उन्हें जीवन प्रदान करना है। इस प्रकार की कल्पनाओं से उनके शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा अपने आप ही हो जाती है।

—

नाएँ अपने आप ही सुन्दर हो जावेंगी। जो बालक निकम्मा आलसी रहता है, उसके विचार कदापि भले नहीं रह सकते। आलस्य शरीर की अस्वस्थ अवस्था है, ऐसी अवस्था में स्वस्थ और सुन्दर कल्पनाओं का आना सम्भव नहीं।

सत्रहवाँ प्रकरण

भाषा-विकास

भाषा-विकास का महत्त्व

बालको के मानसिक विकास को समझने के लिए भाषा-विकास का जानना परमावश्यक है। भाषा भाव तथा विचार प्रकाश करने का एक साधन है। भाषा के अतिरिक्त हम दूसरी तरह से भी भाव और विचार प्रकाशित करते है। किन्तु जितनी सुविधा से हम शब्दो द्वारा उन्हे प्रकाशित करते है उतनी सुविधा से हम किसी दूसरे प्रकार से प्रकाशित नहीं कर सकते। गूँगे लोग अपने भावो और विचारो का प्रकाशन संकेतो द्वारा ही करते हैं किन्तु वे बहुत थोड़े ही भावो को इस प्रकार प्रकाशित कर सकते है। जो व्यक्ति शब्दों द्वारा अपने विचारो का प्रकाशन नही कर पाता उसका जीवन अधूरा रह जाता है। वह संसार के अनेक उपयोगी कार्य्य नहीं कर पाता।

भाषा केवल विचार-प्रकाश करने का साधन मात्र ही नहीं है, किन्तु वह हमारी अनेक मानसिक शक्तियों की वृद्धि का मुख्य उपाय है। जब बालक अपने विचार दूसरों से प्रकाशित करता है तब उसके विचार स्पष्ट और सुसंगठित हो जाते हैं। वह अपनी शक्ति का ज्ञान उस आत्मप्रकाशन की चेष्टा से कर लेता है। अनेक विद्वानो का मत है कि बिना भाषा के विचारों को स्पष्ट करना सम्भव नही। जैसे जैसे भाषा का विकास होता है वैसे वैसे बुद्धि का विकास होता है और भाषा-विकास के साथ साथ विचार भी सुसंगठित होते हैं। बुद्धि-माप के प्रयोगो से पता चला है कि मनुष्य मे विचार करने की शक्ति और उसके भाषा-ज्ञान मे आन्तरिक सम्बन्ध है। जितना ही जिस बालक का भाषा-ज्ञान होता है, वह बुद्धि मे उतना ही प्रवीण पाया

जाता है। किसी भी राष्ट्र की भाषा का अध्ययन करके हम वहाँ वालों के बुद्धि-विकास का पता लगा सकते हैं।* जिस राष्ट्र की भाषा में सूक्ष्म विचारों को व्यक्त करने के लिए पर्य्याप्त और उपयुक्त शब्द नहीं हैं उस राष्ट्र का मानसिक विकास अवरुद्ध समझना चाहिये। इसी तरह जिस व्यक्ति का शब्द-भाण्डार परिमित है वह अनेक सूक्ष्म भावों से अज्ञ रहता है। जब तक बालक का शब्द-भांडार संकुचित रहता है तब तक उसे संसार की अनेक बातों का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। मैक्समुलर महाशय का कथन है कि शब्द और वास्तविकता का ऐसा अटूट सम्बन्ध है कि एक का ज्ञान दूसरे के ज्ञान बिना नहीं हो सकता। यदि इस तरह देखा जाय तो बालक का जितना ही वास्तविकता का ज्ञान बढ़ता है, उतना ही उसका शब्द-ज्ञान बढ़ना आवश्यक है, अर्थात् बालक का शब्द-ज्ञान उसके वास्तविक ज्ञान का परिचायक है।

---

* The history of the development of language of the race is the history of the growth of intelligence Man's superiority over lower animals can be explained almost completely on the basis of language Language keeps pace with the growth of civilization. The same is true in the life of the individual At first the infant deals only with the concrete; later with ideas and language Education consists to some extent in the growth of language habits The best single measure of the intelligence of an individual is the size of his vocabulary" —*Dumville, Fundamentals of Psychology, p. 127.*

डंभेल महाशय का कथन है कि किसी जाति के भाषा विकास का इतिहास उसकी बुद्धि-विकास का इतिहास है। दूसरे जानवरों से मनुष्य भाषा के कारण ही अधिक शक्तिशाली है। सभ्यता का विकास और भाषा का विकास एक साथ ही होता है। पहले-पहल बच्चा प्रत्यक्ष पदार्थों से अपना काम चलाता है, पीछे वह भाषा को काम में लाना सीख जाता है। शिक्षा का एक प्रधान लक्ष्य बालक को ठीक भाषा सिखाना है। किसी भी व्यक्ति की बुद्धि का सर्वश्रेष्ठ माप उसका शब्द-भण्डार है।

माता-पिता और अभिभावकों को भाषा के सीखने की क्रिया का भली भाँति अध्ययन करना चाहिये। यह एक ऐसी क्रिया है जिसकी ओर हमारा चित्त प्रायः आकृष्ट नहीं होता। बालक अपने आप भाषा सीख लेता है और हम प्रायः यह सोचते हैं कि हमारा इस विषय में कोई कर्त्तव्य ही नहीं। किन्तु यहाँ इस बात का बताना आवश्यक है कि बालक की भाषा सीखने से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी अनेक समस्याएँ हैं, जिनका गहन विचार करना आवश्यक है। बालक का भाषा का ज्ञान प्रौढ़ावस्थावालों के भाषा-ज्ञान के समान नहीं बढ़ता। उसके भाषा-ज्ञान प्राप्त करने का तरीका हमारे तरीको से बहुत कुछ भिन्न होता है। इन सब बातो पर हमें विशेष ध्यान रखना चाहिये।

शब्दोच्चारण के उपकरण

हम भाषा इतनी सरलता से बोलते है जिससे हमारा ध्यान ही इस ओर नहीं जाता कि भाषा का उच्चारण करना कितना कठिन कार्य्य है। भाषा का उच्चारण करने के लिए हमारे शरीर के अनेक अवयवो की तैयारी की आवश्यकता है। भाषा-उच्चारण शरीर के किसी एक अंग का कार्य्य नहीं है। उसके उच्चारण मे मुँह, जीभ, गला और फेफड़ा इत्यादि कई अंग काम करते हैं। इन सबके कार्य्यों में जब तक एकता नहीं स्थापित हो जाती, भाषा का उच्चारण करना कठिन होता है। इसी तरह बालक के मस्तिष्क की वृद्धि की आवश्यकता भाषा-उच्चारण के लिए है।

अब यदि मानसिक तैयारी की दृष्टि से देखा जाय तो भाषा-ज्ञान के लिए पदार्थों के भेदों को समझना आवश्यक है। बालक जब तक पदार्थों के भेदों को और उनकी विशेषताओं को नहीं जान पाता, तब तक उसके भाषा-ज्ञान की वृद्धि नहीं होती। अनेक पदार्थों तथा उनके गुणो को संकेतित करने के लिए नये नये शब्दो की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता के पड़ने पर ही बालक भाषा-ज्ञान की मौलिकता को समझने लगता है।

भाषा का प्रारम्भ

अनेक प्रकार की मानसिक तैयारी के बाद भाषा का आरम्भ होता है। बालक मे शब्दोच्चारण करने की सहज प्रवृत्ति होती है। वह सार्थक शब्दोच्चारण के पूर्व कई प्रकार के निरर्थक शब्दो का उच्चारण करता है। उसका इस प्रकार का अभ्यास उसे भाषा सीखने मे बड़ा लाभ देता है। इससे उसका अनेक प्रकार की ध्वनियों से परिचय हो जाता है।

बालक का पहले पहल शुद्ध उच्चारण करना दूसरों का अनुकरण मात्र होता है। बालक जब किसी शब्द को आस-पास के लोगो से बार बार सुनता है तो उसकी अनुकरण करने की प्रवृत्ति उसे उस शब्द का उच्चारण करने को प्रेरित करती है। इस प्रकार वातावरण मे बार-बार होनेवाले शब्द बालक को बोलने के लिए उत्तेजित करते है। बालक जब सार्थक शब्दों को बोलने लगता है तब धीरे धीरे उन शब्दो की शक्ति का भी उसे ज्ञान होता है। वह देखता है कि लोग विशेष शब्द का प्रयोग विशेष अवसर पर करते हैं और जब वह भी उस शब्द का उच्चारण करता है तो उसके आस-पास के लोग विशेष प्रकार से उसके साथ व्यवहार करते है। भाषा का उपयोग करने से पहले ही बालक कुछ निरर्थक शब्दो द्वारा प्रौढ़ लोगो को अपनी भावनाओ का परिचय कराता है। फिर जब उसके सीखे हुए शब्द उसकी कुछ इच्छाओ के तृप्त करने मे सहायक होते हैं, तो उसे शब्दो की शक्ति का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार से बालक के भाषा सीखने का काम प्रारम्भ होता है। निरर्थक शब्दोच्चारण, सहज अनुकरण और शब्दार्थ-ज्ञान ये तीन बातें बालक के बोलने के प्रथम प्रयास मे सदा पाई जाती है।

लेखक की बालिका शान्ति जब १ वर्ष की थी, वह देखती थी कि कभी कभी उसकी माँ 'तू—तू' शब्द उच्चारण करती है। सुनते सुनते वह भी अपने मुँह से उसका उच्चारण करने लगी। कुछ समय के बाद वह जानने लगी कि

'तू-तु' शब्द कहने पर कुत्ता दौड़कर आ जाता है। जब कभी शान्ति उस शब्द का उच्चारण करती, कुत्ता दौड़कर आ जाता था। अब उसे 'तू-तु' शब्द का ज्ञान हो गया है। १५ महीने की होने पर वह 'तू-तू' शब्द के सुनते ही कुत्ते की कल्पना कर लेती थी और कभी कभी अपने आप भी कुत्ते को 'तू-तू' करके बुलाती थी। इस तरह शान्ति का भाषा-ज्ञान आरम्भ हुआ।

पाठकगण यदि छोटे बच्चों की भाषा की तरफ ध्यान दें तो देखेंगे कि बालक ऐसे अनेक सार्थक शब्दों का उच्चारण करते हैं, जिनके अर्थ का उन्हें ज्ञान नहीं होता। शांति बीस माह की अवस्था में १ से २० तक गिनती कह लेती है। किन्तु उसका अर्थ जानना उसकी बुद्धि के बाहर की बात है। वह तीन नहीं कहती। जब कभी उसका भाई उससे 'तीन' कहलाने की कोशिश करता है वह झट 'चार' कह देती है। वास्तव में वह तीन का उचारण सरलता से नहीं कर पाती। इस बालिका को गिनती कहने में बड़ा आनन्द आता है। गिनती के अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका उचारण तो वह करती है पर अर्थ नहीं जानती। किन्तु इन शब्दों की अपेक्षा सार्थक शब्दो की संख्या अधिक है।

प्रायः सभी एक साल के बालक कुछ कुछ बोलने लगते हैं। किन्तु इस विषय में वैयक्तिक भेद अवश्य हैं। कोई कोई बालक नव महीने के होने पर ही बोलने लगते हैं और कोई कोई अठारह महीने की अवस्था तक संकेतो से ही काम चलाते हैं। बालक का देरी से बोलना विशेष चिन्ता का विषय न होना चाहिये। कई बालक एक बार बोलना प्रारम्भ करने के बाद भाषा-ज्ञान की वृद्धि नहीं करते। वे कई महीनों तक दो-चार शब्दो से ही अपना काम चलाते हैं। जान पड़ता है कि उनकी भाषा सीखने की गति कुछ समय के लिए रुक गई है। किन्तु ऐसा अनुमान करना निराधार है। जिस समय कोई बालक भाषा-ज्ञान की वृद्धि करते नहीं दिखाई देता, उस समय वह वातावरण से उन संस्कारों का सञ्चय करता रहता है, जो उसे पीछे भाषा के बोलने में सुविधा देते हैं। अतएव

देखा गया है कि जो बालक कुछ समय के लिए भाषा सीखने में रुका हुआ जान पड़ता था, वह एकाएक भाषा-ज्ञान की वृद्धि कर लेता है।

विलियम स्टर्न का कथन है कि बालकों की अपेक्षा बालिकाएँ अधिक शीघ्र भाषा सीख लेती है। बालिकाओ में बालकों की अपेक्षा अनुकरण करने की प्रवृत्ति तीव्र होती है। अतएव वे बालकों की अपेक्षा बोलना पहले शुरू करती हैं और सदा उनसे भाषा सीखने में आगे रहती है। बड़े बालक की अपेक्षा घर के छोटे बच्चे अधिक जल्दी बोलना सीखते है। भाषा सीखने में अनुकरण का बड़ा कार्य है। जिस बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति प्रबल होती है, और जिसे अनुकरण का अवसर मिलता है, वह जल्दी भाषा सीखता है। घर के सबसे बड़े बालक को दूसरे बालकों की अपेक्षा योग्य अनुकरणीय व्यक्ति का अभाव रहता है। बालक जितने चाव के साथ समवयस्क बालक का अनुकरण करता है, उतनी रुचि के साथ प्रौढ़ लोगो का अनुकरण नही करता। अतएव बालक का सबसे योग्य शिक्षक बालक ही है। जिस घर मे बालक अकेला ही होता है, उसमें उसे वह सहूलियत नहीं मिलती, जिससे वह भाषा-ज्ञान सरलता से उपार्जन कर सके। भाषा सीखने की दृष्टि से बालक का बड़े परिवार मे रहना लाभदायक है।

जिन घरो के लोग बालक को भाषा सिखाने में रुचि रखते हैं उनकी अपेक्षा रुचि न रखनेवाले घरो के बालक भाषा सीखने मे पिछड़े रहते है। जब माता-पिता बालक को भाषा सीखने में उत्साहित करते है, उसकी सफलता पर प्रसन्नता प्रकट करते है तो वह जल्दी जल्दी भाषा सीखता है। प्रोत्साहन के अभाव में जिस प्रकार प्रौढ़ जन किसी कार्य में उन्नतिशील नहीं होते, उसी प्रकार बालक भी बोलने में उन्नति नहीं करते। सुशिक्षित घरों के बालक अशिक्षित घरो के बालको की अपेक्षा जल्दी बोलना सीखते है। इसी तरह धनी घरों के बालक श्रमजीवी लोगों के बालकों की अपेक्षा बोलने मे आगे रहते हैं। गरीब लोगों को अपने बच्चो के ऊपर इतना ध्यान देने का अवसर ही नहीं रहता कि वे बैठकर उन्हे बोलना

सिखावें। उनके बालक धीरे धीरे अपनी भोजन आदि की आवश्यकता की पूर्ति के लिए बोलना सीखते हैं और वातावरण से अपने आप शब्दों को सीख लेते हैं। अतएव देखा गया है कि वे भाषा-ज्ञान में धनी घर के बालकों की अपेक्षा सदा पिछड़े रहते हैं। जिस बालक को बालपन में ही दूसरों से आगे बढ़ जाने का प्रोत्साहन मिल जाता है, वह सदा उत्साही और स्फूर्तिवान् बना रहता है। जिस बालक को ऐसा प्रोत्साहन नहीं मिलता, वह दुनियाँ की दौड़ में सदा पिछड़ा रहता है। भाषा-ज्ञान सब ज्ञानों का साधन है। अतएव भाषा-ज्ञान में पिछड़ा हुआ बालक दूसरी बातों के सीखने में भी पिछड़ जाता है और वह मंद बुद्धि सा दिखाई देने लगता है।

शिशु की भाषा की विशेषताएँ

शब्दों का चुनाव—बालक हजारों शब्द अपने आसपास के लोगों को कहते सुनता है। उनमें से वह थोड़े से शब्दों को अपने काम के लिए चुन लेता है। इन्हीं शब्दों को वह बोलता है और इन्हीं के द्वारा अपनी अनेक भावनाओं को व्यक्त करता है। बालक इस प्रकार शब्दों का चुनाव जान-बूझकर नहीं करता; यह उसका एक प्रकार की सहज क्रिया का परिणाम है, अर्थात् बालक अज्ञात रूप से ही ऐसा चुनाव करता है।

बालक के शब्दों का चुनाव आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार के कारणों से प्रभावित होता है। बालक को सुनने में जो शब्द अच्छे लगते हैं, उसकी निरर्थक भाषा से जो मिलते-जुलते हैं और जिन शब्दों का अर्थ उनकी ध्वनि से संकेतित होता है, ऐसे शब्दों को बालक शीघ्रता से ग्रहण करता है। जो शब्द बालक की समझ के बाहर अथवा उच्चारण करने में कठिन मालूम होते हैं उन्हें सीखने की चेष्टा बालक नहीं करता। वह बिल्ली का नाम "म्याऊँ" और चिड़ियों का नाम 'चूँ-चूँ' बहुत ही जल्दी सीख लेता है। बिल्लियों और चिड़ियों की बोलियाँ उसे जल्दी आकर्षित करती हैं अतएव यदि किसी वस्तु का नाम उसके द्वारा शब्द होने के अनुसार हो तो बालक को वह जल्दी याद हो जाता है। प्रौढ़

लोगों की भाषा में बहुत से शब्द ऐसे हैं, जिनकी ध्वनि और अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे शब्द सीखने में बालक को कठिनाई मालूम होती है। जिन शब्दों की ध्वनि अर्थ का बोध करती है ऐसे शब्दों को, सुग्राह्य होने के कारण, बालक शीघ्रता से सीख लेते है। माता-पिता इस प्रकार के शब्द बालकों के लिए गढ़ लें, जिन्हे बालक सरलता से सीख सके।

बालकों का शब्दो को सीखना उनकी उच्चारण की योग्यता पर भी निर्भर रहता है। डेढ़ वर्ष तक बालक कुछ स्वरों का और कुछ कठोर व्यञ्जनो का उच्चारण नहीं कर पाता। ऊष्म व्यञ्जनो का उच्चारण बिलकुल असम्भव है*।

संकेतों का उपयोग—बालक अपने अनेक भावों का प्रकाशन करने के लिए संकेतो का उपयोग करता है। शब्दों के उच्चारण करने की शक्ति परिमित होने के कारण वह ऐसे संकेतों का आविष्कार कर लेता है, जिनसे अपनी आन्तरिक इच्छाओ को व्यक्त कर सकें। जिन शब्दो का उच्चारण माता-पिता संकेतो के साथ करते हैं, उनका अर्थ बालक शीघ्रता से

---

* लेखक की २० महीने की बालिका 'ई' स्वर का उच्चारण नहीं कर पाती। उसकी शब्दावली मे निम्नलिखित व्यञ्जन और स्वर पाये जाते हैं—

ग, च, ज, त, द, घ, न प, ब, म - व्यञ्जन

आ, उ, ऐ, ओ, अ—स्वर

† भाषा का अर्थ समझने में बाह्य उपकरणों की सदा आवश्यकता रहती है। शिक्षकों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिये। यदि हम किसी व्याख्यानदाता के शब्दों को आँख मूँदकर सुनें, तो हम चाहे जितनी ध्यान की एकाग्रता करें, उनके अर्थ को उतना नहीं ग्रहण करेंगे, जितना हम उसके चेहरे और शरीर की चेष्टाओं को देखकर ग्रहण करते हैं। योग्य शिक्षक, बालकों को पढ़ाते समय केवल मुँह से ही नहीं बोलता, प्रत्युत अपने प्रत्येक अंग-प्रत्यंग से भावों को व्यक्त करता है। बालक की भाषा हाव-भाव से भरी रहती है। हमें बालकों की भाषा में ही उनसे बोलना चाहिये।

ग्रहण कर लेता है। इसी तरह बालक 'आओ', 'उठो', 'बैठो' इत्यादि शब्दो का अर्थ शीघ्रता से सीख लेता है। जब बालक किसी को बुलाता है तो मुँह से 'आ' 'आ' निकालता है और हाथ से इशारा भी करता है। यदि हम बालक को भाषा सिखाने में संकेतो और हाव-भावो का प्रयोग करें तो उसे बहुत जल्दी भाषा सिखा सकते है।

शब्दों में परिवर्तन—बालको का शब्दोच्चारण बड़ो का अनुकरण मात्र ही नहीं होता। वे कुछ शब्दो को तोड़-मोड़कर कहते है और कुछ चीजो के नये नाम रख लेते है। बालक इसमे अपनी सहूलियत देखते हैं और जो शब्द उन्हे सरल जान पड़ते हैं, उन्हे वे सीख लेते हैं।

यदि आप बालक को कोई नया शब्द सिखाना चाहे, तो देखेंगे कि वह उस शब्द में कुछ विशेष परिवर्तन कर देता है और कुछ शब्दो का उच्चारण न करने का हठ करता है। उनके बदले वह अपने पर्य्यायवाची शब्द ही कहता है। निम्नलिखित प्रयोग शान्ति के (१ वर्ष ६ माह) भाषा-उच्चारण पर किया गया था—

संख्या क्रम	उत्तेजक शब्द	उत्तर
१	आँख	आँक
२	नाक	×
३	कान	×
४	मुँह	मो
५	बाल	जू जू
६	पेट	वेट
७	पाँव	पा
८	रम्मू	अम्मू
९	रानी	नानो
१०	बऊ	बाऊ

संख्या क्रम	उत्तेजक शब्द	उत्तर
११	चीनी	अहाहा
१२	लोटा	×
१३	काका	चाचा
१४	दूध	दूद
१५	कौवा	कोका
१६	चील	ची
१७	चूचू (चिड़िया)	चूचू
१८	पानी	मम्मा
१९	कुत्ता	तूतू
२०	मुन्ना	मुन्ना मुन्ना
२१	गिलास	×
२२	बेर	बे
२३	आदो	आदो
२४	एक	एक
२५	दो	दो
२६	तीन	चा
२७	चार	चा
२८	पाँच	पाँ
२९	गाना	नाना, गाँगाँ।

इस प्रयोग से पता चलता है कि इस बालिका को 'ई' मात्रा का उच्चारण करने में कठिनाई पड़ती है। अतएव उसने उस मात्रा को दूसरी मात्राओ में परिवर्तित कर दिया। ११ नम्बर का शब्द या ऐसी मात्रावाले शब्द का उच्चारण न करके दूसरे पर्य्यायवाची शब्द का उच्चारण किया। बालिका जिन्न शब्दों का उच्चारण नहीं कर पाई, उनका उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। किन्तु जिन शब्दों के पर्यायवाची शब्दो का वह उच्चारण कर

सकती थीं, वे पर्यायवाची शब्द ही उसने जवाब में कहे (५-११-१८-१९ नम्बर के शब्दों को देखिए)। यह बालिका तीन अक्षरों के शब्दों का उच्चारण नहीं करती और कई दो अक्षरोंवाले शब्दों का भी उच्चारण नहीं करती। यह दो अक्षरोंवाले शब्दों को एकहर्फी बना लेती है। बालक अपने पुराने परिचित शब्दों को दृढ़ता से ग्रहण किये रहता है। जहाँ वह दूसरे शब्दों का उच्चारण कर सकता है वहाँ अपने पुराने शब्द से ही काम चलाता है।

इस प्रकार बालक अपनी सुगमता और योग्यता के अनुसार भाषा से शब्द चुना करता है। जिन शब्दों का उच्चारण वह सरलता से कर लेता है और जो स्वय ही अर्थबोधक हैं, उन्हे बालक शीघ्रता से सीखता है। माता-पिता बालकों को इस प्रकार के शब्द सिखाते रहें जिनका उच्चारण वे सरलता से कर सकें। यदि पानी को बालक 'मम्मा' सरलता से कह सकता है, तो उससे 'मम्मा' कहलाना ही ठीक है। इस तरह जैसे हम विदेशियों की भाषा सीखते हैं, वैसे हमे बालक की भी भाषा में निपुण होना चाहिये, ताकि हम बालक के मनोविकास मे योग्य सहायता कर सके।

प्रयोग और बोधशब्दावली

हमारा शब्द-भाण्डार दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिस पर हमारा पूरा अधिकार है, जिसका प्रयोग हम जहाँ चाहे कर सकते है, और दूसरा वह जिसको हम अपने आप प्रयोग मे नहीं ला सकते, किन्तु दूसरो द्वारा प्रयोग किये जाने पर उनके भावो को समझ जाते है। पहले प्रकार की शब्दावली प्रयोग-शब्दावली कही जाती है, और दूसरे प्रकार की बोधशब्दावली कही जाती है। इन दोनो प्रकार की शब्दावलियो मे बड़ी विषमता होती है। हम जब कोई दूसरी भाषा सीखते है, तब हमे यह विषमता प्रत्यक्ष हो जाती है। दो-तीन वर्ष तक अँगरेज़ी पढ़ने पर हम उस भाषा मे दूसरो की बातचीत तो समझ लेते है, किन्तु स्वय नहीं बोल सकते। हम अपनी मातृभाषा के साधारणत: जितने शब्दों को अपने बोल-चाल और लिखने-पढ़ने

के काम मे लाते है, उनसे अधिक शब्दो के अर्थों को समझते है। हम किसी सुलेख के शब्दो को भली भाँति समझ लेते हैं, पर वैसा लेख स्वयं नहीं लिख सकते। पुस्तक के लेखक की प्रयोग-शब्दावली पुस्तक पढ़नेवाले की प्रयोग-शब्दावली से कई गुनी अधिक होती है।

उपर्युक्त दो प्रकार की शब्दावली की विषमता, छोटी अवस्था के बालक की भाषा मे जितना पाई जाती है, उतनी प्रौढ़ व्यक्तियो की भाषा में नहीं पाइ जाता। कभी कभी बोध-शब्दावली का बीसवाँ अंश ही बालक की प्रयोग-शब्दावली मे पाया जाता है*। कितन ही बालक दो ढाइ वर्ष की अवस्था तक नहीं बोलत, किन्तु दूसरो की कही हुई बातो के अर्थ को समझने लगत हैं। कितन हा ऐसे बालक होते है जो एक बार बोलना आरम्भ करके फिर भाषा सीखने मे उन्नति नहीं दिखाते। ऐसे बालक भी अपनी बोध शब्दावली को धीरे धीरे बढ़ाते रहते है और एकाएक शब्दो के प्रयोग मे उन्नति दिखाने लगते है। ऐसा एक उदाहरण स्टर्न महाशय ने अपने एक मित्र के बच्चे का दिया है जो तीन साल की आयु तक भाषा सीखने मे बिलकुल पिछड़ा हुआ था, किन्तु जो एकाएक बोलने लगा और कुछ महीनो मे ही बोलने मे दूसरे बालको के बराबर हो गया।

बालक की बोध और प्रयोग-शब्दावली मे शब्दो की संख्या की विषमता ही नहीं होती, वरन् दोनो शब्दावलियो मे एक ही अर्थ के भिन्न भिन्न शब्द रहते है। बच्चा 'पानी', 'चिड़िया' और 'कुत्ता' का अर्थ जानते हुए भी अपने उपयोग में 'मम्मा',

* शान्ति इस समय २० माह की बालिका है। उसकी प्रयोग शब्दावली मे कुल २० या २५ शब्द हैं। उनमे ३, ४ क्रियापद हैं और उतने ही अव्यय। शेप सज्ञाएँ हैं। दूसरी वस्तुओं अथवा क्रियाओं का बोध वह प्रायः सकेतो द्वारा कराती है। किन्तु उसकी बोध-शब्दावली मे कोई दो सौ शब्द आ चुके हैं। इनमे अधिक संज्ञाएँ हैं, लगभग दो दर्जन क्रियापद हैं, चार-पाँच सर्वनाम हैं और चार-पाँच अव्यय। विशेषणों का पूर्ण अभाव है।

'चूचू', 'तूतू' आदि शब्दो का ही प्रयोग करता है। आप छोटे बालक से कई शब्द एक के बाद एक कहलवाइए, वह शब्दो के उच्चारण में आपकी नकल करता जायगा। किन्तु उससे जिस समय कोई ऐसा शब्द कहा जायगा, जिसका पर्यायवाची उसकी प्रयोग की भाषा मे है तो वह कदापि आपके शब्द को न दुहरायेगा, वह अपने मन का ही शब्द कहेगा। जब जब शान्ति से पानी, चीनी, चिड़िया और कुत्ता शब्द कहे जाते है, वह मम्मा, अहाहा, चूचू और तूतू शब्द ही कहती है अर्थात् वह सुने हुए शब्दो का अनुवाद अपने शब्दो मे कर लेती है।

भाषा-विकास की अवस्थाएँ

भाषा के विकास को हम चार कालो में विभाजित कर सकते है। इनमें से प्रत्येक काल भाषा-विकास की अवस्था माना जा सकता है। ये अवस्थाएँ बालक के मानसिक विकास की द्योतक हैं। हमे प्रत्येक अवस्था की विशेषता जानना आवश्यक है, जिससे हम बालक की भाषा सीखने के कार्य मे उचित सहायता कर सके। ये अवस्थाएँ इस प्रकार है—

प्रारम्भिक अवस्था...जन्म से १ साल तक...निरर्थक शब्दोच्चारण।
दूसरी अवस्था १ साल से १½ ,, ,, एकशब्दी वाक्योच्चारण।
तीसरी ,, १½ ,, ,, २½ ,, ,, सरल वाक्योच्चारण।
चौथी ,, २½ ,, से आगे ,, जटिल वाक्योच्चारण।

निरर्थक शब्दोच्चारण—यह भाषा सीखने की पहली और प्रारम्भिक अवस्था है। इस अवस्था के विषय मे हम बहुत कुछ पहले कह आये है, अतएव यहाँ पर कुछ विशेष कहना आवश्यक नही। इस अवस्था मे बालक निरर्थक शब्दो का उच्चारण करता है। यह भाषा सीखने की तैयारी की अवस्था है। निरर्थक शब्दोच्चारण करके बालक भाषा सीखने के लिए मानसिक और शारीरिक तैयारी करता रहता है। गवैया जिस प्रकार गाना आरम्भ करने के पूर्व अलाप छेड़ता है और सितार बजानेवाला सुरीली 'गति' बजाने के पूर्व सुर-ताल मिलाता है, उसी प्रकार प्रकृति देवी बालक की वाणी से अनेक प्रकार के सार्थक शब्दो का उच्चारण कराने के

पहले उसकी योग्य तैयारी में लगी रहती है। बालक जब सार्थक शब्दों का उच्चारण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तब प्रारम्भिक अवस्था का अन्त हो जाता है। इस अवस्था में बालक का इन्द्रिय-ज्ञान स्थिरता प्राप्त कर लेता है, और वह धीरे धीरे पदार्थ-ज्ञान संचित करने लगता है।

एकशब्दी वाक्योच्चारण—यह भाषा सीखने की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में बालक एक ही शब्द का उपयोग अपने अनेक भावों के व्यक्त करने में करता है। बालक इस समय तक दो चार शब्द ही बोल पाता है। किन्तु इन्हीं के द्वारा वह अपनी अनेक इच्छाओं को व्यक्त कर लेता है। उदाहरणार्थ "माँ" शब्द को लीजिए। बालक जब 'माँ–माँ' चिल्लाता है, तब उसका अर्थ परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न हो सकता है। जैसे—"माँ मुझे भूख लगी है", "माँ मुझे उठा ले", "माँ खिलौना दे दे" इत्यादि। इस अवस्था मे बालक के उच्चारण किये हुए शब्द, शब्दमात्र नहीं है, वे तो वास्तव मे वाक्य है। वे वाक्यां का कार्य्य करते है, अतएव उन्हे शब्द समझना हमारी भूल है। शब्द वाक्य का अग होता है, जिसे हम वाक्य-विश्लेषण द्वारा प्राप्त करते हैं किन्तु जब तक वाक्य के यथार्थ स्वरूप का आविर्भाव नहीं हुआ है, तब तक शब्द ही वाक्य का कार्य्य करता है। बालक के सभी शब्द सज्ञाएँ होती है, ये मनुष्यो या वस्तुओ के नाम होते हैं।

मानसिक विकास की दृष्टि से यह अवस्था प्रत्यक्ष वस्तु-ज्ञान की अवस्था है। बालक इस काल में संवेदना के जगत् से बाहर आकर वस्तुओ के जगत् में विचरण करने लगता है। वह पदार्थों का ज्ञान अपनी इन्द्रियो द्वारा प्राप्त करता है; उन्हे एक दूसरे से पृथक् समझता है और इस ज्ञान को संकलित करने तथा स्थायी बनाने के लिए वस्तुओ के नाम सीखने की भावना उसमे जाग्रत् हो जाती है। अतएव जो बालक भाषा सीखने में जितने पिछड़े रहते हैं वे मनोविकास में भी उतने ही पिछड़े रहते है। भाषा-ज्ञान मनोविकास का लक्षण और साधन दोना ही है।

सरल वाक्योच्चारण—यह अवस्था १½ वर्ष से ३ या ४ वर्ष तक रहती है। विलियम स्टर्न ने इस अवस्था को दो कालों में विभक्त किया है। पहला काल असङ्गठित वाक्योच्चारण का है और दूसरा सुसङ्गठित वाक्योच्चारण का। इस अवस्था के पहले काल में बालक संज्ञा के अतिरिक्त क्रियापद का उपयोग करने लगता है। 'माँ आ' 'बाबा आओ' 'दूदू दे' इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग बालक करने लगता है। धीरे धीरे उसे कुछ अव्ययों का ज्ञान होता है। 'माँ बा'='माँ बाहर चल' इत्यादि वाक्य बालक काम में लाता है। किन्तु इस काल के बालक के सभी वाक्य दो ही शब्दों के बने होते हैं। बालक को सर्वनाम, विशेषण और दूसरे प्रकार के शब्दों का ज्ञान नहीं रहता। उसकी प्रयोग-शब्दावली संकुचित रहती है, किन्तु इस काल में उसकी बोध-शब्दावली बहुत बढ़ जाती है। वह प्रयोग-शब्दावली की बीस गुनी से भी अधिक होती है।

बालक सरल वाक्योच्चारण के दूसरे काल में सर्वनाम, विशेषण, संयोजक और सम्बन्धवाची शब्दों का ज्ञान प्राप्त करता है। उसका वाक्य दो से अधिक शब्दों का बनने लगता है। पहले-पहल शब्दों का क्रम ठीक नहीं होता, किन्तु पीछे शब्दों के अर्थ के अनुसार उनका प्रयोग वाक्य में ठीक स्थान पर होने लगता है। इस समय बालक सुसङ्गठित वाक्य में अपने भावों को व्यक्त करने की योग्यता प्राप्त करता है।

मनोविकास की दृष्टि से अब बालक प्रत्यक्ष वस्तु-ज्ञान की स्थिति से आगे बढ़ जाता है। इस समय वह अपनी स्मृति से काम लेता है और समय समय पर उसकी कल्पना भी उसे जीवन की समस्याओं के सुलझाने तथा अनेक प्रकार के विचार मन में लाने में काम करती है। बालक को काल का ज्ञान इस समय से आरम्भ होता है। वह भूत और भविष्य की कल्पना कर सकता है और दूसरे स्थान के विषय में सोच सकता है। यदि कोई उससे पूछे "राजा तुम कहाँ गये ?" तो वह जवाब दे सकेगा, 'गङ्गाजी'। "अब कहाँ जाओगे ?" "बाजार।" इस प्रकार के उत्तरों में प्रत्यक्ष से अतिरिक्त देश और काल का ज्ञान निहित है।

बालक स्वयं इस प्रकार के प्रश्न पूछता है "माँ कहाँ है?" "मेरा कुरता कहाँ है?" ऐसे प्रश्न उसकी कल्पनाशक्ति के विकास के परिचायक है किन्तु इस काल मे बालक का विचार-विकास नहीं होता। यह कार्य आगे की अवस्था का है।

जटिल वाक्योच्चारण—चौथी अवस्था जटिल वाक्योच्चारण की है। यह चार वर्ष से आगे की अवस्था है। बालक इस समय मिश्रित वाक्यो का प्रयोग करने लगता है। अधीन-वाक्य प्रधान-वाक्य से अनेक प्रकार के सम्बन्ध व्यक्त करता है। कभी कभी इन वाक्यों द्वारा देश, काल और कारण-कार्य के भाव व्यक्त किये जाते है। किसी वाक्य मे शर्त रहती है, और कोई गुणवाची तथा सज्ञावाची वाक्य होता है। बालक के वाक्य लम्बे और एक दूसरे मे गुथे रहते है।*

---

* स्टर्न महाशय की साढ़े तीन वर्ष की बालिका के अपनी माँ से किये गये कुछ प्रश्न इस प्रसग में उल्लेखनीय हैं। बालिका ने ह्वेल मछली का चित्र देखा और माँ से निम्नलिखित प्रश्न किया—

लड़की का प्रश्न	माँ का उत्तर
यह क्या खा रही है?	मछली।
वह मछली क्यो खाती है?	उसे भूख लगी है।
वह रोटी क्यो नहीं खाती?	क्योकि हम उसे रोटी नहीं देते।
हम उसे रोटी क्यो नहीं देते?	क्योकि रोटीवाला रोटी आदमियो को ही बनाता है।
मछलियो के लिए क्यो नहीं बनाता?	क्योकि उसके पास काफी आटा नहीं है।
उनके पास काफी आटा क्यो नहीं है?	क्योकि रोटी बनाने के लिए काफी अनाज नहीं है। क्या तुम नहीं जानती कि रोटी अनाज से बनती है?

इस काल मे बालक अनेक प्रकार के प्रश्न पूछता है। इसके पहले वह जो प्रश्न पूछता था, उसका लक्ष्य पदार्थों के नाम मात्र जानना था। किन्तु अब वह पदार्थों के विशेष गुणो को जानना चाहता है। वह प्रत्येक घटना को 'कब', 'कहाँ' 'क्यो' आदि प्रश्न करके जानना चाहता है। यह विचार-विकास का काल है। इस काल मे बालक की बुद्धि मे कारण-कार्य का भाव आविर्भूत होता है। उसे किसी वस्तु और घटना के देखने मात्र से सन्तोष नहीं होता। वह उनका दूसरी वस्तुओ और घटनाओ से सम्बन्ध जानने की चेष्टा करता है।

बालक इस काल मे अनेक नये शब्दो को गढ़ लेता है। वह पुराने शब्दो को मिलाकर नये शब्द बना लेता है। उदाहरणार्थ यदि बालक "रसोइया" शब्द नही जानता तो "रोटीवाला" कह-कर काम चला लेता है।

भाषाविकास के मानसिक उपकरण

दूसरों का अनुकरण—भाषा-विकास मे अनुकरण की प्रवृत्ति और स्फूर्ति दोनो कार्य करते है। बालक के निरर्थक शब्दोच्चारण मे उसकी स्फूर्ति का काम रहता है। किन्तु सार्थक शब्दो के सीखने मे अनुकरण बड़ा कार्य करता है। जो बालक जन्म से बहरे होते है वे गूँगे भी हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि बहरे बालको को जन्म से ही शब्द नहीं सुनाई देते, इसलिए वे दूसरो से सुने हुए शब्दो का अनुकरण नहीं कर पाते*।

इस प्रश्नोत्तर से बालकों की इस समय हर एक बात के कारण को जानने की उत्सुकता का पता चलता है। जैसे जैसे यह उत्सु-कता बढ़ती है, बालक का भाषा-ज्ञान भी बढ़ता है। इस तरह उसके विचार और भाषा दोनों साथ साथ बढते हैं।

* कहा जाता है कि नेपोलियन ने मनुष्य का स्वाभाविक धर्म जानने के लिए एक वर्ष के बीस बालको को इस प्रकार रक्खा कि उनसे कोई बातचीत न कर पाये। वह इस प्रकार यह पता

नकल दो प्रकार की होती है। एक सहज तथा अज्ञात और दूसरी जान-बूझकर एवं प्रयत्न करने से। भाषा सीखने में प्रायः सहज अनुकरण का कार्य महत्त्व का होता है। शिशु अपने आसपास के वातावरण मे होनेवाले संस्कारो से स्वभावतः प्रभावित होता रहता है। ये शब्द उसके अदृश्य मन में अपने संस्कार छोड़ जाते हैं। कुछ काल के उपरान्त यही संस्कार दृढ़ होकर बालक की भाषा का रूप धारण कर लेते हैं।

दूसरो की भाषा की नकल करने में बालक से चार प्रकार की भूलें होती है—

(१) शब्दोच्चारण सुनने मे भूल।

(२) शब्द की विशेषताओ पर ध्यान देने मे भूल।

(३) शब्दोच्चारण करने मे भूल।

(४) शब्द स्मरण रखने मे भूल।

बालको का मन चञ्चल होता है, अतएव वे भली भाँति किसी की बात नहीं सुन पाते। इससे शब्दो के उच्चारण सुनने मे उनसे भूले हो जाया करती है। वे शब्दो की विशेषता पर भी ध्यान नहीं दे पाते। फिर बालक से शब्दोच्चारण मे भी भूलें होती है। उसकी शब्दोच्चारण करने की शक्ति परिमित होती है। अतएव उसका नये शब्दो को, अपनी उच्चारण करने की योग्यता के अनुसार, परिवर्तित कर देना स्वाभाविक ही है। फिर बालक की स्मरणशक्ति भी तीव्र नही होती। इससे वह कुछ का कुछ याद कर लेता है।

माता-पिता और शिक्षक जिस शब्द को बच्चे को सिखाना चाहें, उसका उच्चारण धीरे धीरे स्पष्टता से करें ताकि बालक भली भाँति शब्द को सुन ले और उसकी विशेष ध्वनि पर उसका

लगाना चाहता था कि ये बालक बड़े होकर प्रौढ़ लोगों से बिना प्रभावित हुए किस धर्म का आविष्कार करते हैं। किन्तु देखा गया कि जैसे जैसे बालक आयु मे बढ़े, गूँगे होते गये। कई एक तो सदा के लिए गूँगे हो गये। जब तक बालक दूसरों की नक़ल करके बोलना नही सीखता, वह बोल ही नही पाता।

महीने के बाद बालक के भाषा सीखने में एकदम परिवर्तन हो गया। उसने मलाया भाषा बोलना एकदम बन्द कर दिया। वह बिलकुल जर्मन भाषा बोलने लगा। कुछ काल के बाद वह मलाया भाषा बिल्कुल भूल गया। जर्मनी मे आकर बालक ने देखा कि उसे मलाया भाषा बोलने के लिए कोई प्रोत्साहित नहीं करता और जिस व्यक्ति की वह भाषा है वह समाज में निकृष्ट गिना जाता है।

भाषा सीखने के उपर्युक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि नई भाषा सीखने मे प्रेम और श्रद्धा का बड़ा कार्य्य होता है। मनुष्य अपने को ऊँचा बनाना चाहता है। यही उसका स्वभाव है। वह आत्मप्रकाशन और सम्मान का सदा इच्छुक रहता है। वह उस कार्य को रुचि के साथ तथा सुगमता से करता है, जिससे उसकी आन्तरिक भावनाओ की संतुष्टि होती है। बालक भाषा सीखने मे इसी नियम को चरितार्थ करता है*।

---

* नकल की गति पानी की गति के प्रतिकूल होती है। मनुष्य सदा अपने से ऊँचे की नकल करना चाहता है। अतएव किसी भी व्यक्ति को अपने से नीची श्रेणीवालों की भाषा सीखने में कठिनाई पड़ती है। भाषा सीखने में हिन्दुस्तानी बड़े प्रवीण माने जाते हैं। हम जितनी जल्दी अँगरेज़ी और जर्मन भाषा सीख लेते हैं उतनी जल्दी जापानी बालक नहीं सीख पाता। अँगरेज लोग वर्षों की कडी मिहनत के बाद भी हिन्दी की कोई परीक्षा जल्दी नहीं पास कर पाते और शुद्ध हिन्दी भाषा बोल सकना तो उनके लिए प्राय असम्भव ही है। इसी तरह तीव्र बुद्धिवाले बंगाली भी वर्षों काशी और इलाहाबाद मे रहकर शुद्ध हिन्दी नहीं बोल पाते। बीस वर्ष पूर्व एक मैट्रिक पास हिन्दुस्तानी सरलता से अँगरेजी बोल लेता था पर अब नही। हमारा आन्तरिक हृदय उन लोगों का अनुकरण करने से रोकता है, जिनको हम श्रद्धास्पद नहीं समझते। बालक के भाषा सीखने मे भी यही सिद्धान्त कार्य करता है। मनुष्य के किसी किसी व्यवहार में श्रद्धा का काम भय और प्रलोभन से अधिक महत्त्व का होता है। भाषा का सीखना एक ऐसा ही व्यवहार है।

भाषा सीखने में बालक सदा श्रद्धाभाव से ही प्रेरित नहीं होता, किन्तु यह उसकी योग्यता पर भी निर्भर है। अतएव वह अपनी ही अवस्था के बालक से जितना भाषा सीखता है उतना प्रौढ़ लोगों से नहीं। अनुकरण का एक साधारण नियम यह है कि नक़ल करनेवाला अपने समान व्यक्ति की ही नकल शीघ्रता से करता है। बालक को समवयस्क दूसरे बालकों के साथ छोड़ देना उसे भाषा सिखाने का सबसे सरल उपाय है।

भाषा सीखने में स्फूर्ति का कार्य्य देभाषी बालक के भाषा-उपयोग में सरलता से देखा जा सकता है। बालक जिस व्यक्ति से जो भाषा सीखता है, उससे उसी भाषा में बातचीत करता है। वह दूसरी भाषा का प्रयोग दूसरे व्यक्ति के लिए करता है। मेरे एक बंगाली मित्र की तीन वर्ष की लड़की जब मुझे देखती थी तो वह हिन्दी-भाषा में बातचीत करने लगती थी; जब अपनी माँ से कोई बात कहती तो बंगाली भाषा में कहती। मैं उससे बंगाली भाषा में बोलने की चेष्टा करता था, तो भी वह मेरी बातो का उत्तर हिन्दी मे ही देती थी। लड़की की माँ हिन्दी भाषा भली भाँति समझती है, किन्तु वह लड़की कभी उससे हिन्दी मे कोई बात नहीं कहती। इसी प्रकार देखा गया है कि कोई कोइ बच्चे तीन-चार प्रकार की भाषाएँ भिन्न भिन्न व्यक्तियो के साथ बोला करते हैं। घर के लोगो के साथ मरहठी, आगन्तुक के साथ ठेठ हिन्दी और मज़दूरिन के साथ देहाती हिन्दी बोलते हुए आप बालको को पायेंगे। यहाँ उनकी स्फूर्ति उन्हें परिस्थिति के अनुसार ठीक भाषा का उपयोग करने में सहायता देती है। वास्तव में इस तरह बालक द्वारा ठीक भाषा का उपयोग अज्ञात रूप से होता रहता है। वह बालक के स्वभाव का एक अंग बन जाता है। फिर जीवन भर बालक इसी तरह भाषा का प्रयोग करता रहता है।*

---

* शिष्टाचार बताता है कि जब तीन चार व्यक्ति एक जगह बैठे हो तो हमें उनमें से किसी एक से बातचीत करने के लिए

स्टर्न महाशय का दिया हुआ एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है। इससे वालक को भाषा के उपयोग मे स्वतन्त्र बुद्धि का कार्य भली भाँति स्पष्ट होता है। स्टर्न महाशय के एक मित्र जर्मन थे, जिनकी स्त्री फ्रेंच थी। पति-पत्नी ने वालकों से बातचीत करने का यह नियम बना लिया था कि एक व्यक्ति वालक से एक ही भाषा मे वातचीत करे। अर्थात् पिता वालक से जर्मन भाषा मे बोलता था और माता फ्रेंच भाषा मे। इस तरह बालक ने पिता से जर्मन भाषा सीखी और माता से फ्रेंच भाषा। इसका परिणाम यह हुआ कि जब बालक पिता से कोई बात कहता था तो जर्मन भाषा का उपयोग करता था और माता से बातचीत करनी होती तो वह फ्रेंच भाषा का प्रयोग करता था। वह इस बात मे कभी भूल नहीं करता था। जब माता का फ्रेंच भाषा में कहा हुआ कोई सदेश पिता से कहने जाता तो उसका अनुवाद कर वह जर्मन भाषा में पिता से कहता था।

हम वालक के व्यवहार का जितना ही अध्ययन करते है, हमे पता चलता है कि वालक एक स्फूर्तिमय आत्मा है। हम उसके व्यवहारो को बाह्य उपकरणो द्वारा नहीं समझा सकते। प्रौढ़ लोग वालक से किसी शब्द का उच्चारण करा सकते है। वह हमारे कहे हुए शब्दो को ग्रामोफोन रिकार्ड के समान दुहरा सकता है, परन्तु ऐसा ज्ञान और उच्चारण भाषा-ज्ञान एवं बोलना नहीं कहा जाता। वालक इन शब्दों का अर्थ अपनी स्फूर्तिमयी आत्मा से ही लगाता है।

जब वालक को यह ज्ञान होता है कि भाषा का प्रत्येक शब्द सार्थक होता है, उसके मन में बहुत प्रसन्नता होती है तो बड़ी

ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये जिसे दूसरे न समझते हों। किन्तु हम व्यवहार मे देखते हैं कि इस शिष्टाचार के नियम से भली भाँति परिचित व्यक्ति भी उक्त नियम की अवहेलना अनजाने वार-वार करते रहते हैं। वास्तव मे जो जिस प्रकार का व्यक्ति है उससे उसी भाषा मे बोलना कई दिन के अभ्यास से हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है।

शीघ्रता के साथ वह नये शब्दों को सीखने लगता है।* वह अनेक वस्तुओं के नाम पूछता है। माता-पिता को चाहिये कि वे बालक की इस प्रकार शब्द सीखने की इच्छा की अवहेलना कभी न करें। बालक के जीवन में एक समय अवश्य ऐसा आता है जब वह अपने भावो को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं पाता। इस काल को मनोवैज्ञानिकों ने शब्दों के अकाल का समय कहा है। बालक इस समय अनेक नये शब्दों का आविष्कार करता है।

बालक के भाषा-ज्ञान की जाँच

भाषा-माप की आवश्यकता—बालक की प्रत्येक साधारण परीक्षा मे भाषा-ज्ञान की आवश्यकता होती है। अतएव जब

---

* हेलिन केलर नामक बालिका के भाषा सीखने का अनुभव यहाँ उल्लेखनीय है। यह बालिका अंधी, बहरी और गूँगी थी। वह ७ वर्ष की अवस्था तक कोई भाषा नहीं सीख सकी। जब वह ७ वर्ष की हुई, उसे मिस सिलेभान नामक अध्यापिका अँगुलियो की भाषा सिखाने लगी। मिस सिलेभान कई दिनों तक हेलेन केलर की हथेली पर पानी को संकेत करनेवाला चिह्न बनाती रही। वह बालिका इसको एक खेल समझती थी। एक दिन मिस सिलेभान उसे पानी के नल के पास ले गई और उसे पानी छुलाया। साथ ही उसे संकेत करनेवाला चिह्न हाथ पर बना दिया। एकाएक हेलेन को ज्ञान हुआ कि सम्भवतः यह चिह्न उस पीनेवाले ठंडे पदार्थ का बोधक है। अब वह पानी का एक नाम जान गई। जिस समय उस बालिका को यह ज्ञात हुआ कि प्रत्येक वस्तु के नाम होते हैं, उसे इतना आनन्द हुआ कि उसके हाथ का कटोरा ज़मीन पर गिर पड़ा। वह एकाएक सैकड़ों वस्तुओं के नाम अपने शिक्षक से पूछने लगी। एक ही दिन में उसने दो तीन सौ शब्द सीख लिये। उसके अज्ञान का पिंजड़ा टूट गया और वह भाषा के सहारे ज्ञान के संसार में विचरण करने लगी।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जिस समय से बालक को शब्दों के अर्थ का ज्ञान होने लगता है, वह बड़े वेग से भाषा सीखने लगता है।

हम बालक की किसी प्रकार की परीक्षा लेते हैं तो उसके भाषा-ज्ञान की परीक्षा अपने आप हो जाती है। भाषा में ही भाव व्यक्त होते हैं। जिस विषय के भाव हमारे मन में नहीं होते, उसकी भाषा भी हमें ज्ञात नही होती। अतएव भाषा-ज्ञान की पृथक् परीक्षा होनी अनावश्यक सी जान पड़ती है। किन्तु आधुनिक काल में हम हर एक बात का वैज्ञानिक नतीजा चाहते हैं। इस ध्येय को सामने रख अनेक प्रकार की नये ढंग की भाषा की परीक्षाओ का निर्माण हुआ है। ये परीक्षाएँ बुद्धि-माप की परीक्षाओ जैसी है। उनके द्वारा हम शीघ्रता के साथ बता सकते हैं कि अमुक बालक भाषा सीखने में पिछड़ा हुआ है अथवा नहीं। इसी तरह विशेष प्रतिभाशाली बालक का भी हम ऐसी परीक्षाओ से खोज ले सकते हैं।

भाषा-ज्ञान की माप के तरीके—बालक के भाषा-ज्ञान की माप कई तरह से की जा सकती है। यहाँ कुछ तरीके उल्लेखनीय हैं, जो मनोवैज्ञानिकों द्वारा काम मे लाये गये है:—

(१) बालक द्वारा प्रयुक्त सब शब्दो का गिनना।

(२) निश्चित समय मे प्रयुक्त शब्दो का गिनना।

(३) प्रश्नावली द्वारा परीक्षा।

प्रयुक्त शब्दों की गिनती—बालक जिन शब्दो को अपने बोलचाल के काम में लाता है, उनको सकेतलिपि से लिखकर हम बालक के भाषा-ज्ञान का पता भली भाँति लगा सकते हैं। यह सबसे सरल तरीका है जिसे सभी माता-पिता काम मे ला सकते हैं। सकेतलिपि के न जानने पर भी हम यह काम कर सकते हैं। यदि हम किसी भी तीन साल के बालक के दिन भर के प्रयुक्त शब्दो को लिखते जायँ, तो हमे प्रायः उसकी पूरी प्रयोग-शब्दावली का परिचय हो जायगा।

बालक की बोध-शब्दावली जानने मे हमे कुछ कठिनाई पड़ती है। बालक जितना छोटा होता है, उसकी बोध-शब्दावली उतनी ही प्रयोग-शब्दावली से बड़ी रहती है। कितने ही ऐसे शब्द हैं जिन्हे न तो बालक प्रयोग में लाता है और न उन्हें बोल ही सकता है किन्तु जिनके अर्थों को वह जानता है। ऐसे शब्दो

की जानकारी का पता चलाने के लिए परीक्षक को चतुराई से काम लेना पड़ेगा। बालक से कई काम कराकर उसकी चेष्टाओं तथा भावों को समझकर ही हम उसकी बोध-शब्दावली से परिचित हो सकते हैं।

इस प्रकार की जाँच के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है, किन्तु ऐसी जाँच के फल में कोई सन्देह नहीं होता। कितने ही मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रकार जाँच कर बालकों की शब्दावली का पता चलाया है।

निश्चित समय मे प्रयुक्त शब्दों की गिनती—यह रीति उपर्युक्त रीति से सरल है। किसी बालक को आप चुपचाप १५ मिनट तक देखें और उसके प्रयुक्त शब्दो को लिखते जायँ। अब इन शब्दों की तुलना आप पहले बनाई हुई लिस्ट से करें। खोज करने से पता चला कि ७ वर्ष का बालक लगभग ३५ शब्दों का उच्चारण करता है और तेरह वर्ष का बालक १५० शब्दों का। ७ वर्ष के बालक की पूरी प्रयोग-शब्दावली ८०० शब्दों की पाई गई और तेरह वर्ष के बालक की ३२०० शब्दों की। बालक की बोध-शब्दावली उपर्युक्त प्रयोग-शब्दावली से कहीं अधिक होती है। प्रेमकाट महाशय ने ५-७ वर्ष की अवस्था के ५० बालकों के पारस्परिक व्यवहार में आनेवाले शब्दों की गिनती की। उनकी संख्या ३६२ पाई। अर्थात् बालक के व्यवहार में आनेवाले शब्द बहुत ही थोड़े होते हैं।

प्रश्नावली द्वारा भाषा-माप—आजकल की भाषा-माप की परीक्षाएँ पुरानी परीक्षाओं से कुछ भिन्न हैं। ये परीक्षाएँ बुद्धि-माप-परीक्षाओं के समान होती हैं। इनके द्वारा थोड़े ही समय में यह बताया जा सकता है कि कोई बालक भाषा-ज्ञान में पिछड़ा हुआ है या नहीं। प्रत्येक अवस्था के बालक के साधारण भाषा-ज्ञान का पता शब्दों की संख्या के रूप में चलाया गया*। इस निश्चित संख्या को मापदण्ड मानकर बालकों

को परीक्षा-पत्र दिया जाता है अथवा उससे प्रश्नो द्वारा शब्दों के अर्थ पूछे जाते हैं। कई पाश्चात्य विद्वानो ने बड़े परिश्रम के साथ बालकों की भिन्न भिन्न आयु में साधारण भाषाज्ञान का पता चलाकर योग्य प्रश्नावलियाँ बनाई हैं। इन प्रश्नावलियों के बनाने के तरीक़ो को जानना बाल-मनोविज्ञान में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक है। भारतीय भाषाओं मे इस प्रकार की प्रश्नावलियों का अभाव है। प्रत्येक देश-हित-चिन्तक मनोवैज्ञानिक को यह अभाव दूर करना चाहिये।

टरमन का तरीका—टरमन ने एक प्रमाणित बुद्धिमापक परीक्षापत्र बनाया है। उन्होने एक शब्दकोष को लेकर सौ शब्दो का चुनाव किया। यह काम करने में उन्होने विशेष प्रकार के शब्दो को न चुनकर किसी भी शब्द को ले लिया। मान लीजिए, यह निश्चय किया गया कि शब्दकोष का हर १८० शब्द के बादवाला शब्द लिया जाय, वह चाहे जो हो। इस प्रकार १८००० शब्दो के कोष से १०० शब्द लिये गये हैं। फिर हज़ारों बालको को यह प्रश्नावली देकर प्रत्येक अवस्था के बालक के साधारण भाषाज्ञान

अवस्था	शब्द-संख्या
१० महीना	१
१ वर्ष	३
१ ,, ६ माह	२२
१ ,, ९ ,,	११८
२ ,, ६ ,,	२७२
२ ,, ९ ,,	४४६
३ ,, ,, ,,	८९६
३ ,, ६ ,,	१२२२
४ , ,, ,,	१५४०
६ वर्ष	२५००
८ ,,	३६००
१० ,,	५४००
१४ ,,	९४००

का पता चलाया गया। इसको एक मापदण्ड मान लिया। अब इसी के द्वारा दूसरे बालकों का भाषाज्ञान मापा जा सकता है।

मान लीजिए, १० साल की अवस्था के बालक टरमन के परीक्षापत्र के १०० शब्दों में से ३० शब्दो को जानते है तो उनकी शब्दावली ३०×१८०=५४०० शब्दो की हुई। हमने १८००० कोष के शब्दों में से १०० शब्दो को ही लिया है। अतएव १८० का गुणा किया गया है। अब यदि हमें किसी १० वर्ष के साधारण बालक के भाषा-ज्ञान का पता चलाना है, तो हम उपर्युक्त माप-पत्र को काम में ला सकते है। हम देखते है कि सामान्य बालक को ५४०० शब्दो का ही भाषा-ज्ञान होता है, अतएव यदि कोई दश वर्ष का बालक ३० शब्द जानता है तो वह सामान्य बालक के समान ही है। न वह पिछड़ा है और न अपनी अवस्था के बालक से आगे है। यदि वह २५ शब्द ही बता सकता, तो उसे हम पिछड़ा कहते; क्योंकि उसका भाषाज्ञान २५ × १८० = ४५०० शब्द अर्थात् लगभग ९ वर्ष के बालक का है। यदि बालक का भाषा-ज्ञान ३० से अधिक शब्दो का है तो उसे उतना ही अपनी अवस्था के बालको से आगे मानना चाहिये।

कुमारी स्मिथ का तरीका—कुमारी स्मिथ ने बालक का भाषा-ज्ञान जाँचने के लिए जो प्रश्नावली बनाई वह टरमन की प्रश्नावली से थोड़ी भिन्न है। टरमन ने शब्दों का चुनाव शब्द-कोष से किया था। कुमारी स्मिथ ने थार्नडाइक की शब्दसूची से परीक्षा करनेवाले शब्दो का चुनाव किया है। थार्नडाइक ने दस हज़ार अँगरेजी शब्दो की एक ऐसी सूची बनाई है, जिसमें शब्दों को साधारण भाषा में प्रयोग में आने के क्रमानुसार रक्खा गया है। जो शब्द अधिक काम में आता है उसे पहले रक्खा गया है और जो कम प्रयोग मे आता है उसे पीछे। थार्नडाइक ने एक प्रकार से भाषा में प्रत्येक शब्द की महत्ता निश्चित की है। इसके लिए उन्होंने २०० भिन्न भिन्न प्रकार के साहित्य लेकर शब्दों के प्रयोग को गिनाया है और इस गिनती

से शब्दो की महत्ता का पता चलाया है*। जैसे हम देखते है कि 'घर' शब्द 'बाग' शब्द से अधिक प्रयोग मे आता है। अतएव 'घर' शब्द का स्थान सूची मे 'बाग' के पहले रक्खा गया।

कुमारी स्मिथ ने इस शब्दावली के ५०० शब्दो को चुनकर अपनी शब्दावली बनाई है। किसी भी बालक की जाँच इस प्रश्नावली द्वारा साधारण बालक से तुलना करके की जा सकती है। इस तरह बालक की भाषा समझने की शक्ति का परिचय मिल सकता है। टरमन और स्मिथ की परीक्षाओ द्वारा बालक की बोध-शब्दावली भली भाँति जानी जा सकती है।

एलाइस डेसक्योडर की परीक्षा—जिनोवा की रहनेवाली श्रीमती डेसक्योडर ने छोटे बच्चो का भाषा-ज्ञान जानने के लिए बड़े परिश्रम से एक परीक्षा-पत्र बनाया है। परीक्षा-पत्र द्वारा २½ वर्ष से लेकर ७½ वर्ष के बालक के भाषा-ज्ञान का पता चलाया जा सकता है। इसमे कुल १०३ प्रश्न है, जो ९ विभागो में विभक्त किये गये है। प्रत्येक विभाग के प्रश्न इस प्रकार रक्खे गये है कि उनमे से कुछ प्रश्न प्रत्येक बालक कर सके। ये प्रश्न हजारो प्रश्नो मे से चुने गये है। छः, छः

---

* थार्नडाइक की सूची प्रौढ़ लोगों के साहित्य से ली गई है, अतएव किशोर बालक का भाषा-ज्ञान जाँचने के लिए इसमे चुने हुए शब्द उपयुक्त नहीं हैं। शिशु के लिए उनके प्रयोग मे आनेवाले शब्दो की अलग सूची होनी चाहिये। कुमारी स्मिथ ने इस प्रकार की सूची २ से ६ वर्ष की अवस्था के बालको की भाषा जॉच करके बनाई है। उसमे प्रत्येक शब्द का तुलनात्मक प्रचलन दिया हुआ है। जैसे "मैं" शब्द की प्रचलन संख्या २५०० है, "है" की १६११, "वह" शब्द की १०४१, "सकता" की ४०१ और "नहीं" शब्द की ३७०। इस सूची से कोई भी व्यक्ति अँगरेज़ी भाषा-भाषी बालको का भाषा-ज्ञान मापने के लिए परीक्षापत्र बना सकता है। हमें भारतीय भाषाओ में भी इस प्रकार के शब्द प्रचलन की सूची बनानी चाहिये तथा उसके द्वारा बालको का भाषा-ज्ञान मापने के लिए परीक्षापत्र बनाना चाहिये।

। के अन्तर से सब अवस्था के बालकों के लिए प्रश्नावली में हैं। इन प्रश्नों को चुनते समय यह देखा गया था कि । प्रश्न को जब ७५ फीसदी एक अवस्था के बालक हल कर तो उस प्रश्न को उस अवस्था के योग्य समझा जाय।

इस प्रश्नावली के भिन्न भिन्न प्रकार के प्रश्नों के नमूने दिये जाते हैं—

(१) बालक को एक वस्तु या तसवीर की विशेषता दिखा- उसके विरोधी गुण को पूछना। जैसे नई और पुरानी । हाथ मे लेकर कहा जाता है, यह क़लम नई है और वह ।...? इसी तरह यह कपड़ा मोटा है और वह कपड़ा...।

(२) दस सरल वाक्यो मे छूटे शब्दो को बताना।

(३) सुनी हुई संख्याओं को दुहराना।

(४) प्रश्न पूछने पर छः पेशो के नाम बताना। जैसे— कौन बेचता है? लड़कों को कौन पढ़ाता है?

(५) छः सामान बनाने में काम में आनेवाले पदार्थों के गिनाना। जैसे—चाबी किस चीज़ की बनी है? जूते चीज़ के बने हैं?

(६) आठ विरोधी भाववाले शब्दो को स्मृति से बताना जैसे— तुम्हारी चाय गरम नहीं है तो वह.........है।

(७) दस रंगो के नाम लेना।

(८) बारह क्रियापदो को कहना। परीक्षक की क्रियाओं के, या अपनी क्रियाओं के, जिसमें वह परीक्षक की नकल कर हो, नाम बालक ले सकता है। जैसे खाँसना, लिखना, ।। इत्यादि।

(९) क्रमशः कठिनाई के पचीस शब्दों को सरल प्रश्नों द्वारा ।।—घर, छाता, पहाड़ी, जहाज़ इत्यादि।

टिस्कोडर ने सुशिक्षित समाज और श्रमजीवी लोगों के बालकों भाषा-ज्ञान में बड़ा अंतर पाया है। शिक्षित लोगों के बच्चों ा साधारण भाषाज्ञान पाया जाता है, वह श्रमजीवियों के बच्चों नहीं पाया जाता।

भाषा की शिक्षा

शिक्षा के द्वारा प्रत्येक मानसिक शक्ति के विकास मे सहायता मिलती है। जितनी योग्यता बालक अपने आप वर्षों मे प्राप्त करता, वह शिक्षा के द्वारा थोड़ी ही देर में प्राप्त की जा सकती है। हमने ऊपर यह कहा है कि बालक का बुद्धि-विकास भाषा-विकास के ऊपर निर्भर है, अतएव किसी शिक्षा-प्रणाली मे भाषा की शिक्षा का प्रमुख स्थान रहना चाहिये। जो बालक भले प्रकार से भाषा का प्रयोग कर सकता है वह अपने विचार सुसङ्गठित कर लेता है और उन्हे योग्यता के साथ दूसरों के समक्ष रखने मे भी समर्थ होता है। जो व्यक्ति शब्दो का प्रयोग ठीक नही जानता वह किसी बात को ठीक तरह से सोच भी नही सकता।

मातृभाषा की प्रधानता—भाषा की शिक्षा मे मातृभाषा का प्रधान स्थान रहना चाहिये। बालक जब तक मातृभाषा का भले प्रकार से प्रयोग करना नही सीख लेता तब तक उसे दूसरी भाषा सिखाई ही नही जानी चाहिये। जब बालक दूसरी भाषा सीखने लगता है उस काल मे भी मातृभाषा की शिक्षा की अवहेलना न करनी चाहिये। भारतवर्ष मे विदेशी राज्य होने के कारण विदेशी भाषा मे दक्ष होना प्रत्येक भारतीय बालक की शिक्षा का प्रधान अङ्ग हो गया है। मातृभाषा की शिक्षा पर उतना ध्यान नही दिया जाता जितना कि अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा पर दिया जाता है। इस प्रकार की शिक्षा से राष्ट्र अथवा समाज की कोई उन्नति नहीं हो सकती। स्वतन्त्र विचार करने का साधन मातृभाषा ही हो सकती है। हम विदेशी भाषा मे अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन नही कर सकते। क्या हम नहीं देखते कि कोई विरला ही व्यक्ति दूसरे समाज या देश की भाषा मे कविता करके ख्याति पाता है? हिन्दुओं में एक से एक चढ़ के फारसी और अँगरेज़ी के विद्वान् हुए पर वे फारसी और अँगरेज़ी साहित्य मे कुछ भी मौलिक रचना न कर सके। यदि कोई व्यक्ति मौलिक विचार समाज को देना

चाहता है तो उसे अपनी मातृभाषा मे ही प्रवीण होना चाहिये। हमारे अंतस्तल के भाव पहले पहल मातृभाषा मे ही चैतन्य मन में आते है।*

उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य है कि बालक की शिक्षा मे मातृभाषा की शिक्षा का प्रधान स्थान रहना चाहिये। जिस देश व जाति के लोग अपने देश की भाषा को महत्त्व का स्थान नहीं देते वे कदापि दूसरे देशों की सभ्यता की बराबरी नहीं कर सकते। ऐसे देशो में आत्मसम्मान और देश-भक्ति का प्रादुर्भाव होना कठिन है†।

भारतवर्ष के कई प्रान्तों में अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा दो वर्ष मातृभाषा मे शिक्षा मिलने के उपरान्त ही प्रारम्भ हो जाती है। यह मनोविकास के नियम के विरुद्ध है। बालक को आठ, नौ वर्ष की अवस्था मे दो भाषाएँ सीखनी पड़ती है। इसके कारण न वह मातृभाषा मे योग्य बनता है और न विदेशी भाषा में। यदि किसी बालक को दो भाषाएँ सिखानी हों तो विदेशी भाषा का प्रारम्भ ग्यारह से तेरह या चौदह वर्ष की अवस्था के बीच मे करना चाहिये। प्रत्येक बालक को प्राइमरी स्कूल की परीक्षा

---

* यहाँ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के निम्नलिखित दोहे उल्लेखनीय हैं—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा-ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल॥
पढ़े फारसी बहुत विध, तौ हू भये खराब।
पानी खटिया तर रहा, पूत मरे बक 'आब'॥

† यहाँ स्टेनले हाल महाशय का यह कथन उल्लेखनीय है—

"The heart of education as well as its phyletic root is the vernacular language and literature. These are the chief instruments of the social as well as ethnic and patriotic instincts."

—Adolescence Vol, II P. 154.

शिक्षा का हृदय तथा प्रधान जड़ मातृभाषा और उसका साहित्य है। ये ही हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के प्रकाशन के मुख्य साधन हैं।

पढ़ने की शिक्षा—उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि हमे बालको के पढ़ने की शिक्षा की अवहेलना करनी है। बालको के मनोविकास के लिए पढ़ना नितान्त आवश्यक है। जो बालक स्वय लिखना-पढ़ना नहीं जानते, उनका जीवन अधूरा ही रह जाता है। वे ससार के प्रमुख विद्वानो के विचारो से वचित रह जाते हैं। आधुनिक काल मे अपढ़ व्यक्ति को किसी प्रकार भी गौरव का स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। यदि मनुष्य अपने पूर्वजो तथा समकालीन विद्वान् व्यक्तियों के विचारों से लाभ उठाना चाहता है तो अवश्य उसका लक्ष्य पढ़ना-लिखना होना चाहिये।

पर यदि पढ़ना प्रारम्भ करने के पूर्व बालक संसार का सामान्य ज्ञान बातचीत से प्राप्त कर ले तो उसका पढ़ना सार्थक होगा। कितने बालक अपनी पुस्तकों को तोता जैसा पढ़ते है, किन्तु ससार की साधारण बातो का ज्ञान न रहने के कारण वे पुस्तक की पढ़ी बातो का कुछ भी अर्थ नहीं समझते*। जब बालको को संसार की सामान्य बातो का ज्ञान बातचीत द्वारा हो जाता है तो वे पुस्तक की बातो को भी भले प्रकार समझ सकते है। उन्हें पढ़ी हुई बात को स्मरण रखने मे कठिनाई भी नहीं होती। दूसरे हमें यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि जिस ज्ञान को बालक दूसरो से प्रकाशित नहीं करता वह उसके मस्तिष्क मे स्थिर भी नहीं रहता। अपने ज्ञान का प्रकाशन करने का प्रमुख साधन बोलना ही है। अतएव जब बालक कोई पुस्तक पढ़े, तब भी बोलकर अपने भाव को प्रकाशित करना चाहिये।

---

* लेखक को स्मरण है कि निम्नलिखित रहीम के दोहे हिन्दी की तीसरी कक्षा मे तोता जैसे बालको से रटवाये जाते थे—

कहु रहीम कैसे सहे, केर बेर को सङ्ग।
वे रस डोलें आपने, उनके फाटे अङ्ग॥
जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, ताको है तिरसूल॥

बालकगण पिछला दोहा सुनाते समय "तोहि" की जगह "ताहि" कह देते थे और उन्हे अर्थ के भेद का कुछ पता नही रहता था।

जो बात लिखकर दूसरों से घण्टों में बताई जा सकती है वह बोलकर कुछ मिनटों में ही बताई जा सकती है।

बालकों का पुस्तक का पढ़ना दो प्रकार से होता है—एक जोर-ज़ोर से और दूसरे चुपचाप। प्रत्येक प्रकार का पढ़ना बालक की भाषा-शिक्षा में महत्त्व रखता है। जोर-जोर से पढ़ने से बालक शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण सीखता है। यहाँ हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि बालक ऐसे पढ़े, जिससे वह स्वयं पढ़े हुए विषय का अर्थ समझता जाय तथा सुननेवाले भी उसका अर्थ समझ जायँ। जैसे बालक बातचीत करते समय अपने हाव-भाव तथा बोलने के ढङ्ग से अपने अर्थ को दूसरों से व्यक्त करता है इसी तरह उसके पढ़ने में भी सार्थकता होनी चाहिये।

मौन पाठ का प्रधान लक्ष्य बालक की समझ का विकास करना होता है। जो बालक ठीक तरह से किसी पाठ को जोर-ज़ोर से पढ़ सकता है वह कुछ दिन के अभ्यास के बाद मौन पाठ भी ठीक से कर सकता है। मौन पाठ में निपुण होने के लिये भी अभ्यास की आवश्यकता रहती है। कितने ही लोग मौन पाठ कर ही नहीं सकते। ऐसे लोगों को यदि किसी पुस्तक का आशय शीघ्रता से जानना हो तो वे इस कार्य में अकुशल रहते हैं। बालकों में अभ्यास के द्वारा मौन पाठ की योग्यता बढ़ाई जा सकती है। आधुनिक काल में दूसरे लोगों के विचार जानने के लिये मनुष्य को थोड़े ही समय में हजारों पृष्ठ पढ़ने पड़ते हैं। यदि किसी मनुष्य में मौन पाठ की योग्यता नहीं है तो वह दूसरों से सब बातों में पिछड़ा ही रहेगा। निश्चित समय में निश्चित पढ़ने का काम देकर मौन पाठ की योग्यता बालकों में बढ़ाई जा सकती है। यहाँ हमें बालकों की स्पर्धा की प्रवृत्ति से भी काम लेना चाहिये। जो बालक किसी पाठ को सबसे पहले पढ़कर उसका तात्पर्य शिक्षक को बता दे उसकी प्रशंसा करनी चाहिये।

(१) वस्तु-ज्ञान की अवस्था[1]।
(२) क्रिया-ज्ञान की अवस्था[2]।
(३) सम्बन्ध तथा विशेषण ज्ञान की अवस्था[3]।

हम यहाँ इन अवस्थाओं पर एक एक कर भले प्रकार से विचार करेंगे।

वस्तु-ज्ञान की अवस्था—डेढ़ वर्ष तक का बालक प्रायः जो कुछ देखता है, वस्तु के रूप मे ही देखता है। जिस प्रकार हम उसके भाषा-ज्ञान मे सज्ञाओं के सिवा और कुछ नहीं पाते, इसी प्रकार उसके विचार में वस्तु-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। किन्तु यह वस्तु-ज्ञान इतनी थोड़ी अवस्था में भी इन्द्रियगोचर पदार्थ तक नहीं सीमित रहता। बालक जो कुछ प्रत्यक्ष देखता है, उसका अर्थ लगाने की वह चेष्टा करता है अर्थात् वह अपने पुराने अनुभव को इस प्रत्यक्ष पदार्थ के समझने के काम में लाता है। जिस समय बालक इस प्रकार प्रत्यक्ष वस्तु का अपने पुराने अनुभव के आधार पर अर्थ लगाने की चेष्टा करने लगता है उस समय ही उसमे प्रत्यय[4] के ज्ञान का आविर्भाव होता है। उदाहरणार्थ बालक एक खिलौने को पड़ा देखता है तो उसे 'मुन्ना मुन्ना' कहकर बुलाता है। यह 'मुन्ना' शब्द उसके प्रत्यक्ष-ज्ञान को ही संकेतित नहीं करता वरन् उसके अतीत ज्ञान का भी सूचक है। उसने दूसरे खिलौनो को भी 'मुन्ना' कहना पहले से सीख लिया है और 'मुन्ना' शब्द उसके एक विशेष प्रकार के अनुभव का सूचक बन गया है। इसी प्रकार बालक का कुत्ते को देखकर 'तू-तू' और बिल्ली को देखकर 'म्याऊँ-म्याऊँ' कहना उसके मन मे प्रत्ययो की उपस्थिति का सूचक है।

---

1 Apprehension of objects 2 Apprehension of actions
3 Apprehension of relations and attributes 4 Concept

भाषा ज्ञान की महत्ता—बालक का जैसे जैसे भाषा-ज्ञान बढ़ता है, उसका वस्तुज्ञान भी बढ़ता जाता है। बालक दो और तीन वर्ष की अवस्था के बीच प्रत्येक देखी हुई वस्तु का नाम जानने की चेष्टा करता है। यह काल भाषा वृद्धि के महत्त्व का काल है। इसी समय बालक समझने लगता है कि प्रत्येक वस्तु का नाम होता है। अपनी इच्छाओं को सन्तुष्ट करने के लिए वह भाषा की उपयोगिता को समझने लगता है। प्रत्येक वस्तु का नाम जानने की चेष्टा करना बालक की बाह्य संसार पर अपना प्रभुत्व जमाने की मानसिक चेष्टा है। वह जिन वस्तुओं का नाम जान लेता है और जिनका प्रयोग कर सकता है ऐसी वस्तुओं के बारे में वह जब चाहे, विचार कर सकता है और उनके विषय में अपनी इच्छाएँ दूसरों पर व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार उसकी इच्छाएँ सरलता से तृप्त हो सकती हैं।

बालक जहाँ अपनी इच्छित वस्तु के लिए कोई नया शब्द नहीं पाता वहाँ पुराने शब्द का ही उपयोग वस्तु को संकेतित करने के लिए करता है। उदाहरणार्थ शान्ति को (१ वर्ष १० माह) एक नारंगी लाकर दी गई। इसके कुछ दिन पहले उसने बेर खाये थे। बेर खाते समय उसने बेर शब्द को भी सीख लिया था। नारङ्गी खाते समय उसने 'नारङ्गी' शब्द नहीं सीखा। इसके दो कारण है—पहले तो 'नारङ्गी' शब्द का उसके सामने अधिक प्रयोग नहीं किया गया, अतएव उसको दूसरों द्वारा उच्चारित शब्द सुनने का पर्य्याप्त अवसर ही नहीं मिला; दूसरे 'नारङ्गी' शब्द उसके भाषा-उच्चारण करने की शक्ति के परे था। शान्ति इस समय तक दो अक्षरवाले शब्दों का ही उच्चारण कर सकती है। अतएव जब उसे नारंगी प्राप्त करने की इच्छा हुई तो उसने नारंगी के लिए 'बेर' शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार यह बालिका अपने भाव को दूसरों के समक्ष व्यक्त कर सकी और अपनी इच्छा को संतुष्ट कर सकी। इसी प्रकार यह बालिका पहले सब मिट्टी के खिलौनों को 'मुन्ना' कहती थी। अब वह मिट्टी के खिलौने के लिए तीन नामों का प्रयोग करने लगी है। 'चूचा' (सुग्गा),

'मुन्ना' और 'नानो' (रानी)। सभी चिड़ियों की आकृति के खिलौने उसके लिए 'चूचा' है, छोटे लड़के-लड़कियों के खिलौने "मुन्ना" और सभी स्त्री-बोधक खिलौने 'नानो' हैं।

प्रत्ययन का स्वरूप[1]—बालक की इस प्रकार की नामकरण की क्रिया का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि बालक ने नामकरण के साथ साथ प्रत्यय का आविष्कार किया। इस प्रकार के प्रत्यय-ज्ञान के आविर्भाव के लिए अनुभव में आनेवाले पदार्थ के कुछ गुणो को दूसरे गुणों से अलग करना तथा इन गुणो का वैसे ही दूसरे पदार्थ के गुणों से मिलान करना आवश्यक है। अर्थात् बालक इस प्रकार के नामकरण से अपने अनुभव को विश्लेषण करने[2] और उसे फिर संगठित करने[3] की शक्ति प्रदर्शित करता है। बालक अनुभूत पदार्थों के किस गुण को प्रत्यय के आविष्कार मे प्रधानता देगा, यह उसके अनुभव तथा उसकी आवश्यकता पर निर्भर है। यदि उसके अनुभव में नारङ्गी और वेर इतने अधिक नहीं आये कि वह उनकी विशेषता पर ध्यान दे और यदि उसका काम बेर कहने से चल जाता है तो उसे नारङ्गी प्रत्यय सीखने की न तो सामग्री है और न आवश्यकता। वेर और नारङ्गी के रङ्ग तथा गुलाई को देखकर बालक ने दोनों पदार्थों को एक नाम दे दिया। यह उसके अनुभव के विश्लेषण करने की शक्ति तथा अनेक अनुभवो में सामान्य बात खोज सकने की शक्ति को प्रदर्शित करता है। अनुभव को विश्लेषण करना और फिर उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार सम्बद्ध करना विचार का प्रधान कार्य है जो कि विचार-विकास की सब अवस्थाओ मे पाया जाता है। इसी को हम बालक के वस्तुज्ञान मे पाते हैं। प्रत्ययन की क्रिया मे यह स्पष्टत: देखा जाता है।

प्रत्यय के अभाव में बालक को वास्तव मे किसी वस्तु का ज्ञान हो ही नहीं सकता। उसका इन्द्रियगोचर पदार्थ संवेदना मात्र रह जाता तथा प्रत्यक्ष पदार्थ के अभाव में वह उसके विषय में सोच नहीं पाता। एक ही प्रत्यय अनेक वस्तुओं को संकेत कर सकता है—इस ज्ञान के होते ही

1 Conception 2 Analysis 3 Synthesis

वालक की संसार में व्यवहार करने की शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह अब परिस्थितियों का दास न रहकर उनका स्वामी बनने की चेष्टा करने लगता है। मनुष्य और पशु में यदि हम एकमात्र भेद करनेवाला गुण देखना चाहें तो वह मनुष्य में प्रत्यय-ज्ञान की उपस्थिति और पशुओं में उसका अभाव है। पशुओं में अपने पुराने अनुभव के विषय में विचारने की शक्ति नहीं होती। उनका ज्ञान दृष्टिगोचर पदार्थ तक ही सीमित रहता है। वे प्रत्येक अनुभव की वस्तु को अलग अलग देखते हैं। उनमें उनके सामान्य गुणों को जानने की शक्ति इतनी विकसित नहीं रहती कि वे प्रत्यक्ष वस्तुओं का वर्गीकरण[1] कर सकें। इस वर्गीकरण के लिए भापा-ज्ञान की आवश्यकता है। पशुओं की भापा शिशु की निरर्थक भापा के समान होती है। उससे वे अपने कुछ दुःखों या इच्छाओं को अवश्य प्रकट कर सकते हैं परन्तु वह उनकी समझ में सहायक नहीं होती। वालक की भापा उसकी समझ की सहायक होती है, उसके प्रत्यय-ज्ञान को स्थिर बनाती है तथा उसको विचार करने की योग्यता प्रदान करती है। विना भापा-ज्ञान के घोड़ा, गाय, घर आदि प्रत्ययों का ज्ञान होना सम्भव नहीं। वालक जिस समय 'चूचू' शब्द से एक विशेष चिड़िया को सम्बोधित न करके एक वर्ग के प्रत्येक प्राणी को सम्बोधित करता है; तभी उसके मन में प्रत्यय-ज्ञान का आविर्भाव होता है। जैसे जैसे वालक के भापा-ज्ञान की वृद्धि होती है, उसके प्रत्यय-ज्ञान की वृद्धि भी होती जाती है। वह संसार के अनेक पदार्थों के सामान्य गुणों और भेदों को समझने लगता है।

उपर्युक्त उदाहरण में वालिका को जब चिड़िया, बच्चा और गौ के खिलौने में भेद का ज्ञान हुआ तो उसकी भापा में एक ही जगह तीन शब्द उन खिलौनों का संकेत करने के लिए हो गये। इस प्रकार वाल्यकाल से लेकर मनुष्य जन्म भर अपने प्रत्यय-ज्ञान की वृद्धि करता रहता है। मनुष्य का भापा-ज्ञान उसके प्रत्यय-ज्ञान की वृद्धि का सूचक है। जिन

1 [illegible]

बालको की भाषा में सूक्ष्म भाव व्यक्त करनेवाले शब्द नहीं पाये जाते उन बालको को वास्तव मे उन बातो का ज्ञान ही नहीं रहता। वस्तु-ज्ञान की अवस्था मे बालक के प्रत्यय प्रत्यक्ष पदार्थ से स्वतन्त्र नहीं रहते। बालक का कोई भी प्रत्यय उसके दृष्टिगोचर पदार्थ तथा उसकी कल्पना से सम्बद्ध रहता है, इस अवस्था मे बालक में यह शक्ति नहीं होती कि वह एक वर्ग के अनेक पदार्थों को देखकर एक सामान्य प्रत्यय से उनका बोध करे। जब बालक किसी प्रत्यय का प्रयोग करता है तो वह प्रत्यय बालक के अनुभव में आये हुए पदार्थों का ही बोधक होता है। वह स्पष्टतः किसी वर्ग की वस्तुओ का बोधक नही होता। इस अवस्था में बालक की भाषा में जटिल प्रत्यय[1] बोधक शब्द नही पाये जाते। इन प्रत्ययों का गढ़ना विचार-विकास की तीसरी अवस्था का कार्य है।

बालक के प्रत्यक्ष-ज्ञान के विकास की तुलना हम मनुष्य के भाषा-ज्ञान के विकास से कर सकते है। भाषा-विकास की प्रारम्भिक अवस्था में भाषा के शब्द उनको बोध करनेवाली वस्तुओ या क्रियाओ के अनुरूप होते थे, अर्थात् ध्वनि और अर्थ में एकता रहती थी। इसी तरह लिखित भाषा के प्रचलित होने पर उसकी लिपि भी उसके अर्थ की बोधक थी; किन्तु जैसे जैसे भाषा और लिपियो का विकास हुआ, ध्वनि और अर्थ, लिपि और सकेतित पदार्थ मे कोई भी ऊपरी समानता न रह गई। इसी तरह बालक के प्रत्यय पहले-पहल प्रत्यक्ष-ज्ञान एवं ऐसे ही ज्ञान की कल्पना के बने रहते है, किन्तु कालान्तर में वे प्रत्यक्ष पदार्थ के अनुभव से स्वतन्त्र हो जाते है। उदाहरणार्थ, जब बालक 'बाबा' या 'बेर' शब्द का प्रयोग करता है तो कोई देखी हुई वस्तु की कल्पना उसके सामने आती है पर जब हम "घोड़ा", "वर" या "मनुष्यत्व" शब्द का प्रयोग करते हैं तो मन मे किसी विशेष वस्तु का चित्र नहीं आता। ये शब्द जिन भावो को प्रदर्शित करते है वे चित्रित नहीं किये जा सकते।

1. Abstract concepts

क्रिया-ज्ञान की अवस्था—विचार-विकास की दूसरी अवस्था क्रिया का बोध है। बालक के वस्तु-ज्ञान की अवस्था में वस्तु मे परिवर्तन का बोध नहीं होता। किन्तु जैसे जैसे उसका अनुभव बढ़ता जाता है, वह देखता है कि दृष्टिगोचर पदार्थ मे परिवर्तन भी होता है। उसके देखे हुए पदार्थ हिलते-डुलते है, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते है, कभी उसके सामने रहते है और कभी सामने से हटजाते है। जिस समय से बालक इन परिवर्तनो पर ध्यान देने लगता है, उसे क्रिया का बोध होता है। प्रायः डेढ़ साल की अवस्था से बालक ऐसी क्रिया को न सिर्फ अव्यक्त रूप से देखता है किन्तु कुछ क्रियासूचक शब्दो का प्रयोग भी करने लगता है। डेढ़ वर्ष की अवस्था तक बालक की भाषा में वस्तु-सूचक शब्द ही रहते है। इसके उपरान्त उसकी भाषा मे दो-एक क्रियापद भी आ जाते है। यदि वह पहले माँ को बुलाने के लिए 'माँ' कहता था तो अब 'माँ आ' भी कहने लगता है। किन्तु क्रिया के विषय मे सोचने की शक्ति उसमे ढाई वर्ष से पहले नहीं आती। बालक क्रियाबोधक शब्दो के अर्थो को समझने तो लगता है पर उन शब्दो का सार्थक प्रयोग स्वयं नही कर पाता। वास्तव मे जब तक किसी शब्द का सार्थक प्रयोग स्वयं मनुष्य नही करता, तब तक उसमें उस शब्द के बोधक ज्ञान को मन मे लाने का शक्ति नही आती।

बालक के क्रिया-ज्ञान की वृद्धि को अवस्था मे ही हम क्रिया-बोधक शब्दो की वृद्धि पाते हैं। यदि बालक किसी नये पदार्थ को देखता है तो उस पदार्थ का नाम ही कहकर नही रह जाता, बल्कि उसको उसकी क्रिया के साथ संकेतित करता है। जैसे अपने पिता को देखकर बालक 'बाबा बाबा' ही नहीं कहेगा, बल्कि अब 'बाबा आ रहा है' ऐसा वाक्य कहेगा। वह चित्र को देखकर उसमे उपस्थित पदार्थों का ही नाम नही लेता, प्रत्युत उनकी क्रिया का भी वर्णन करने लगता है। यह काल ढाई वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होता है। इस काल मे वस्तु-ज्ञान की भी वृद्धि होती रहती है। बालक क्रिया के साथ साथ अनेक

नई वस्तुओं का नाम जानता है। उसके शब्दों में क्रिया-बोधक शब्दों के साथ साथ वस्तु-बोधक शब्दों की भी वृद्धि होती है।

हमें यहाँ पर इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस अवस्था में काल का ज्ञान नहीं होता। बालक प्रत्यक्ष होनेवाली क्रिया का ही बोध करता है। भूत और भविष्य की क्रिया के विषय में उसकी कल्पना नहीं होती। बालक को इस काल में इस बात का ज्ञान नहीं होता कि पहले क्या हुआ और आगे क्या होनेवाला है। उसके क्रियाबोधक शब्दो में कालसूचक विभिन्न रूप नही होते।

सम्बन्ध और विशेषणज्ञान की अवस्था—बालक के विचार-विकास की तीसरी अवस्था सम्बन्ध और विशेषणज्ञान की है। इस अवस्था का प्रारम्भ ४ और ५ वर्ष के बीच मे होता है। इस अवस्था में पहली अवस्थाओ का भी कार्य होता है अर्थात् बालक का वस्तु-ज्ञान और क्रिया-ज्ञान भी बढ़ता है।

बालक की विचार-विकास की अवस्था पहचानने के लिए उसकी कई प्रकार से परीक्षा कर सकते हैं। यदि हम बालक को चित्र दिखावें तो वस्तु-ज्ञान की अवस्था में बालक वस्तुओ का ही नाम लेगा, पर क्रिया-ज्ञान की अवस्था में वह उनकी क्रियाओ को भी बतावेगा और सम्बन्ध-ज्ञान की अवस्था में वस्तुओ के आपस के सम्बन्ध को भी बतावेगा। बालक की भाषा मे भी इसी प्रकार का परिवर्तन पाया जाता है। वस्तु-ज्ञान की अवस्था में बालक का शब्द-भांडार संकुचित रहता है। दूसरी अवस्था में उसकी वृद्धि हो जाती है; क्रिया-शब्द उसकी भाषा में आ जाते हैं। सम्बन्ध-ज्ञान की अवस्था प्राप्त होते ही उक्त दोनों प्रकार के शब्दों की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही साथ सम्बन्ध-सूचक और विशेषण-सूचक शब्द उसकी भाषा मे आ जाते हैं। बालक की स्मृति की परीक्षा करके भी हम यह पता चला सकते हैं कि बालक विचार-विकास की किस अवस्था में है। प्रत्येक बालक प्रत्यक्ष-पदार्थ का वर्णन जितनी सरलता से करता है उतनी सरलता से अतीतकाल के अनुभवो का वर्णन नहीं कर सकता। बालक प्रत्यक्ष घटना के विषय में एक अवस्था

में रह सकता है और अतीत के संबंध में दूसरी अवस्था में। जो बालक चित्र को देखकर उसकी वस्तु और क्रिया का वर्णन करेगा वही चित्र की अनुपस्थिति में उसकी वस्तुमात्र ही बतावेगा, अथवा जो बालक प्रत्यक्ष चित्र के पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे अनेक प्रकार की कल्पना करेगा वही उस चित्र के अभाव में ऐसी कल्पना न करके वस्तुओ के नाम तथा उनकी कुछ क्रियाओ को ही कहकर रह जायगा। वास्तव में सात वर्ष के पहले बालक में स्वतन्त्र सोचने की शक्ति परिमित रहती है। वह प्रत्यक्ष-ज्ञान के आधार पर ही सोच सकता है।

विशेषण का विचार मे प्रयोग—बालक के विचार में सम्बन्ध-ज्ञान और विशेषण-ज्ञान का प्रयोग तीन; चार वर्ष की अवस्था से होने लगता है। बालक जब पहले पहल किसी विशेषण का प्रयोग करता है तो उस विशेषण के अस्तित्व को उस वस्तु से पृथक् नहीं देखता। बालक क्रिया-ज्ञान की अवस्था में भी कुछ विशेषणो का प्रयोग करता है किन्तु ये विशेषण जिस वस्तु के साथ प्रयुक्त होते हैं उस वस्तु से वे अलग नहीं किये जा सकते। उदाहरणार्थ शान्ति (१ वर्ष १० माह) गरम दूध के लिए 'ताता' शब्द का प्रयोग करती है, किन्तु गरम पदार्थ दूध के अतिरिक्त दूसरा भी हो सकता है इसका उसे बोध नहीं है। ऐसा बोध क्रिया-ज्ञान की अवस्था पार होने ही पर होता है। छोटे बड़े का ज्ञान तथा संख्या का ज्ञान बालक को क्रमश: ३ और ४ वर्ष की आयु के पहले नहीं होता। बालक के क्रिया-ज्ञान की अवस्था में ही रङ्ग का ज्ञान होता है किन्तु रङ्ग के विषय में भी वह स्वतन्त्र विचार नहीं कर सकता।

संख्या-ज्ञान—बालक में संख्या-ज्ञान का विकास एक बड़े महत्त्व की बात है। यदि तीन वर्ष के बालक को चार, पॉच खिलौने एक साथ दिये जायँ तो वह उन्हे इस प्रकार गिनेगा 'एक, एक, एक और, एक और, एक और' अर्थात् उसमें एक, दो, तीन, चार, पाँच कह करके वस्तुओ के गिनने की क्षमता नहीं होती। जो बालक एक, दो, तीन, चार कहकर वस्तु को गिन भी सकते है

वे उस गिनने के अर्थ को नहीं समझते। इस कथन की सिद्धि के लिए निम्नलिखित प्रयोग किया जा सकता है जो कि स्टर्न महाशय ने अपनी बालिका (३ वर्ष ७ माह) के ऊपर किया था।

तीन या साढ़े तीन वर्ष के बालक को अपने हाथ की उँगलियाँ दिखाइए और उनको गिनने के लिए कहिए। उँगलियो को देख देखकर बालक ५ तक की गिनती कह लेगा। अब अपना हाथ अलग कर दीजिए और उससे पूछिए कि मेरे हाथ में कितनी उँगलियाँ है। यदि बालक यह कह दे कि ५ उँगलियाँ है तो जानना चाहिये कि उसको ५ की संख्या का बोध हो गया है*।

बालक के विशेषण-ज्ञान के विकास मे हम इस नियम को देखते है कि बालक उन विशेषणो को शीघ्रता से सीखता है जिनसे वह अपने दुःख, सुख या सवेगो को व्यक्त कर सके। तीन वर्ष तक का बालक जिन विशेषणो का प्रयोग करता है उनका सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व से रहता है। उसे विशेषण के स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान नही रहता। उदाहरणार्थ शान्ति (१ वर्ष १० माह) ने उष्णताबोधक विशेषण (ताता) सबसे पहले सीखा। इसका प्रधान कारण यह है कि उसे गरम दूध ठण्ढे दूध की अपेक्षा अच्छा लगता है और वह 'ताता' शब्द का प्रयोग गरम दूध पाने की इच्छा से ही करती है। धीरे धीरे वह उस उष्णता-बोधक विशेषण का प्रयोग ऐसे पदार्थो के लिए भी करने लगी जिनको वह नही चाहती, जैसे कि गरम दाल, गरम आलू। किन्तु अभी इस बालिका को 'ताता' शब्द के स्वतन्त्र अर्थ का ज्ञान नही है और इसे जिन वस्तुओ की आवश्यकता होती है उनके

---

* स्टर्न महाशय ने अपनी बालिका (३ वर्ष ७ माह) के ऊपर प्रयोग करके यह देखा कि जब उससे उँगलियाँ गिनने के पहले पूछा गया कि मेरे हाथ मे कितनी उँगलियाँ है तो बालिका ने कहा—मुझे गिनने दो।' उसने उँगलियो को पाँच तक गिन लिया। उसके गिन चुकने पर फिर पूछा गया तो वह फिर गिनने के लिए कहने लगी। दो-तीन बार गिनने के बाद भी वह उँगलियो की सख्या पाँच न बता सकी।

अतिरिक्त दूसरे विषय मे उस शब्द का प्रयोग नहीं कर सकती और न उसका अर्थ ही समझ सकती है। इसी तरह जब वह किसी चीज़ को अधिक परिमाण में चाहती है तो "और" शब्द का प्रयोग करती है। "और" शब्द उसके लिए परिमाण-सूचक है। उसे उसके स्वतन्त्र उपयोग का ज्ञान नहीं है; उसका उपयोग सदा उसकी इच्छा से सम्बन्धित है। जिन विशेषणो का बालक से सीधा सम्बन्ध नहीं होता उनका ज्ञान चार वर्ष के पहले बालक को होना असम्भव है। संख्या ऐसा ही विशेषण है। संख्यावाची विशेषण का स्थान "और" शब्द ग्रहण कर सकता है। किन्तु संख्या की स्वतन्त्र उपयोगिता है, इस बात का ज्ञान बालक को चार वर्ष के पहले नहीं होता। संख्या-ज्ञान के लिए विचार की विश्लेषणात्मक शक्ति की वृद्धि की आवश्यकता है, जो बालक मे चार वर्ष के पहले विकसित नहीं होती। बालक पहले पहल जिन वस्तुओ के गिनने में सख्या का प्रयोग करता है, उन वस्तुओ से संख्या को पृथक् नहीं समझ सकता।

बालक को जब हम उँगलियाँ दिखाकर 'एक, दो, तीन, चार, पाँच' गिनाते है तब इन संख्याओ का सम्बन्ध बालक के मन मे उँगलियों से इतना अधिक रहता है कि वह एक को दूसरे से अपने विचार मे अलग नहीं कर सकता, अर्थात् उँगली को संख्या से अलग नहीं कर सकता। जब बालक को हजारो वस्तुएँ इस प्रकार से गिनाई जाती है तब धीरे धीरे उसे बोध होता है कि इन संख्याओ का अस्तित्व गिनी जानेवाली वस्तु से पृथक् है। हम चार वर्ष से कम अवस्थावाले बालकों को वस्तुओ को गिनते देखते हैं किन्तु वास्तव मे इस गिनने का उन्हे बोध नहीं होता।*

---

* स्टर्न महाशय ने एक बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है जिससे व्यक्त होता है कि बालक के मन में किस प्रकार का निजी स्वार्थ तथा वस्तु की सम्बन्धित सख्या का ज्ञान रहता है। तीन वर्ष की अवस्था का उसके मित्र का एक बालक दो सेबो को गिन लेता था किन्तु दो आँखों या हाथो को नहीं गिन पाता था। एक साढ़े चार वर्ष के बालक से जब यह पूछा गया कि मेरे हाथ मे कितनी

बालक मे जब संख्या-ज्ञान का विकास होता है तभी उसे बहु-वचन का ज्ञान होता है। तीन वर्ष तक के बालक एक एक करके वस्तुओ को गिन लेते हैं; उनको समुच्चय-ज्ञान नहीं होता। यदि हम बालक की इस समय की भाषा को देखे तो ज्ञात होगा कि उसकी भाषा मे कोई बहुवचनसूचक शब्द नहीं है। जब तक बालक एकवचन के ज्ञान से बहुवचन के ज्ञान तक नहीं पहुँचता, तब तक उसके मन में सम्बन्ध-ज्ञान का विकास होना सम्भव नहीं। जब बालक देखने लगता है कि अनेक वस्तुओ में भेद है और एक ही प्रकार की अनेक वस्तुएँ होती है, तब उसे वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करने की आव-श्यकता होती है, अर्थात् बहुवचन का ज्ञान संख्याज्ञान और सम्बन्धज्ञान के आविर्भाव की पहली सीढ़ी है।

अव्ययज्ञान—संख्या-ज्ञान होने के पूर्व बालकों को कुछ अव्ययो का ज्ञान हो जाता है। परन्तु इन अव्ययो का ज्ञान भी उनकी वैयक्तिक इच्छाओ से सम्बन्धित रहता है। जो बालक बाहर जाना चाहता है वह कहता है "बाहर बाहर"। इस बाहर

उँगलियाँ हैं तब उसने जवाब दिया—'मुझे नहीं मालूम, मै अपने हाथ की उँगलियाँ गिन सकता हूँ'। उस बालक के मन में गिनती का संबंध अपनी उँगलियों के साथ इतना घनिष्ठ हो गया था कि वह यह नहीं जानता था कि उन्ही गिनतियों से दूसरे की भी उँगलियाँ गिनी जा सकती हैं।

एक समय शिशुवर्ग के बालको को पढ़ाते समय यह प्रश्न पूछा गया कि तुमने अपनी दहाई कहाँ रक्खी है? दहाई को ले आओ। बालक ने उत्तर दिया 'दहाई बच्ची खा गई।' बालक का यह उत्तर बड़ा मनोरंजक है। शिक्षक ने दस चने एक पोटली मे बाँधकर रख दिये थे। यह उस बालक की दहाई थी। इसी दहाई को बच्ची खा गई। बालक के मन में उस समय तक दहाई का अस्तित्व चनो से पृथक् नहीं हो सकता था। वास्तव मे, इस आयु में, बालक को दहाई का ज्ञान कराना व्यर्थ था। इस बालक की आयु ५ वर्ष से कम थी।

का अर्थ अव्यय नहीं है। यह संज्ञाबोधक शब्द है। ऐसे अव्ययों का ज्ञान बालक को २ वर्ष की अवस्था से पहले ही हो जाता है। किन्तु वह इनका स्वतन्त्र अर्थ नहीं जानता। बालक को "ना, ना" कहना डेढ़ वर्ष की आयु के पहले आ जाता है। जिस वस्तु को बालक नहीं चाहता उसे "ना, ना" कहता है। उसकी भाषा में स्वीकृतिबोधक शब्द नहीं पाये जाते किन्तु निषेधात्मक शब्द पहले से ही आ जाते हैं। इस निषेधात्मक शब्द का अर्थ उसकी अनिच्छा का बोधक है। उसे इस शब्द के दूसरे अर्थ ज्ञात नहीं रहते। यदि उससे नाक दिखाकर पूछा जाय कि क्या यह तुम्हारा कान है, तो २ वर्ष तक का बालक 'ना' का ठीक प्रयोग इस स्थान पर नहीं कर सकेगा, अर्थात् उसे 'ना' के उपयोग का पूरा ज्ञान नहीं।

काल-ज्ञान का विकास—तीन वर्ष तक का बालक वर्तमान काल ही में रहता है। उसको भूत और भविष्य के विषय मे कोई विचार नही रहता। तीन वर्ष और चार वर्ष के बीच समीप भविष्यकाल का ज्ञान उसे होता है जब कि वह "अभी" शब्द का प्रयोग करने लगता है। काल-ज्ञान के विकास में देखा जाता है कि बालक भविष्यकाल को भूतकाल की अपेक्षा पहले बताता है। जो घटनाएँ हो चुकी हैं उनके विषय मे बालक न तो सोचता है और न उसको इसकी आवश्यकता है; क्योंकि ये घटनाएँ उसका वर्तमान इच्छाओं से सम्बन्ध नहीं रखतीं। चार वर्ष की अवस्था में बालक 'कल और परसों' शब्द का प्रयोग उचित अर्थ में नही कर पाता। हिन्दी भाषा में तो 'कल' शब्द का प्रयोग और भी कठिन होता है। यह भूतकाल और भविष्यकाल दोनों का सूचक होता है अतएव बालक को इस शब्द का ठीक प्रयोग समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। पहले तो वह देखता है कि दिन बदलता रहता है पर 'कल' जैसा का तैसा ही रहता है। यदि हम पाँच वर्ष के बालक की बोलचाल की भाषा पर ध्यान दें तो देखेंगे कि उसकी भाषा में कालसूचक शब्द बहुत ही थोड़े हैं। इनके अभाव के कारण बालक की स्मृति भी सुसम्बद्ध नहीं

होती। हम देखते है कि हमारे विचार करने मे स्मृति का बहुत बड़ा स्थान है। जब तक बालक की स्मरणशक्ति विश्वसनीय नही हो जाती, तब तक उसके विचारों का सुसंगठित होना कठिन है। दो घटनाओ का पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ने के लिए स्मरणशक्ति की योग्यता होना आवश्यक है। यह काल-ज्ञान के अभाव मे असम्भव है।

कारण-कार्य्य-भाव—बालक के मन मे जब काल-ज्ञान का आविर्भाव होता है तो वह पहले और पीछे होनेवाली घटना मे सम्बन्ध जानने की चेष्टा करता है, अर्थात् काल-ज्ञान की परिपक्वता कारण-कार्य्य-भाव के विकास के लिए उपादान कही जा सकती है। यह अवस्था साधारणतः ७ वर्ष के बालको को प्राप्त होती है।

इस काल मे बालक अनेक प्रकार के प्रश्न स्वयं पूछने लगता है, जिनका लक्ष्य घटना का कारण जानना होता है। यही ऐसा काल है जब बालक को विभिन्न वस्तुओ का अनुभव सुसगठित होता है। हम देखते है कि बालक इस समय बड़े-बूढ़ो से अनेको प्रश्न करता है। वे उसके प्रश्नो का उत्तर देते देते थक जाते है। हम समझते है कि बालक का ऐसे प्रश्न करना व्यर्थ है, किन्तु हम इस बात को भूल जाते है कि बालक इस प्रकार की क्रिया से अपने अनुभव को ठीक तरह से सुसगठित करने की चेष्टा करते है। जहाँ बालक को अपने प्रश्नो का उत्तर नहीं मिलता, वह स्वयं ही अपनी कल्पना द्वारा उनके उत्तर का निर्माण कर लेता है। हममे और बालक मे किसी घटना के खोजने मे विशेष अन्तर यह है कि अनुभव की परिपक्वता होने के कारण हम किसी प्रकार के कारण से सतुष्ट नही होते। हम अपने दूसरे ज्ञान से उसकी संभावना देखते है। बालक मे इस तरह के ज्ञान का अभाव रहता है। अतएव यदि उसको किसी घटना का असम्भव से असम्भव कारण बता दिया जाय तो वह उस पर अविश्वास नही करता। जैसे यदि बादल गरजने के लिए यह कहा जाय कि एक बड़ा राक्षस बड़े जोर से चिल्ला रहा है तो बालक इस पर सहर्ष विश्वास कर लेगा। बालक जब चन्द्रमा को देखकर उसमे उपस्थित काले काले दाग का कारण पूछता है और जब उससे यह कहा जाता है कि एक बुढ़िया बैठकर चरखा

कात रही है तो बालक इस प्रकार के उत्तर पर तनिक भी संदेह नहीं करता। जो भेद हमने शिक्षित और अशिक्षित लोगो की बुद्धि में कारण-कार्य्य-भाव के विषय में बताया है वही बालक और प्रौढ़ की बुद्धि में पाया जाता है।

बालक के सूक्ष्म विचार—जैसे जैसे बालक के अनेक प्रकार के सम्बन्ध-ज्ञान का विकास होता है, वैसे वैसे उसके विचारों में सूक्ष्मता आती जाती है। यदि हम छोटे बालकों के विचार को देखें तो ज्ञात होगा कि उसके सभी विचार दृष्टिगोचर या विशिष्ट वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं। यदि बालक से पूछा जाय कि हँसने का क्या अर्थ है, तो वह हँसकर बता सकता है अथवा वह कह सकता है कि हँसने का अर्थ है दाँत दिखाना। प्यार करने का अर्थ है पुचकारना और चुम्मा लेना। एक पौने पाँच वर्ष के बालक ने कहा—'कुत्ता बैठा हुआ है और वह सोचता है कि मुझे रोटी मिलेगी।' जब उससे यह प्रश्न किया गया कि कुत्ते कैसे सोचते है? तो उसने कहा—'मुँह से सोचते है।' फिर जब यह प्रश्न किया गया कि हम कैसे सोचते हैं? तो उसने कहा—'जीभ से।' वास्तव में बालक स्वयं सोचने के समय बोलता है इसलिए सोचना और बोलना उसके विचार में पर्य्यायवाची शब्द है।

बालक को जितनी जल्दी संज्ञा-ज्ञान हो जाता है उतनी जल्दी उसे सर्वनामों का ज्ञान नहीं होता। सर्वनामों में सबसे कठिन 'मैं' और 'तुम' है। इन सर्वनामो का ठीक ठीक अर्थ समझने में बालक को बड़ी कठिनाई होती है। जिस प्रकार 'कल' (काल-वाचक अव्यय) का अर्थ बदलता रहता है इसी प्रकार 'मैं', 'तुम' शब्दो का अर्थ भी बदलता रहता है। 'मैं' 'तुम' के ठीक अर्थ का बोध तभी होता है जब उसे 'कल' का ज्ञान होता है। जब तक बालक सर्वनामो का उपयोग अपने विचारो में नहीं कर पाता तब तक उसके विचार सुव्यवस्थित नहीं होते। वास्तव में 'मैं' और 'तुम' का ज्ञान होना अपने और समाज का ज्ञान तथा आपस के सम्बन्ध का ज्ञान होने का सूचक है।

बालक के निर्णय (निश्चय)[1]

स्वीकारात्मक एवं अस्वीकारात्मक[2] निर्णय—किसी वस्तु के प्रति स्वीकारात्मक या निषेधात्मक मनोवृत्ति को निर्णय कहते हैं। हमारी बुद्धि ऐसी अवस्था में किसी वस्तु के अस्तित्व अथवा दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार या आविष्कार करती है। इसी आन्तरिक भाव को शब्दों में प्रकाशित किया जाता है। किसी निर्णय को उचित शब्दों में सुसंगठित रूप से प्रकाशित करना प्रौढ़ावस्था का कार्य्य है। बाल्यावस्था में सुसंगठित वाक्य बनाना कठिन होता है। चार वर्ष तक का बालक प्रायः दो ही शब्दों के वाक्य का उपयोग करता है। अतएव उसके वाक्यों में अधिकतर या तो संज्ञा और क्रिया रहती हैं अथवा संज्ञा और विशेषण। बालक के ऐसे वाक्य उसके निर्णय कहे जा सकते हैं। जब बालक कहता है 'आम मीठा' तो इसका अर्थ है 'आम मीठा है।'

बालक के पहले-पहल के निर्णय स्वीकारात्मक होते हैं। निषेधात्मक निर्णयों का आविर्भाव स्वीकारात्मक के बाद होता है। यदि बालक से पूछा जाय कि आम कैसा है, या दूध कैसा है, तो वह तुरन्त कह सकेगा कि 'आम मीठा है' या 'दूध मीठा है।' किन्तु यदि उसको खट्टा आम देकर कहा जाय "यह आम मीठा है ?" तो तीन वर्ष तक का बालक उत्तर में यह नहीं कह पायेगा 'आम मीठा नहीं है।' बालक से जब यह प्रश्न पूछा जाता है "क्या तुमने दूध पिया है ?" तो यदि उसने दूध नहीं पिया है किन्तु उसकी बहन ने पिया है तो वह कहेगा 'बहन ने दूध पिया है'। वह यह नहीं कह पाता 'मैंने दूध नहीं पिया है' परन्तु यदि किसी तीन वर्ष के बालक से कहा जाय 'तुम लड़की हो ?' तो वह प्रायः कहेगा 'नहीं'। इस प्रकार का निषेधात्मक निर्णय, जो कि स्पष्ट वाक्य में व्यक्त नहीं किया गया, बालक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखने के कारण ही

---

1. Judgments. 2. Affirmative and negative judgments.

वह शीघ्रता से कर सका। साधारण निषेधात्मक निर्णय को विचार में ही नहीं भाषा में व्यक्त करना बालक के लिए और भी कठिन कार्य्य है।

किसी वस्तु को दिखाकर यदि उसके बारे में हम बालक से प्रश्न करें तो हम देखेंगे कि बालक उसमें विद्यमान गुणों को सुगमता से बता देता है, किन्तु उसमें अवर्तमान गुणों को बताना उसके लिए—कम से कम ५ वर्ष की अवस्था तक—कठिन है। बिने महाशय ने अपने बुद्धि-माप के प्रयोगों में चित्रों में अवर्तमान वस्तु को बताना ७ वर्ष के बालक के योग्य परीक्षा बताई है। यह परीक्षा इस प्रकार की जा सकती है—एक बालक को एक मनुष्य का चित्र दिखाया जाय, जिसके एक ही हाथ हो और पूछा जाय कि इस मनुष्य को "क्या नहीं है?"

आलोचनात्मक निर्णय—जब बालक के विचार में वस्तुओं के आवश्यक गुणो की उपस्थिति और अभाव का ज्ञान पाया जाता है तो उस समय उसमें छान-बीन करने की शक्ति का आविर्भाव होता है। किसी चित्र को देखकर बालक अब यह कहने लगता है कि यह सुन्दर है अथवा भद्दा। इस प्रकार के निर्णय ३ वर्ष की अवस्था में भी पाये जाते हैं, परन्तु चार-पाँच वर्ष की अवस्था तक बालक के लिए यह कठिन होता है कि वह उसकी कमियों को बतावे। बहुत से बालक दूसरे बालकों द्वारा खींची हुई तसवीरों के दोष सरलता से बता देते हैं पर अपनी खींची तसवीरों पर विचार करना उनके लिए असम्भव हो जाता है। मैडम मान्टसरी की पद्धति में ऐसे बहुत से बालकों के व्यवसाय हैं, जिनमें बालक को अपने आप पर आलोचना करने और भूलें सुधारने का अवसर मिलता है। जिस समय से बालक की स्वयं आलोचना करने की शक्ति विकसित हो जाती है, उसमें अपने कार्यों को सुधारने की चेष्टा का भी आविर्भाव होता है। इस प्रकार की चेष्टा प्रायः ७ वर्ष की आयु के पहले नहीं होती।

नैतिक आलोचना—स्वालोचना की दूसरी अवस्था नैतिक आलोचना है। बालक अब इस बात को देखने लगता है कि

मेरे कामों को दूसरे लोग कैसा कहते है। पहले पहल उसके नैतिक निर्णय दूसरों के प्रति होते है। ये निर्णय प्रायः प्रौढ़ व्यक्तियों के अनुकरण मात्र होते हैं, किन्तु धीरे धीरे वह ऐसे निर्णयों को अपने कार्यों के प्रति भी करने लगता है।

—–

उन्नीसवाँ प्रकरण

बुद्धिमाप[1]

बुद्धिमाप की आवश्यकता

बालकों की बुद्धियों मे भेद होते हैं। किसी बालक की प्रखर बुद्धि होती है और किसी की मंद; किसी बालक में एक प्रकार की योग्यता होती है और किसी में दूसरे प्रकार की। अभिभावकों को अपने बालकों की योग्यता का ठीक-ठीक पता चलाना और उनको अपने योग्य काम में लगाना चाहिये। कितने ऐसे बालक है जिनकी रुचि तो कविता करने और गाने की होती है, पर उन्हें काम गणितज्ञ का मिलता है। ऐसे बालक अपनी दैवी सम्पत्ति से पूरा लाभ नहीं उठा पाते। समाज भी उनकी विशेष योग्यताओं से वंचित रह जाता है।

किस बालक में कितनी बुद्धि है, इसका ध्यान बालको की शिक्षा मे रखना चाहिये। जिस रीति से प्रखर बुद्धिवाले बालक को पढ़ाया जाता है, उसी रीति से मंद बुद्धिवाले बालक को पढ़ाना उसके साथ अन्याय करना है। पर हम देखते हैं कि हमारे साधारण शिक्षालयों मे इसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। सब बालको को एक ही साथ एक ही रीति अथवा एक ही गति से पढ़ाया जाता है। अतएव परीक्षा के समय इतनी अधिक संख्या में बालक फेल हो, इसमे आश्चर्य ही क्या?

प्रखर बुद्धिवाले बालक को साधारण बुद्धिवाले बालक के साथ पढ़ाना उस पर अन्याय करना है। जब बालक अपनी शक्ति भर काम नही पाता है तो उसको उत्साह ही नहीं होता। हर एक व्यक्ति ऐसे काम से ऊब जाता है, जिसमें उसके लिए नवीनता न हो।

---

1. Intelligence Testing.

देखा गया है कि कक्षा मे कई शिक्षक बड़ी सावधानी से धीरे धीरे किसी एक सवाल को बालको को समझाते हैं, पर कक्षा में कई बालक ऐसे होते हैं जो शिक्षक के समझाने के पूर्व ही उस सवाल को मुखाग्र हल कर डालते है। अब उनसे सवाल के किसी अंग पर कोई प्रश्न पूछा जाता है तो वे उसका उत्तर न देकर पूरे सवाल का उत्तर दे देते हैं। शिक्षकगण कभी-कभी ऐसे बालको से अप्रसन्न हो जाते है। वास्तव में इसमें बालकों का दोष नहीं, दोप है शिक्षा-प्रणाली का। सब बालकों को शिक्षक की एक बराबर सहायता की आवश्यकता नहीं होती। जो पद्धति बालकों की भिन्न भिन्न योग्यता का ध्यान नहीं रखती, उसे वास्तव में शिक्षा-पद्धति ही न कहना चाहिये। ऐसे बालक प्राय: उत्पाती हो जाते है और शिक्षक को अथवा दूसरे बालकों को तङ्ग करने मे उनका मन दौड़ने लगता है। फिर अधिकारी लोग अकारण ही ऐसे बालको को दण्ड देते हैं। पर ऐसे बालको को दण्ड देना उनकी प्रतिभा की हत्या करना है। जिस मनुष्य का मन काम मे नहीं लगता उसका मन उत्पात से अवश्य लगेगा। मन उस भूत के समान है जो बिना काम के क्षण भर भी नहीं रह सकता। यदि कोई मन को निकम्मा बनाकर बैठाना चाहे तो यह कदापि सम्भव नहीं। मन को भलाई मे न लगाया जाय तो वह बुराई में अपने आप लग जायगा।

बुद्धिमाप की साधारण विधियाँ

हम लोग सदा अपने साथियो और अपने बालको की बुद्धि का अनुमान लगाया करते हैं। किसी भी मनुष्य की बुद्धि, उसकी बातचीत, आचरण और व्यवहार से प्रकाशित होती है। मूर्ख का आभूषण मौन है और ज्ञानी का आत्म-प्रकाशन। ऊपर से देखने में यद्यपि दो व्यक्ति एक-से ही मालूम होते हैं, परन्तु जब हम उनसे बात-चीत करते हैं तो एक को पंडित पाते है और दूसरे को मूर्ख। एक मे हम पद-पद पर प्रतिभा का लक्षण देखते हैं और दूसरे में बुद्धि-हीनता का। इसी तरह हर एक व्यक्ति के साधारण

व्यवहारो से उसकी बुद्धि का पता चलता है। मनुष्य को अपने व्यवहारों में क्षण-क्षण पर बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। अतएव यदि हम किसी व्यक्ति के व्यवहारो का सूक्ष्मता से निरीक्षण करें तो अवश्य हम उसकी बुद्धि के बारे में पता चला लेंगे।

बालको की बुद्धि का पता प्रायः शिक्षको को रहता है। क्लास मे अनेक बालक बैठते हैं। उनकी भिन्न-भिन्न योग्यताएँ होती है। कोई तीव्र बुद्धिवाले होते हैं और कोई साधारण बुद्धिवाले। जब शिक्षक क्लास को पढ़ाता है तो बालको से अनेक प्रश्न पूछने पड़ते है। इन प्रश्नों के उत्तर से प्रत्यक्ष हो जाता है कि किस बालक की बुद्धि तीव्र है और किसकी मन्द।

फिर समय-समय पर बालकों की परीक्षा ली जाती है। इन परीक्षाओ के नतीजे से भी बालकों की बुद्धि का पता चलता है। प्रखर बुद्धिवाले बालक को प्रायः उच्चकोटि के नम्बर मिलते है और मन्द बुद्धिवाले को कम नम्बर। कोई कोई बालक पढ़ाई में मन नहीं लगाते। ऐसे बालकों की बुद्धि का माप भी उनके खेलों में तथा बाहरी काम करने में हो जाता है। उनकी बात चीत से भी उनकी बुद्धि का पता चलता है।

क्लास की साधारण परीक्षाएँ भी बालकों की बुद्धि के बारे में हमें कुछ परिचय कराती हैं, पर उनके ऊपर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। पहले उन परीक्षाओ में नम्बर पाना परीक्षक की रुचि पर भी निर्भर होता है। दूसरे उनमें इतना अधिक लिखना पड़ता है कि यदि किसी बालक मे लिखने की योग्यता कम हुई तो वह कम बुद्धिवाले बालक से भी परीक्षा में ऊँचा स्थान नहीं पा सकेगा। अस्तु,

इन दोषो को तो दूर किया जा सकता है। पर एक दोष ऐसा है जिसके कारण बालक की बुद्धि का पता उसके कक्षा के कार्य से हम कदापि नहीं चला सकते। बालक किसी भी परीक्षा मे दो कारणों से ऊँचा स्थान पाता है। एक तो अपनी बुद्धि की प्रखरता से और दूसरे परिश्रम से। जो बालक अधिक परिश्रम करता है, वह परीक्षा में तीव्र-बुद्धिवाले बालक से भी ऊँचा स्थान पा लेता है। ऐसा बालक छोटी कक्षाओ में तो

अवश्य उत्तरोत्तर यशस्वी होता रहता है; पर ऊँची कक्षाओ में जाकर अच्छा नतीजा नहीं दिखा पाता। ऊँचे वर्गो मे विचार-शक्ति का अधिक काम रहता है। अतएव वहाँ वे ही बालक चमक सकते हैं जिनमे वास्तव मे कुछ प्रतिभा होती है। यह अवश्य है, कि प्रतिभा रहते हुए भी यदि कोई उचित परिश्रम नहीं करता तो वह यशस्वी न होगा। सफलता के लिए प्रतिभा और परिश्रम दोनो की आवश्यकता है।

साधारण परीक्षाओ मे यह जानना असम्भव है कि किसी व्यक्ति की सफलता कहाँ तक प्रतिभा के कारण है और कहाँ तक परिश्रम के कारण। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए बुद्धिमाप का आविष्कार किया गया है।

मन्द-बुद्धिवाले बालकों के लक्षण

मन्दबुद्धिवाले बालकों को उनके चेहरे और चाल ढाल से पहचान लिया जाता है। ऐसे बालकों की शारीरिक क्रियाओ मे ऐक्य तथा उचित नियमन नहीं होता। वे सोचते हैं कुछ, और करते हैं कुछ और। चलने मे उनके पैर कहीं के कहीं पड़ते हैं। ऐसे बालक जब किसी चीज़ को हाथ मे लेते हैं तो उसको ठीक-ठीक सँभाल भी नहीं सकते।

मन्दबुद्धिवाले बालक को हम प्राय· उसकी वाणी से भली भाँति पहचान सकते है। वह जब बोलता है तो ठीक शब्दो का प्रयोग नहीं कर पाता। साथ ही उसके बोलने मे रुकावट भी होती है। कभी-कभी ऐसा बालक हकलाकर बोलता है। ठीक-ठीक और जल्दी-जल्दी बोल सकने के लिए बालक का शब्द-भण्डार भरा-पूरा होना चाहिये तथा वह उन शब्दों के भावो को समझे भी। पर मन्द-बुद्धिवाले बालक मे सूक्ष्म विचार करने की योग्यता नहीं रहती। अतएव वह किसी शब्द को उसके ठीक अर्थ मे काम मे नहीं ला सकता। देखा गया है कि प्रायः मनुष्य की बुद्धि का द्योतक उसका शब्द-भण्डार है। जो मनुष्य जितने प्रकार से अपने भाव प्रकाशित कर सकता है

तथा उसकी शब्दावली जितनी अधिक है, वह उतना ही अधिक प्रखर-बुद्धिवाला होता है।

ऊपर हमने हकलाना मन्द बुद्धि का सूचक बताया है। पर यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं। कई बालकों की बोलने की शक्ति बीमारी के कारण गड़बड़ हो जाती है। कभी-कभी हकलाना संवेगों के अवरोध के कारण होता है और कभी-कभी भावना-ग्रन्थियो के पड़ जाने से भी होता है। ऐसी दशा में हकलाना मन्द बुद्धि का द्योतक नहीं। परन्तु जिन बालकों का हकलाना संवेगों के अवरोध अथवा भावना-ग्रन्थि के कारण होता है, उन्हे चित्त विश्लेषण द्वारा अच्छा किया जा सकता है। जो बालक जन्म से ही हकलाते है उनके विषय में अवश्य यह कहा जा सकता है कि उनका हकलाना बुद्धि की कमी का सूचक है।

जो बालक ठीक-ठीक नहीं बोल पाता उसे अपने भाव-प्रकाशन का पूरा अवसर नहीं मिलता। हमारी बुद्धि का विकास भाव-प्रकाशन ही से होता है। जब किसी बालक को भाव-प्रकाशन का अवसर नहीं मिलता तो उसके भाव मन में ही अवरुद्ध रह जाते हैं। वे उसके जीवन में किसी काम में नहीं आते। ऐसी दशा में बालक के मन मे अनेक अच्छे भाव उठते ही नहीं। हम में वही योग्यता बढ़ती है, जिसके प्रकाशन का अवसर हमें मिलता है। जब भावों को अपने प्रकाशन का अवसर नहीं मिलता तो वे मन में आना ही छोड़ देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बोलने की शक्ति की कमी होने के साथ-साथ भावो की अथवा बुद्धि की कमी हो जाना स्वाभाविक है।

डाक्टरों ने मन्दबुद्धि बालकों को उनकी शारीरिक एवं मस्तिष्क-सम्बन्धी बनावट से भी पहचानने का प्रयत्न किया है। डाक्टर ट्रेक गोल्ड की मेन्टल डेफीसेन्सी नामक पुस्तक में विस्तार-पूर्वक मन्दबुद्धि बालकों के मस्तिष्क की बनावट का वर्णन किया गया है। जो पाठक इस बात में रुचि रखते हों, उन्हे उस पुस्तक को अवश्य देखना चाहिये।

मनोवैज्ञानिकों ने मन्दबुद्धिवाले बालको की पहचान के लिए कुछ प्रयोग निकाले है। इस विषय के प्रारम्भिक प्रयोग बालकों

के इन्द्रियज्ञान के विषय में थे। जर्मनी के वेवर और फेकनर साहवों ने संवेदना-शक्ति की भली भाँति जाँच की और संवेदना शक्ति की माप के द्वारा बुद्धिमाप का प्रयत्न किया। पर इससे बालक की बुद्धि का ठीक-ठीक परिचय नहीं हो पाता था। अतएव आधुनिक बुद्धिमाप-परीक्षाओं का आविष्कार हुआ।

बिने का बुद्धिमाप

बुद्धिमाप का वैज्ञानिक प्रयत्न इस शताब्दी के पहले नहीं हुआ था। इस प्रयत्न के अग्रगामी फ्रांस के अलफ्रेड बिने नाम के एक डाक्टर थे। उन्हे पेरिस की म्यूनिसिपल्टी ने न्यून बुद्धिवाले बालकों का पता चलाने का काम सौंपा था, ताकि उन्हे अलग स्कूलों में नई पद्धति से पढ़ाया जा सके। सन् १९०४ ई० में अलफ्रेड बिने और थ्योडर साइमन ने पेरिस मे पहलेपहल बुद्धिमाप के लिए एक प्रश्नावली बनाई। यह प्रश्नावली अनुभव से इतनी भरी हुई थी कि उसका अनुवाद अनेक देशो की भाषाओ में हुआ। अब उसमें अनेक परिवर्तन हो गये हैं तथा अपने-अपने वातावरण के अनुसार अनेक प्रश्नावलियाँ देश-देश के मनोवैज्ञानिकों ने बना ली हैं।

बिने महाशय ने अपने अनुभव से यह बात देखी कि जो बाते औसत चार वर्ष का बालक कर सकता है उनको तीन वर्ष का बालक नहीं कर सकता। इसी तरह जो बातें औसत पाँच वर्ष का बालक कर सकता है, वे बातें चार वर्ष की अवस्थावाला बालक नहीं कर सकता। उसने १६ वर्ष की अवस्था तक के बालकों के लिए अलग-अलग प्रश्नावली बनाई है। बिने का तरीका "क्रम का तरीका" था। अर्थात् उसने हर एक उम्र के बालक के लिए प्रश्नावली बनाई। जो बालक अपनी अवस्थावाली प्रश्नावली के प्रश्नों को हल कर सकता था, उसे साधारण बालक कहा जाता था और जो बालक अपनी अवस्था की प्रश्नावली के प्रश्नो को हल नहीं कर सकता था, उसे मन्दबुद्धि समझा जाता था। इसी तरह जो बालक अपनी अवस्था से आगे की प्रश्नावली के प्रश्न हल करने में समर्थ होता था, उसे तीव्र बुद्धिवाला समझा जाता था।

यहाँ पर बिने की प्रश्नावलियों के कुछ प्रश्न उद्धृत किये जाते है। ये अँगरेज़ी बालकों के लिए संशोधित किये गये रूप की हैं।

बिने की परीक्षा के प्रश्न

तीन वर्ष की अवस्था के लिए

१—अपनी नाक, आँख और मुँह बताओ।

२—दो संख्याओं को दुहराओ। उदाहरणार्थ ३७, ६४, ७२ तीनों मे से एक सही होना चाहिये।

३—अपने लिङ्ग का ज्ञान—तुम लड़का हो अथवा लड़की ?

४—अपना नाम और गोत्र बताओ।

५—चाकू, चाबी और पैसे का नाम पूछना।

६—दो तसवीरो में से चीज़ो के नाम बताओ।

चार वर्ष के लिए

१—"मुझे ठढ और भूख लगी है" इस बात को कहो।

२—तीन संख्याओं को कहलवाना ९१४, २८६, ५३९ (तीनों में से एक सही होना चाहिये।)

३—चार पैसे की गिनती करो।

४—दो कीलो मे से छोटी बड़ी कीलों को बताना।

५—तसवीरों मे से ख़ूबसूरत चेहरे को बताना (तीन जोड़ी चेहरे दिखाना)।

पाँच वर्ष के लिए

१—तीन काम देना—चाबी को टेबुल पर रख दो, दरवाज़ा बन्द कर दो और किताब ले आओ।

२—एक समकोण चतुर्भुज की नकल करना।

३—दश पद का वाक्य दुहराना।

४—अपनी उम्र बताना।

५—सवेरे और दोपहर का भेद जानना।

६—सामान्य चार रङ्गो को दिखाकर पहचनवाना—नीला, पीला, हरा और लाल।

७—चार सख्याओं को कहना।

८—तीन जोड़ी वस्तुओ के वजन—जिनमे थोड़ा-थोड़ा फर्क है, बताना।

बिने की परीक्षाओं की विशेषताएँ—बिने के बुद्धिमाप की तीन विशेषताएँ थीं। पहले तो बात यह थी कि बिने ने हजारो बालकों को प्रश्न देकर उचित प्रश्नो को एकत्र किया था। प्रश्न किसी एक विषय के नही थे। भिन्न भिन्न योग्यता जानने के प्रश्न थे।

दूसरी बात बिने के बुद्धिमाप मे यह थी कि उसने उम्र की माप रक्खी थी। अर्थात् जो बालक कम अवस्था होने पर अधिक अवस्थावाले बालक के प्रश्नो को हल कर सकता था, उसे प्रखर बुद्धिवाला समझा जाता था और जो अपनी अवस्था के प्रश्नो को नहीं कर सकता था, उसे मन्द बुद्धिवाला समझा गया। इस प्रकार बालको की एक वास्तविक आयु और दूसरी मानसिक आयु मानी गई और उन दोनो की तुलना से बुद्धिमाप किया गया था।

तीसरी विशेषता बिने की बुद्धि-माप मे यह थी कि उसने कोई विशेष बुद्धि का सिद्धान्त नही बनाया। बुद्धियाँ एक ही प्रकार की है अथवा अनेक प्रकार की, इसकी झझट मे बिने नहीं पड़ा। उसके प्रश्न बालक की साधारण बुद्धि की माप करने के लिए ही थे।

बुद्धिमाप में उन्नति

बिने के प्रयास को देखकर अनेक लोगो ने और प्रयास किये। बिने के बुद्धिमाप मे अनेक प्रकार की उन्नतियाँ हुईं और आजकल कितने ही मनोवैज्ञानिक अपना बहुमूल्य समय नये-नये बुद्धिमाप के बनाने मे लगा रहे है तथा बुद्धि के स्वरूप और प्रकार के विषय में अनेक प्रकार के सिद्धान्त स्थिर कर रहे हैं।

बुद्धि-उपलब्धि :—बिने के बुद्धिमाप की पद्धति मे कई परिवर्तन हुए है, जिनकी ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करना

1 Intelligence Quotient

आवश्यक है। पहले महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जर्मनी के बालमनोविज्ञानिक विलियम स्टर्न के सुझाने से किया गया। अब मानसिक आयु का माप नहीं माना जाता। "बुद्धि उपलब्धि" के द्वारा अब बुद्धि मापी जाती है। मानसिक आयु मे वास्तविक आयु का भाग देकर इसे हम प्राप्त करते है। इस बात को इस प्रकार लिख सकते हैं—

$$\text{बुद्धि-उपलब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}}$$

यदि मानसिक आयु में वास्तविक आयु का भाग देने से भागफल १ आया तो बालक साधारण-बुद्धिवाला समझा जायगा। यदि १ से कम भागफल आया तो उसे मन्द-बुद्धि समझा जायगा। यदि १ से अधिक भागफल आया तो बालक को प्रखर बुद्धिवाला समझा जायगा। आजकल इस भागफल को १०० से गुणा कर दिया जाता है। १०० भागफल आने पर बालक को साधारण बुद्धिवाला समझा जाता है। १०० से कम होने पर मन्दबुद्धि और १०० से अधिक होने पर प्रखरबुद्धि का समझा जाता है।

$$\text{अर्थात्—बुद्धि-उपलब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

निम्नलिखित प्रकार से बालको को उनकी बुद्धि के अनुसार ९ विभागों में विभाजित किया है—

प्रकार का नाम	बुद्धि-उपलब्धि
१—प्रतिभाशाली[1]	१४० से ऊपर तक
२—प्रखरबुद्धि[2]	१२० से ,, १४० ,,
३—तीव्राबुद्धि[3]	११० से ,, १२० ,,
४—सामन्यबुद्धि[4]	९० से ,, ११० ,,
५—मन्दबुद्धि[5]	८० से ,, ९० ,,
६—निर्बलबुद्धि[6]	७० से ,, ८० ,,
७—मूर्ख[7]	५० से ,, ७० ,,
८—मूढ़[8]	२५ से ,, ५० ,,
९—जड़[9]	० से लेकर २५ ,,

1 Genius. 2. Very Superior 3. Bright. 4 Normal. 5 Dull. 6. Border line 7. Morone 8. Imbecile 9 Idiot

टरमेन का सुधार :—बिने महाशय की परीक्षाओ में दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ है कि बालक एक प्रश्नावली के जितने प्रश्नों का उत्तर देता है उसके लिए उसे नम्बर मिलते हैं। बिने के बुद्धिमाप मे यह बात न थी। जब किसी आयु की प्रश्नावली के दो प्रश्नो से अधिक के उत्तर बालक ठीक नहीं देता था तो उसको कुछ भी नम्बर उस प्रश्नावली मे नहीं दिये जाते थे। मान लो कोई बालक किसी प्रश्नावली के गणित के प्रश्न नहीं कर पाता पर भाषा के प्रश्न सब कर लेता है तो उसे इसके लिए नम्बर नहीं दिये जाते थे। टरमन महाशय ने इस त्रुटि को दूर किया। उन्होने ऐसे प्रश्न बनाये जो हर एक आयु के बालक को दिये जा सके। और बालक को हर एक प्रश्न के लिये नम्बर दिये जाते हैं। इस प्रकार परीक्षा लेने से बालको की विशेष विषय की योग्यता का पता चलने लगा। कोई बालक गणित के कारण और कोई भाषाज्ञान के कारण अधिक नम्बर पाने लगा। अनुभव से देखा गया कि कई बालको मे साधारणतः एक बराबर बुद्धि होते हुए भी एक ही प्रकार की बुद्धि नहीं होती। कोई बालक गणित मे तीव्र होता है तो कोई इतिहास, भूगोल व भाषा मे।

टरमेन का बुद्धिमापक परीक्षापत्र

३ वर्ष के लिए

(१) शरीर के अवयवो की तरफ इशारा करना (अपनी नाक बताओ)।

(२) परिचित वस्तुओ का नाम बताना—दीवालघड़ी, तश्तरी (वह क्या है ?)

(३) किसी तसवीर की तरफ देखकर और तीन वस्तुओ का नाम बताना, जो कि उसमे हो।

(४) लिङ्गभेद करना (तुम लड़के हो या लड़की ?)

(५) नामकरण करना (तुम्हारा नाम क्या है ?)

(६) दुहराना (अनुकरण के रूप मे) छः या सात खण्डा को।

४ वर्ष के लिए

(१) भिन्न भिन्न लम्बाइयो की तुलना (कौन बड़ा है ?)

(२) आकृति मे पहचान का भेद करना (एक वृत्त दिखलाया जावे और वही आकृति बहुत से भिन्न चित्रो मे से चुनना)।

(३) चार सिक्कों का गिनना।

(४) एक वर्ग की आकृति बनाना।

(५) व्यावहारिक प्रश्नो का जवाब देना (तुम क्या करोगे जब कि तुम थके हो, भूखे हो, या ठण्ढ लग रही हो ?)

(६) चार अंकों का दुहराना (अनुकरण मे)।

५ साल के लिए

(१) २ भार की तुलना करना (३ और १५ ग्राम) (कौन भारी है ?)

(२) रंगो का नाम देना या लेना (चार कागज—लाल, पीले, हरे, नीले)।

(३) सौन्दर्य की परख (तीन जोड़े चेहरे जिनमें से प्रत्येक में एक बदसूरत हो और दूसरा ख़ूबसूरत) "कौन खूबसूरत है ?"

(४) साधारण ६ वस्तुओ की परिभाषा बतलाना (कुर्सी, घोड़ा, गुड़िया, क्या है ?)।

(५) "धैर्य्य का खेल" एक आयत बनाना जो कि दो त्रिभुजो से दिखाया गया हो।

(६) तीन हुक्मो की तामील करना ('इसे टेबुल पर रख दो, दरवाज़ा बन्द कर दो, मेरे पास वे सन्दूक लाओ')।

६ साल के लिए

(१) दायें और बायें की पहचान (अपना दायाँ हाथ दिखाओ ? और बायाँ कान)।

(२) तसवीरो मे मिटी हुई या भूली हुई बातो को बताना। (एक चेहरा बिना नाक का दिखाया जाय और पूरी तसवीर में बाँहे न हो।)

(३) १३ सिक्को का गिनना।

(४) व्यावहारिक प्रश्न (क्या करोगे, अगर बरसात हो रही हो और तुम्हे स्कूल जाना हो)।

(५) चालू सिक्को का नाम बताना।

(६) दुहराना (नकल मे) वाक्य १६ से १८ खंडो मे।

७ साल के लिए

(१) अँगुलियो की तायदाद बतलाना (पहले एक हाथ मे कितनी है, फिर दूसरे मे, फिर दोनो को मिलाकर)।

(२) किसी तसवीर को देखना और उसमें चित्रित क्रियाओ या कार्यों का विवरण।

(३) ५ अंको का दुहराना।

(४) एक मामूली गॉठ बाँधना (नकल करके)

(५) स्मृति से भेद करना या पहचानना (एक मक्खी और तितली का भेद, एक पत्थर और एक झडा, लकड़ी और शीशा)

(६) एक बहुभुज क्षेत्र की नकल करना।

छोटे बालकों का बुद्धिमाप

विचार-संबन्धी बुद्धिमाप का प्रयोग—बालक का बुद्धिमाप करने के लिए अनेक प्रयोग किये गये है। उनमे से कुछ को यहाँ उल्लिखित करना अवांछनीय न होगा।

कागज की तख्ती के कई आकृतियो के दो दो चित्र काट लिये जायँ। बालक से एक चित्र को उठाकर कहा जाय कि इसी प्रकार का दूसरा चित्र दे। पहले प्रयोग मे दो चित्रो का एक ही रङ्ग हो और फिर रङ्ग को बदल करके प्रयोग किया जा सकता है। इसमे देखा गया कि दो तिहाई बालक आकृति पर विचार करते हैं, रङ्ग पर नहीं।

बालक गणित-विषयक कुछ ज्ञान प्राप्त करने के पहले सख्या को जानने लगते है। बैकमन महाशय ने सख्याज्ञान की जॉच चार तरह से की है।

(१) संख्या बनाना। (बालकों के सामने कुछ कौड़ियाँ लाई जायँ और उनसे कहा जाय कि इनमें से मुझे ३ कौड़ियाँ दो।)

(२) संख्या का भेद बताना। (पहले बालक को दो कौड़ियाँ बताई जायें फिर तीन, फिर उससे पूछा जाय कि ये दो है या वे दो हैं। या तीन कौड़ियाँ आमने-सामने रखकर यह कहा जाय कि ये दो हैं या तीन।)

(३) संख्या का ढूँढ़ना। (एक चार्ट के ऊपर भिन्न-भिन्न संख्याओ के बिन्दु रहें। वे बालको को दिखाये जायें फिर उनसे कहा जाय कि चार बिन्दुवाले गुच्छे बताओ।)

(४) संख्या का नाम लेना। (बालक को उपर्युक्त चार्ट मे से कोई गुच्छा बता करके उससे पूछा जाय कि इस गुच्छे में कितने बिन्दु है।)

बैकमन ने ५०० विभिन्न श्रेणी के छोटे लड़कों की जाँच की। उससे पता चला कि दो वर्ष से लेकर चार वर्ष तक के बालको में ५ तक बताने की योग्यता होती है। उनके प्रयोगों से पता चला है कि संख्या बनाना सबसे सरल है और संख्या का नाम लेना सबसे कठिन। दो की संख्या दो वर्ष तक का बालक बना सकता है। वही बालक दो की सख्या का पता नहीं चला पाता और न उसका नाम ही ले सकता है। पाँच की संख्या साढ़े तीन वर्ष तक का बालक बना सकता है तथा उसका फेर बदल कर सकता है किन्तु वह न तो उसका पता चला सकता है और न नाम ले सकता है। ५ और ६ वर्ष का बालक ही ठीक-ठीक ५ तक की संख्या का पूरा बोध कर पाता है। उसके प्रयोगों का फल इस प्रकार है।

बालक की उम्र			संख्या का पूर्ण बोध
३½ वर्ष	से	४ वर्ष तक	२
४ ,,	स	४½ वर्ष तक	३
५ वर्ष	,,	५½ ,, ,,	४

वालक का संख्याज्ञान वढ़ाने का सबसे अधिक महत्त्व का समय ४ वर्ष का है। वास्तव मे इसी काल में वालक तीन का अर्थ समझने लगता है। जब एक वार ३ का ज्ञान वालक

को ठीक-ठीक हो जाता है तो उसके संख्याज्ञान का रास्ता आगे के लिए खुल जाता है।

टरमेन की वुद्धि मापक परीक्षा का प्रयोग—कुमारी क्यूनो ने टरमेन के वुद्धिमाप की परीक्षा का प्रयोग साढ़े तीन वर्ष से लेकर सात वर्ष तक के किंडर गार्टन के ११२ वालकों पर किया। उसके प्रयोग का फल निम्नलिखित चित्र से दिया जा सकता है।
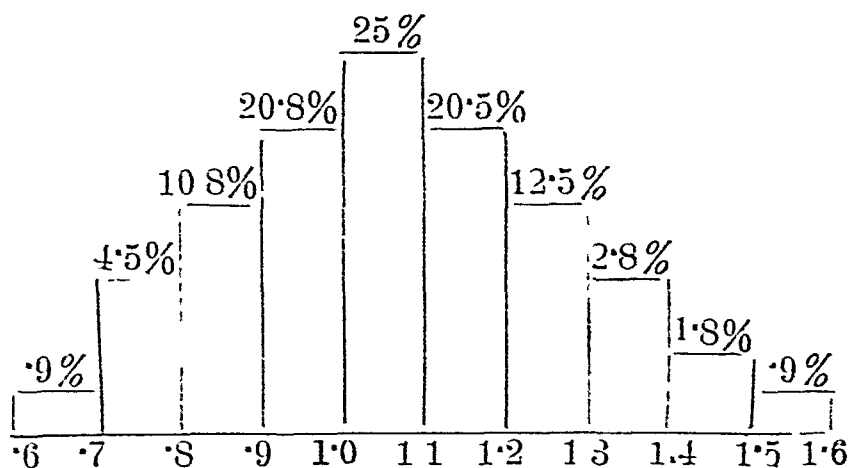
इस चित्र मे नीचे की रेखा मे लिखे अंक वृद्धि उपलब्धि वताते है और सीढ़ियो पर लिखे अंक वालकों को प्रतिशत संख्या वताते है।

इस प्रयोग से देखा गया कि वालकों की वुद्धिलब्धि ०·६ और १·६ के वीच में थी अर्थात् कुछ लड़के वुद्धि में वहुत कमजोर थे और कुछ वहुत होशियार थे। तीन वालक विलकुल ही मन्दवुद्धि पाये गये। सवसे अधिक संख्या साधारण (औसत) वुद्धिवाले वालकों की थी जैसा कि ऊपर के चित्र से स्पष्ट है।

टरमेन का कथन है कि वालकों को जो वुद्धि किन्डरगारटन की आयु मे पाई जाती है वह उनकी पीछे भी पाई जाती है। अर्थात् हम स्कूल मे जाने के पहले ही वालको की वुद्धि का पता चला सकते है। हॉ, इतनी सावधानी अवश्य रखनी पड़ती है कि वालक भय या लज्जा के कारण कही उत्तर देने में न गड़वड़ करे। देखा गया है कि जिस वालक की वुद्धिलब्धि ४ वर्ष की अवस्था मे १३ थी उसने पीछे भी इसी वुद्धिलब्धि को प्राप्त किया

और वह स्कूलों के कामों मे दूसरो से सदा आगे रहा करता था। इसी प्रकार मन्दबुद्धिवाले बालक की भी जाँच ठीक निकली। वास्तव मे विशेष गुणी बालक और मन्द बुद्धि के बालक की जाँच के लिए बुद्धिमाप की परीक्षाएँ बड़ी उपयोगी है। बालकों की इस प्रकार योग्यता जानकर उन्हें योग्य शिक्षाविधि से पढ़ाया जा सकता है।

बालकों की बुद्धि की परीक्षा छोटी अवस्था में होने से अधिक उपयोगी होती है। इस समय बालक की बुद्धि का माप उसके भाषाज्ञान एवं लिखने-पढ़ने के अभ्यास पर निर्भर नहीं रहता। अतएव निश्चय रूप से हम बालक की बुद्धि का पता चला सकते है। इस जाँच के लिए योग्य बुद्धिमापक परीक्षापत्र बनाने की आवश्यकता है।

बुद्धिमापक परीक्षाओं के प्रकार

बुद्धिमाप दो प्रकार के होते है—एक आयु माप[1] और दूसरा बिन्दु माप[2]। डाक्टर विने की बुद्धिमाप की परीक्षाएँ आयुमाप पर अवलम्बित थीं। बुद्धिमाप के सभी प्रारम्भिक प्रयास प्रायः आयुमाप पर आधारित थे। आयुमाप जितनी सरलता से बनाया जा सकता है उतनी सरलता से बिन्दुमाप नहीं बनाया जा सकता। किन्तु इस समय दोनों प्रकार के माप प्रचलित है।

आयुमाप—आयुमाप बनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के लगभग १०० प्रश्न, जो बालकों की भिन्न-भिन्न अवस्था के योग्य हो, एकत्रित किये जाते है। प्रश्नो को छाँटने में इस प्रकार का माप बनानेवाला अपने अनुभव का ही आश्रय लेता है। इन प्रश्नो का लक्ष्य बालक का सामान्य ज्ञान या सोचने की शक्ति जानना था। ये प्रश्न किसी विशेष क्रम के नहीं रक्खे गये थे। आधुनिक आयु-मापक परीक्षा में मन की विभिन्न शक्तियो के अनुसार प्रश्नों को बाँटा जाता है अर्थात् भिन्न भिन्न प्रकार के प्रश्न रक्खे जाते

---

1. Age scale   2 Point scale.

हैं। कुछ प्रश्न निरीक्षण के लिए, कुछ स्मृति के लिए और कुछ युक्तिसङ्गत विचार के लिए होते है।

इस प्रकार जब अनेक प्रश्नो को एकत्र कर लिया जाता है तो उन्हे कई सौ बालकों को देकर यह जॉचा जाता है कि किसी विशेष आयु के कितने बालक उस प्रश्नपत्र के प्रश्नो को कर सकते है। यदि कोई प्रश्न नौ वर्ष की आयु के बालक के लिए बनाया गया है तो उस प्रश्न को नौ वर्ष की आयु के ७५ फीसदी बालक जब ठीक ठीक कर लेते है तब उसे उस आयु के लिए योग्य समझा जाता है। जो प्रश्न नौ वर्ष की आयु के ७५ फीसदी बालक नही कर पाते, उसे १० या ११ वर्ष की आयु के बालको को देकर पता चलाया जाता है कि किस आयु के लिए वह उपयुक्त है।

बालकों की इस प्रकार की परीक्षा सामूहिक या वैयक्तिक दोनो रूपो से की जा सकती है। जो प्रश्न बालको की समझ मे नही आते, उन्हे तुरन्त निकाल दिया जाता है। इस तरह सैकड़ो प्रश्नो में से ८-१० प्रश्न एक एक साल के लिए रक्खे जाते है। प्रश्नो के बनाने मे सदा इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि उनका उत्तर एक या दो शब्दो में ही हो अथवा शब्द के नीचे लकीर खींच देने से ही काम चल जाय। इस तरह प्रश्नों के उत्तर जाँचने मे परीक्षक के रुचि-भेद के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता अर्थात् प्रश्न का एक ही सही उत्तर हो सकता है और सही उत्तर पाने पर परीक्षार्थी को पूरे नम्बर देने पड़ते हैं। बुद्धिमाप के प्रश्न-पत्र को प्रमाणित बनाने के लिए उसे दो बार बालको से कराया जाता है, अर्थात् उसी प्रश्न-पत्र को एक बार देकर कुछ दिनो बाद फिर दिया जाता है। जब दोनो बार के बालको के उत्तरो मे एक प्रकार की समता पाई जाती है तो उसे प्रमाणित समझा जाता है। पहली बार और दूसरी बार उत्तरो मे थोड़ा अन्तर होना स्वाभाविक ही है, किन्तु अत्यधिक अन्तर न होना चाहिये।

बिन्दुमाप—बिन्दुमाप के लिए यह आवश्यक नहीं है कि भिन्न भिन्न आयु के बालकों के लिए भिन्न प्रश्न दिये जायँ। एक

ही परीक्षा-पत्र भिन्न भिन्न आयु के बालकों को दिया जाता है जिनकी आयु में ६, ७ वर्ष का अन्तर हो। अब यह देखा जाता है कि किस आयु के बालक कितनी दूर तक उस परीक्षा-पत्र के प्रश्नों को हल कर सकते है अर्थात् किसी विशेष आयु के बालकों के औसत नम्बर कितने है। मान लीजिए आठ वर्ष की आयु के बालकों के १५० पूर्णांक मे से औसत नंबर ८० है और ६ वर्ष की आयु के बालकों के १५० पूर्णांक मे से ९० है। इस स्थिति मे ८० नम्बर ८ वर्ष के साधारण बालक का नम्बर मान लिया जाना चाहिये। जिस बालक के ८० नम्बर हो उसकी मानसिक आयु ८ वर्ष समझी जायगी और जिस बालक के उसी प्रश्न-पत्र में ९० नम्बर हों उसकी मानसिक आयु ९ वर्ष समझी जायगी।

जब इस तरह परीक्षापत्र प्रमाणित हो चुकता है तो किसी विशेष बालक की बुद्धिलब्धि निकालने के लिए बालक की वास्तविक आयु से मानसिक आयु का भाग दिया जा सकता है। यदि कोई ८ वर्ष का बालक ९० नम्बर पाता है तो उसकी बुद्धिलब्धि $\frac{९}{८} \times १०० =$ ११२ होगी। इसी प्रकार यदि ९ वर्ष का बालक उक्त प्रश्न-पत्र में ८० नम्बर पाता है तो उसकी बुद्धिलब्धि $\frac{८}{९} \times १०० = ८९$ होगी।

बिन्दुमाप मे किसी आयु के औसत बालक के नम्बर को उस आयु के लिए माप मान लिया जाता है। जिस नम्बर को सबसे अधिक बालक पावें, उसे औसत बालक का नम्बर कहा जायगा। अच्छे प्रश्न-पत्र मे साधारण औसत नम्बर[1] और औसत बालक के नम्बर[2] एक ही होते है।

प्रश्नों के प्रकार

प्रश्नों को प्रायः निम्नलिखित विभागो मे विभाजित किया जाता है—

(१) विरुद्ध शब्दो को बताना। उदाहरणार्थ, काला, अन्त, पास, संवेदना, प्रसिद्ध, घृणा इनके विलोम पूछना।

(२) समधर्म की पहचान—(अ) अँधेरे का रोशनी से वही सम्बन्ध है जो काले का (लाल, रात, दिन, सफेद से)।

1. Mean. 2. Median.

(ब) कुत्ते का पिल्ले से वही सम्बन्ध है जो गाय का (बैल, बछड़ा, भेड, घास से)।

(स) हर्ष का शोक से वही सम्बन्ध है जो सुख का (क्रोध, भय, घृणा, दुःख से)। यहाँ कोष्ठ के भीतर के उपयुक्त शब्दो के नीचे रेखा खीचनी पड़ती है।

(३) असमानधर्मी का पता चलाना—कुर्सी, टेबुल, पलँग, जैकेट, स्टूल इनमे से जो असमानधर्मी है, उसको बताना। यहाँ वस्तुओ के धर्मो का विश्लेषण करके विचारने की शक्ति की बालक की परीक्षा होती है।

(४) निरीक्षण की परीक्षा—इसके प्रश्न इस प्रकार के होते हैं—

नीचे की हर एक पंक्ति मे कोष्ठ के भीतर उन दो शब्दो के नीचे लकीर खीच दो जो कोष्ठ के बाहर लिखी चीजो मे हमेशा पाई जाती है।

(अ) लड़का (सिर, कुरता, खाल, टोपी, जूता)।

(ब) गीत (सितार, फोनोग्राफ, साथ गाना, राग, मनुष्य)

(५) समधर्म की पहचान करके उसकी व्यापकता बताना।

प्रश्न—नीचे लिखी वस्तुओ मे वह बात देखो जो उनमे सदा पाई जाती है और यह बताओ कि कोष्ठ के भीतर की वस्तुओ में से किसका उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। हस, गौरैया, गरुड़, तोता (घोसला, मुर्गी, उड़ना और पानी)।

(६) अर्थपूरक परीक्षा। यह परीक्षा इस प्रकार है—नीचे के हर एक वाक्य मे खाली जगह है जिसमे एक ऐसा शब्द भरना है जो वाक्य को पूरा कर दे। कोष्ठ के भीतर लिखे हुए शब्दो मे से उचित शब्द को रख दो।

(अ) हमे आग से ... .रहना चाहिए (दुखी, जला हुआ, सावधान)।

(ब) आसान काम का करना . ..सब से सरल नही होता (सदा, कभी कभी, बहुधा)।

(७) विदेशी भाषा के शब्द के अनेक जगह के प्रयोगो को देखकर अर्थ का अन्दाज़ लगाना। यहाँ पर बालक की विश्लेषण और तुलना करने की परीक्षा होती है।

प्रश्न – एक ओर विदेशी भाषा के वाक्य दिये हुए हैं और दूसरी ओर उसके अर्थ हिन्दी में दिये है। अब प्रत्येक शब्द के अलग अलग अर्थ अपनी भाषा मे बताओ :—

Some cream. कुछ मलाई।

Take some cake. कुछ रोटी लो।

Take sugar. चीनी लो।

इस प्रकार के प्रश्न मे शब्दो के प्रयोगो पर विचार करना पड़ता है और यह देखना होता है कि किस विदेशी भाषा के नये शब्द के साथ अपनी भाषा का नया शब्द आया है।

(८) सही और ग़लत का विवेचन—

(अ) कपास की पैदावार के लिए अधिक वर्षा की आवश्यकता है—सही—ग़लत।

(ब) बत्तक उड़ नहीं सकती है—सही–गलत।

(स) गिलहरी बिल मे रहती है—सही–गलत।

(९) शब्दो को ठीक क्रम से रखना और अर्थ को बताना—(कभी कभी आठवे प्रश्न की तरह सही और गलत की भी जाँच की जा सकती है)

जानवर एक है पालतू शेर......सही–गलत।

हैं जाती मछलियाँ पाई पानी......सही–गलत।

(१०) युक्ति-संगत विचार की परीक्षा—

(अ) जीरो रोड के सब मकान जल गये। श्याम का मकान पत्थरगली मे था; वह नहीं जला। सही, गलत, सन्देहात्मक। युक्ति-संगत उत्तर पर लकीर बनाना। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रश्न होते हैं, जिनमे बालक को हाथ से कुछ काम करना पड़ता है, जैसे कि किसी भूल-भुलैयाँ के बाहर आना।

——

बीसवाँ प्रकरण

चरित्र-गठन

चरित्र[1] का स्वरूप

जीवन की सबसे मौलिक वस्तु चरित्र है। चरित्रवान् व्यक्ति सांसारिक वैभव प्राप्त न होने पर भी सुखी रहता है और चरित्र-हीन व्यक्ति सदा दुखी रहता है। चरित्रवान् व्यक्ति को सभ्य-समाज का विवेक-बुद्धि कहा गया है। चरित्र मानसिक दृढ़ता का दूसरा नाम है। चरित्र के अभाव मे मनुष्य की बुद्धि सासारिक कठिनाइयो के पड़ने पर वैसे ही विचलित हो जाती है जैसे बिना लंगर की नाव आँधी के समय नदी मे विचलित रहती है। किसी राष्ट्र के उत्थान-पतन का कारण वहाँ के मनुष्यो का चरित्र होता है। चरित्र ही किसी देश की सस्कृति मे जीवन-संचार करता है। बालको की शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य भी चरित्र-निर्माण ही है।

चरित्र का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषय पर मनोवैज्ञा-निको का मतैक्य नहीं है। चरित्र के अन्तर्गत मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियो का समावेश होता है। इन शक्तियो के स्वरूप के विषय मे अनेक प्रकार के मत-मतान्तर रहने के कारण चरित्र के विषय मे विभिन्न मत हैं। हम यहाँ कुछ ऐसी बातो की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित कराना चाहते हैं जो चरित्र की कल्पना मे आवश्यक है।

मानसिक दृढ़ता—चरित्र का प्रथम अग मानसिक दृढ़ता अथवा अध्यात्म शक्ति[2] की बल-वृद्धि है। अपने निश्चित लक्ष्य की ओर पूरी तरह से अग्रसर रहना और अनेक बाधाओ के पड़ने पर भी निश्चित मार्ग से न हटना चरित्रवान् व्यक्तियो के आचरण का पहला

---

1 Character   2. Will

लक्षण है। संसार के सभी वीर पुरुषो के चरित्रों में यह बात देखी जाती है। जूलियस सीज़र, वाशिंगटन, मैज़नी, हर हिटलर, सभी मे हम यह मानसिक दृढ़ता देखते है। इन सभी लोगो को संसार ने किसी न किसी दृष्टि से चरित्रवान् व्यक्ति माना है।

यहाँ अध्यात्मशक्ति का स्वरूप और उसका चरित्र में स्थान बताना आवश्यक है। चरित्रवान् व्यक्ति अपनी बुद्धि से अपना कार्य निश्चित करता है और उसकी अध्यात्मशक्ति भी तदनुसार कार्य करती है। जब कोई दो भावनाएँ हमारे मन में आती हैं, जैसे सिनेमा देखने जाना और अपना पाठ याद करना, तो दोनो में हमारे मन के भीतर द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। जो भावना इस द्वन्द्व में विजयी होती है, उसके अनुसार शारीरिक व मानसिक क्रियाएँ होने लगती है। एक भावना का विजयी होकर मन मे सङ्कल्प रूप से दृढ़ हो जाना यही निश्चय का स्वरूप है।

अब प्रश्न यह है कि द्वन्द्व करनेवाली दो भावनाओ में विजयी भावना कौन होती है? इसके उत्तर में कुछ लोगो का मत है कि विजयी भावना वही होती है, जो अधिक शक्तिशाली हो। जड़-वादी प्राय: इसी सिद्धान्त के माननेवाले हैं। पर यह देखा जाता है कि किसी किसी भावना मे अपने आप अधिक शक्ति न होते हुए भी वह द्वन्द्व मे सफल हो जाती है। जैसे विद्याभ्यास और सिनेमा देखने की भावना में से पहली भावना दूसरी से अपने आप निबल होते हुए भी द्वन्द्व में विजयी हो जाती है। ऐसा क्यो होता है?

द्वन्द्व में जीत करानेवाली एक तीसरी ही अज्ञात शक्ति है। इस अज्ञात शक्ति का अस्तित्व जड़वादी नहीं मानते। चैतन्य-वादियों के अनुसार यह अज्ञात शक्ति अध्यात्मशक्ति है। यह कार्य का निर्णय करनेवाली अन्तिम शक्ति है। यही जिस भावना को जिताना चाहती है, जिता देती है और जिसको दबाना चाहती है, दबा देती है। इसके जाग्रत् होने पर ही जीवन के आदर्श बनते हैं। जितनी बार यह अपना कार्य करती है अर्थात् जितनी बार इस अध्यात्म-शक्ति के निर्णय के अनुसार हम कार्य में प्रवृत्त होते हैं उतनी बार ही इसका बल बढ़ता जाता है। इसको शक्तिशाली बनाने में ही चरित्र-विकास या चरित्रगठन है।

चरित्रवान् व्यक्ति का कोई भी निर्णय अध्यात्मशक्ति के प्रतिकूल नहीं जाता। अनेक प्रकार की आदतें भी इसी की बनाई हुई होती हैं। जब यह अध्यात्मशक्ति कई बार एक प्रकार का निर्णय कर चुकती है तो उसको उसी प्रकार का नया निर्णय करने में भारी प्रयास नहीं उठाना पड़ता। अभ्यास के वश इस नये निर्णय करने या उसके अनुकूल कार्य करने में सुगमता मिलती है। आदत इस अध्यात्मशक्ति का विकसित रूप है और उसके कार्य का सहारा भी है। अतएव चरित्र इस अध्यात्मशक्ति के कार्य का ही मूर्तिमान् फल है। चरित्रहीन व्यक्ति वह है जिसकी अध्यात्म-शक्ति बिलकुल कमजोर है और जो मूलप्रवृत्ति-जनित भावनाओं के वश में होकर कार्य करता है। अथवा जिसे उद्वेग अपने प्रवाह में वहा ले जाते हैं या जो एक प्रकार का निश्चय करके उसके प्रतिकूल कार्य करता है और इस तरह से अपनी अध्यात्मशक्ति का बल कम कर देता है।*

---

* इस अध्यात्मवाद का खण्डन जडवादियों, विकासवादियों तथा अन्य मतवालों ने किया है। जड़वादियों की एक शाखा व्यवहार-वादी है जो चरित्र को व्यवहार-संस्कार-समुच्चय मानते हैं। उनके अनुसार चरित्रगठन शारीरिक क्रियाओं पर ही निर्भर है। वे चेतना को शरीर के विकारों का फल मानते हैं अतएव हमारी क्रियाओं का कारण किसी अध्यात्मशक्ति को मानना उनके मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इस मत के प्रवर्तक वाटसन महाशय हैं।

विकासवादियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध वैज्ञानिक विलियम मेकडूगल हैं। वे इस अध्यात्मशक्ति को स्वतन्त्र शक्ति नहीं, वरन् विकास का परिणाम समझते हैं। मनुष्य के जीवन में विकास होते-होते अभ्यास के वश कुछ स्थायी भाव ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जो हमारे कार्य-निर्णय में प्रधान कार्य करने लगते हैं। इन स्थायी भावों के अतिरिक्त दूसरी कोई भी अध्यात्मशक्ति हमारे अनुभव में नहीं आती और न ऐसी कोई शक्ति है।

मेकडूगल के अनुसार "चरित्र मनुष्य की प्रवृत्तियों का संगठित स्वरूप है। यह संगठन ढीला व दृढ़ हो सकता है। उसका आदर्श

धर्म-परायणता—मानसिक दृढ़ता धर्म-परायणता अथवा सिद्धान्तों के प्रतिपालन से आती है। मनुष्य को जितना

ऊँचा व नीचा हो सकता है। पर सुन्दर चरित्र का आदर्श सदा ऊँचा ही रहता है"— (आउट लाइन आफ साइकोलॉजी, पृष्ठ ४१७)। मनुष्य का व्यक्तित्व अनेक स्थायी भावों का पुंज है। ये स्थायी भाव सचित कार्यशक्ति के केन्द्र हैं। मेकडूगल ने सब प्रकार की प्राप्त प्रवृत्तियों का समावेश स्थायी भावों में ही किया है। इनका निर्माण मूल प्रवृत्तियो के आधार पर होता है। इन केन्द्रों के स्थापित हो जाने के बाद यही मनुष्य के सब कार्यों का सञ्चालन करने लगते हैं।

स्थायी भावों में सबसे शक्तिशाली आत्मप्रतिष्ठा का स्थायी भाव (सेन्टीमेन्ट आफ सेल्फ रिगार्ड) है। सुन्दर चरित्र में सब प्रवृत्तियाँ आत्मप्रतिष्ठा के भाव द्वारा ही नियन्त्रित रहती हैं, यही उनको सङ्गठित करता है और इसी के मज़बूत होने से चरित्र बलवान् होता है। "सुन्दर चरित्र हम उसे कहेंगे, जिसमें सब स्थायी भाव सुसङ्गठित हों। वे एक के नीचे एक स्थित होकर एक महत् स्थायी भाव द्वारा नियन्त्रित हों" (सोशल साइकोलॉजी, पृष्ठ ४३३)।

जब सुसङ्गठित चरित्रवाला व्यक्ति कोई कार्य करता है तो वह उस कार्य का सम्बन्ध अपनी अनेक प्रवृत्तियों से तथा स्वात्मभाव से समझने की चेष्टा करता है। जो कार्य इस स्थायी भाव के अनुकूल होता है, उसको मनुष्य करता है और जो नहीं होता, उसे नहीं करता। अतएव उसके विवेक और निर्णय में आत्मप्रतिष्ठा-भाव का ही प्रधान स्थान है। आत्मप्रतिष्ठा-भाव के अतिरिक्त कोई दूसरी ऐसी अज्ञात अध्यात्मशक्ति नहीं है जो हमारे मन में निर्णय का कार्य करती हो।

इस आत्मप्रतिष्ठा-भाव का विकास धीरे-धीरे होता है। बालक में शुरू में यह स्थायी भाव होता ही नहीं। परिस्थितियों के संघर्ष से उसके अन्दर इस स्थायी भाव का उदय होता है। समाज-सम्पर्क भी उसे दृढ़ करने में सहायक होता है। इसी तरह अध्ययन और विचार से भी आत्मप्रतिष्ठा-भाव दिन प्रतिदिन विकसित होता है और

मानसिक बल धर्म-बुद्धि से प्राप्त होता है, उतना और किसी दूसरे साधन से प्राप्त नहीं होता। जो मनुष्य जितना ही अधिक

हमारे सब कार्यों मे प्रधान स्थान रखने लगता है। यह सब प्राकृतिक विकास का प्रतिफल है।

इस मत में हमें दो शङ्काएँ हैं। पहले तो 'आत्म'-सूचक कोई पदार्थ स्थायी भाव के अतिरिक्त मेकडूगल ने नहीं माना, तब उसकी अनुपस्थिति में आत्मप्रतिष्ठा-भाव का निर्माण कैसे होगा? हर एक भाव चाहे वह स्थायी हो अथवा अस्थायी, सुसङ्गठित हो अथवा नही, आत्मा का (या सत्त्व का) भाव है। अतएव स्व, सत्त्व व आत्मा इन भावों से अतिरिक्त पदार्थ है और सब भाव उस पर निर्भर हैं। पर मेकडूगल ने इसका उलटा सिद्धान्त स्थिर करने की चेष्टा की है। 'स्व' को कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना, उसे स्थायी भावों का कार्य माना है। स्थायी भावों के सङ्गठन से सत्त्व का भाव कैसे पैदा हो सकता है अथवा स्थायी भाव अपने आप कैसे सङ्गठित हो जा सकते हैं?—इन प्रश्नों का उत्तर हमें मेकडूगल से नही मिलता। काट ने अपनी क्रिटीक आफ प्यौररोज़न नाम की किताब में मानसिक क्रियाओं मे आत्मा की प्रधानता का सिद्धान्त जो बड़े गम्भीर विचार के उपरान्त निकाला था, उसे विकासवादी सहज में ही उड़ा देना चाहते हैं। वास्तव में आत्मविकास एक स्वय विरोधी कल्पना है। यदि 'स्व' या आत्मा मनुष्य की भावनाओं से अतिरिक्त कोई विशेष पदार्थ या स्वतन्त्र अध्यात्मशक्ति नहीं तो उसका उदय पीछे कैसे हो जायगा, जिससे वह किसी स्थायी भाव के साथ जुड़ सके अथवा अनेक स्थायी भावों को सङ्गठित कर सके? अतएव हमे यह कहना पड़ता है कि हमारी अन्तिम निर्णयशक्ति नई पैदा हुई शक्ति नहीं है, वरन् वह पहले से ही स्थित है। बालक को इस शक्ति का बोध नही होता, आयु बढ़ने से इसका बोध होने लगता है। इस अध्यात्मशक्ति के अनुसार कार्य करने से उसका जीवन में प्रभाव बढ़ने लगता है और यही प्रभाव बढ़ने में चरित्र-सङ्गठन है। चरित्र अध्यात्मशक्ति के बल का दूसरा नाम है अथवा मनुष्य का चरित्र अध्यात्म-शक्ति की क्रिया का प्रतिफल है।

अपने कर्तव्य को पहचानता है और उस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए तत्पर रहता है, वह उतना ही मानसिक बल में दूसरों से अधिक रहता है। धार्मिकता मे नैतिकता, सदाचार तथा ईश्वर-विश्वास इन सभी बातो का समावेश होता है। सिद्धान्तहीन, दुराचारी तथा नास्तिक लोगो में मानसिक दृढ़ता का पाया जाना कठिन है। जो मनुष्य किन्हीं निश्चित सिद्धान्तो के अनुसार अपने जीवन को यापन करता है, जो सबके सुख को बढ़ाने का प्रयत्न करता रहता है तथा जिसे सदा यह प्रतिभासित होता है कि मेरे सभी कामो को एक अदृश्य आत्मा देख रही है और वह भले-बुरे की योग्य-निर्णायक है, वह कदापि कायरता में पड़कर अनुचित मार्ग को ग्रहण नही करता। ऐसा मनुष्य सब प्रकार के दुःखो को प्रसन्नता से सह सकता है।

ज्ञानवृद्धि और अभ्यास—उपर्युक्त धार्मिकता की प्राप्ति के लिए ज्ञान-वृद्धि और अभ्यास की आवश्यकता है। अज्ञानी मनुष्य को भले-बुरे का ज्ञान ही नहीं रहता। ऐसे मनुष्य में सदाचार और ईश्वर-विश्वास की उपस्थिति की आशा करना व्यर्थ है। ज्ञान के द्वारा मनुष्य भले-बुरे की पहचान करता है, वह अपने जीवन के लक्ष्य को निश्चित करता तथा अभ्यास के द्वारा अपने मन को वश मे करके उस निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करता है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि चरित्र का प्रधान अग मानसिक दृढ़ता है और उसके उपार्जन के प्रमुख साधन ज्ञान और अभ्यास है।

चरित्र-गठन

प्रकार की कर देते हैं। यही संस्कार उसके चरित्र-विकास में सहायक हो सकते हैं अथवा उसकी गति का अवरोध कर सकते हैं। यहाँ पर कुछ ऐसी बाते उल्लेखनीय हैं जो बालकों के मन में शुभ संस्कार डालने मे सहायक होती हैं और जिनसे उनके चरित्र का निर्माण भली भाँति होता है।

कहानी—बालको के मन मे शुभ संस्कारो के डालने में कहानियाँ बड़ी सहायक होती है। कहानियो के द्वारा बालक को क्रूर, स्वार्थी, कायर बनाया जा सकता है अथवा इसके विपरीत उदार, परोपकारी और वीर पुरुष। बचपन मे बालक जिस प्रकार की कहानियाँ सुनते है, वैसा ही उनके चरित्र का निर्माण होता है। सभ्य देशो के पण्डितो ने ऐसी कहानियो का निर्माण किया है जिनसे समाज के बालको के मनो के ऊपर अच्छा असर पड़ता है और जिनसे बालक नैतिकता एव व्यवहार-कुशलता ही नहीं सीखते, वरन् मानसिक दृढ़ता भी प्राप्त करते हैं। प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य है कि ऐसी सुन्दर कहानियाँ सीखे और छोटे बालको को सुनावे। बालको से कदापि ऐसी कहानियाँ न कहनी चाहिये जिनसे उनके मन मे भीरुता, स्वार्थ-परायणता अथवा हिंसा-वृत्ति बढ़े।

वीर गाथाएँ—छोटे बालको के चरित्र-गठन मे जिस प्रकार कहानियाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार किशोरावस्था के बालको के लिए इतिहास और वीर-गाथाएँ आवश्यक है। मनुष्य का मन जिस प्रकार के कल्पना-जगत् मे भ्रमण करता है, उसका आचरण उसी प्रकार का हो जाता है। शिवाजी की माता जीजाबाई ने अपने पुत्र को महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थो से वीर पुरुषो की गाथाएँ सुना सुनाकर वीर बना दिया। इसी तरह मेज़िनी और नेपोलियन की माताओ ने अपने पुत्रो को वीर बनाया था। शिक्षकों को अपने देश के अनेक वीर पुरुषो की गाथाएँ स्मरण रखनी और बालको को सुनानी चाहिये। दूसरे देश के वीर पुरुषो की गाथाओं को सुनाना भी चरित्र-निर्माण मे सहायक होता है। मनुष्य सदा अपने से बड़े का अनुकरण करने के लिए तत्पर रहता है। यदि किसी मनुष्य के सामने एक सुयोग्य आदर्श रक्खा जाय तो वह उस आदर्श के प्राप्त करने की

चेष्टा अवश्य करेगा। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको अच्छा बनाना चाहता है, इसलिए जहाँ वह अच्छाई देखता है, उसे ग्रहण करने की चेष्टा करता है। हमारे देश के बालक, साक्रिटोज़ के जीवन से, वैसी ही सचाई की शिक्षा प्राप्त कर सकते है जैसी कि वे हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर के जीवन से पाते है।

इतिहास—चरित्र-गठन मे इतिहास के अध्ययन का बड़ा महत्त्व है। बालको में जब विचार-शक्ति का विकास होता है तब वे मनुष्य के भले और बुरे कार्यों को विवेचनात्मक दृष्टि से देखने लगते है। इतिहास दृष्टान्तो द्वारा सिद्धान्तो को समझाने-वाला तत्व-ज्ञान कहा गया है। इतिहास से बालको को अतीत काल का ज्ञान होता है और भविष्य की तैयारी करने के लिए योग्यता प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, उन्हे अपने पूर्वजो के प्रति श्रद्धा और भक्ति होती है और उनके कार्यों से अपने कामो में प्रोत्साहन मिलता है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि किसी देश का इतिहास, जो बालको को पढ़ाया जाता है, उसी देशवासियो द्वारा लिखा होना चाहिये, अन्यथा उससे चरित्र-निर्माण मे लाभ न होकर हानि ही होती है।

वीर पुरुषों की पूजा—चरित्र-गठन में वीर पुरुषो की पूजा बड़े महत्त्व का स्थान रखती है। शिक्षको को चाहिये कि वे संसार के सभी वीर पुरुषो के प्रति बालको की श्रद्धा उत्पन्न करे। पाठशालाओ मे अपने देश के वीर-पुरुषो की जयन्तियाँ मनाई जानी चाहिये। कृष्ण-जन्माष्टमी, रामनवमी आदि त्योहारो का महत्त्व इसी से है कि हम ऐसे अवसरो पर अपने लोकपूज्य पूर्वजो की जीवनी का स्मरण करते है, उनका गुणानुवाद करके अपने जीवन को पवित्र करते है। हमारे देश के प्रत्येक विद्यालय मे प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह तथा दयानन्द सरस्वती की जयन्तियाँ उनके जन्म-दिवस पर मनाई जानी चाहिये।

चरित्र-निर्माण और आदत—बाल्यकाल आदत डालने का समय है। जो भली या बुरी आदतें इस समय पड़ जाती हैं, वे स्थायी हो जाती है। आदतवाले प्रकरण मे यह बताया गया है

कि बालको के जीवन मे आदते किस प्रकार डाली जा सकती हैं। हमे बालको के जीवन मे भली आदतें डालने के लिए उनके अनुकरण वा निर्देशित होने की प्रवृत्ति से काम लेना चाहिये। जो कार्य घर के वड़े बूढ़े लोग करते है, वही बालक भी करने लग जाता है। चरित्र आदतो का पुञ्ज कहा जाता है। आदत अभ्यास से उत्पन्न होती है। आदतो के कारण मनुष्य कठिन से कठिन कार्य सुगमता से करता है। आदते भली और बुरी दोनो तरह की होती है। भली आदतें कठिनता से जीवन मे डाली जाती है और उनको छोड़ने मे कठिनाई नहीं होती; बुरी आदते अपने आप पड़ जाती है और फिर उन्हे मिटाना कठिन होता है। चरित्रवान् व्यक्ति के जीवन मे अच्छी आदतो की अधिकता होती है तथा चरित्रहीन व्यक्ति के जीवन मे बुरी आदतें अधिक होती हैं, जो उसके छुड़ाये नहीं छूटतीं। इन आदतों के कारण मनुष्य का जीवन सदा दुखी रखता है। चरित्रहीन व्यक्ति दयापात्र है। वह सद्गुणो से तो रहित होता ही है, साथ ही उसमें अपनी कमी को जानने की शक्ति भी नही होती। वह अपनी कमी को न देखकर दूसरो मे उसे आरोपित करता और अपने दुःख का कारण अपने आपको न समझकर दूसरो को समझता है।

बालको मे अन्य भली आदतो के साथ आत्म-निरीक्षण की आदत भी हमे डालनी चाहिये। जिस मनुष्य मे आत्म-निरीक्षण की शक्ति है वह कठिन से कठिन परिस्थिति मे पड़कर भी अपनी बुद्धि की स्थिरता नही खोता। वह थोड़े ही समय में अपनी आपत्ति का कारण जान लेता है और उससे जल्दी सुलझ जाता है।

बालको मे आत्म-निरीक्षण की आदत डायरी लिखने के अभ्यास से डाली जा सकती है। शिक्षको को चाहिये कि बालको को अपनी दिनचर्या लिखने के लिए प्रोत्साहित करें। दिनचर्या लिखते समय मनुष्य को अपने कृत्यो पर एक दृष्टिपात करने की आवश्यकता होती है। इस समय वह अपने चरित्र की कमी को जान लेता है और भविष्य मे उसे पूर्ण करने की चेष्टा करता है। मनुष्य के मन की प्रगति सदा स्थूल से सूक्ष्म पदार्थ की

ओर होती है। जो मनुष्य अपने कार्यों की विवेचना करने में अभ्यस्त रहता है वही अपने चरित्र की विवेचना कर सकता है।

रुचियों का विकास—मनुष्य के कार्य उसकी रुचि के ऊपर निर्भर रहते हैं। आदत का परिणाम भी किसी विषय मे रुचि पैदा करना होता है। मनुष्य की रुचियाँ, उसके विचार अथवा ज्ञान पर निर्भर रहती है। जिस मनुष्य को जिस विषय का ज्ञान ही नहीं है, उसके मन मे उस विषय की रुचि रहना असम्भव है; फिर तत्सम्बन्धी कर्तव्य उसके द्वारा होना वैसा ही कठिन काम है। अतएव किसी व्यक्ति के चरित्र-निर्माण का सर्वोच्च साधन ज्ञान-वृद्धि ही है। जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरवार्ट महाशय का यह कथन कि मूर्ख व्यक्ति कदापि सद्गुणी नहीं हो सकता, पूर्णत: सत्य है। जिस मनुष्य का ज्ञान परिमित रहता है, उसकी रुचियाँ भी परिमित होती है। ऐसा मनुष्य सिवा पाशविक प्रवृत्तियो की तृप्ति में लगे रहने के और कुछ भी नही कर सकता।

मान लीजिए, एक बालक को न तो इतिहास का ज्ञान है न भूगोल और न किसी वैज्ञानिक विषय का। ऐसा वालक राजनैतिक, नागरिक तथा वैज्ञानिक विषयो मे रुचि कैसे रख सकता है और जब उसे किसी उच्च विषय मे रुचि ही नही तो वह किसी बड़े सामाजिक कार्य को लगन के साथ कैसे कर सकता है। इससे यह निश्चित है कि बालकों को उनकी जन्म-जात पाशविकता से मुक्त करने के लिए उनके ज्ञान की वृद्धि और रुचियो का विकास आवश्यक है। बालको को संसार के सभी विषयो का ज्ञान बढ़ाना चाहिये। जिस बालक का ज्ञान जितना ही विस्तीर्ण रहता है, उसकी रुचि उतनी ही विस्तीर्ण होती है। ऐसा बालक फ़ुरसत के समय में अपने आप को अच्छे काम मे ही लगाता है और उसका चरित्र अपने आप उच्च हो जाता है।

अन्तरात्मा की बलवृद्धि—चरित्र का निर्माण धीरे धीरे अन्तरात्मा की बल-वृद्धि से होता है। अन्तरात्मा का बल अपने आपको प्रलोभनो से रोकने से बढ़ता है। मनुष्य के मन में सदा अन्तर्द्वन्द्व चला करते हैं। हमारा विवेक हमें एक ओर ले जाता है और पाशविक प्रवृत्तियाँ दूसरी ओर। जितनी ही बार मनुष्य

विवेक के अनुसार कार्य करता है उतनी ही उसकी अन्तरात्मा बलवती होती जाती है और जितनी बार मनुष्य अपने विवेक के प्रतिकूल चलता है, उतना अधिक उसका मन अथवा अन्तरात्मा निर्बल होती जाती है। कुछ काल के बाद ऐसे मनुष्य में भले-बुरे का निर्णय करने की शक्ति ही नहीं रह जाती और न वह अपने आप पर किसी प्रकार का भरोसा कर सकता है। अभिभावकों को चाहिये कि वे अपने संरक्षितों को बालपन से ही मन को वश में करने की शिक्षा दें। वही बालक शिष्ट कहाने योग्य है जो किसी इच्छित वस्तु के पाने के लिए एकाएक नहीं दौड़ पड़ता, वरन् सोच-विचारकर ही उसे पाने का प्रयत्न करता है।

हमने किसी पिछले प्रकरण में लिखा है कि बालकों की इच्छाओं का दमन करना अनुचित है। पर इसका यह अर्थ कदापि न समझना चाहिये कि बालकों को अपने मन को नियन्त्रण में रखना न सिखाया जाय। यदि ऐसा न किया गया तो वे पशु ही बने रहेंगे और उनका चरित्र-विकास हो ही न सकेगा। बालक जब किसी इच्छित वस्तु को चाहे तब उसे समयान्तर करके देना चाहिये; उसे यह शिक्षा देनी चाहिये कि एकाएक किसी वस्तु को लेने को दौड़ना अनुचित है।

मान लीजिए, हम एक बालक को बाजार में टहलाने ले जा रहे हैं। वह मिठाई या फलों की दूकानें देखता है और हमसे मिठाई या फल लेने के लिए कहता है। हमें उसकी इच्छा की अवहेलना तो न करनी चाहिये पर मिठाई या फल उसके हाथ में देकर कहना चाहिये कि तुम इन्हें घर पर खाना। बाज़ार में ही खाने लग जाने की आदत बालकों में कदापि न डालनी चाहिये। जो बालक अपने मन को इतना वश में रख लेता है कि घर आने तक प्रिय से प्रिय वस्तु को नहीं खाता, वह बड़ा होने पर शिष्टता और चरित्र के दूसरे गुणों को भी प्रदर्शित करता है। वास्तव में उसने अपने मन को वश में रखने का पहला पाठ सीख लिया। धीरे धीरे ऐसे ही अनेक अभ्यासों से उसका आत्मबल बढ़ जाता है और वह संसार में अपूर्व कार्य कर दिखाता है।

प्रोत्साहन—चरित्र-विकास मे प्रोत्साहन का बड़ा महत्त्व है। चरित्र के ऐसे मौलिक गुण—जैसे वीरता, धैर्य आदि—प्रोत्साहन से ही आते है। जिस बालक को अपने कामों में प्रोत्साहन नहीं मिलता वह अपने जीवन को निराशामय बना लेता है। ऐसा बालक किसी भी कार्य को लगन के साथ नहीं करता, अतएव उसकी आत्मा निर्बल हो जाती है। निरतर कार्य करते रहने से ही मनुष्य अपने आपको पहचानता है। प्रोत्साहन के अभाव में किसी भी कार्य को लगन के साथ करना असम्भव है।

बालक जब किसी प्रश्न को बार बार पूछता है तो प्रौढ़ लोग उसे डॉटकर चुप कर देते है। इससे बालक के मन मे निराशा आ जाती है। उसे हर एक काम करने से अदृश्य भय उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह जब बालक कोई वस्तु माँगता है और हम उसे डॉट देते है तब वह निराश हो जाता है। जीवन में ऐसे ऐसे अनेक अनुभव होने पर बालक का स्वभाव ही निराशामय बन जाता है। उसका उत्साह नष्ट हो जाता है। निरुत्साही बालक ही कायर होता है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जन्म से कोई भी बालक कायर नहीं होता। कायरता जीवन के कुसंस्कारो से ही उत्पन्न होती है। कायरता असफलता के सस्कार का परिणाम मात्र है। यदि बालक को अपने कार्यों में साधारण सफलता और प्रोत्साहन मिलता जाय तो वह अवश्य वीर बनेगा।

प्रत्येक अभिभावक का यह धर्म है कि बालको के सामने उत्तरोत्तर कठिन कामों को रक्खे। बालकों को दिये हुए कार्य न अति सरल हो और न अति कठिन। जो बालक सरल ही कार्य करता रहता है उसमे कठिनाइयो का सामना करने की आदत नहीं पड़ती। ऐसा बालक कठनाइयो के पड़ने पर अपने आपको असहाय अवस्था में पाता है। उसमे कठिनाइयां का सामना करने की उमग ही नहीं रहती। ऐसा व्यक्ति न तो ससार का भला कर सकता है और न अपना ही। यही दशा उस बालक की भी होती है, जिसको ऐसे काम दिये जाते है, जिनका करना उसकी शक्ति के बाहर हो। वह अपनी योग्यता को परख ही नही पाता है। मानसिक बल अभ्यास से ही बढ़ता है। इस अभ्यास के लिए उत्तरोत्तर कठिन कार्य बालको को सामने रखना चाहिये।

आदर्शवादिता—चरित्र-गठन में आदर्श का बड़ा महत्त्व है। आदर्शहीन मनुष्य कदापि चरित्रवान् नहीं हो सकता। आदर्श मनुष्य के विचारों को सूत्रीभूत करता है; और उन्हें नियन्त्रण में रखता है। जिस मनुष्य के विचार नियन्त्रित रहते हैं तथा जिस लक्ष्य की ओर वे अग्रसर होते हैं उसकी क्रियाएँ भी नियन्त्रित रहती हैं तथा उनका प्रवाह लक्ष्य विशेष की ओर होता है। स्वस्थ मनुष्य की क्रियाएँ सदा विचारों की अनुगामिनी होती है। जिस मनुष्य के विचार उच्च हैं उसका आचरण स्वभावतः लोकोपकारी और उसका चरित्र आदरणीय हो जाता है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि जिस मनुष्य का जितना ऊँचा आदर्श होता है, वह उतना ही चरित्र में ऊँचा होता है।

पर यहाँ यह बताना आवश्यक है कि आदर्श सक्रिय होना चाहिये। कोरी आदर्शवादिता एक प्रकार की मानसिक बीमारी है। यह चरित्र के दोषों के छिपाने के प्रयत्न मात्र है। अति उच्च आदर्शवाला व्यक्ति दूसरों के चरित्र के दोषों को देखता रहता है; अपने आप कुछ भी नहीं करता। बालकों में इस प्रकार की आदर्शवादिता को कदापि न आने दें। बालकों के समक्ष जो आदर्श रक्खे जायँ, वे ऐसे रहें जिन्हें बालक वास्तविक जगत् में प्राप्त कर सकें। ऐसा न होने पर आदर्शों की उपस्थिति चरित्र का विनाश करती है।

——

इक्कीसवाँ प्रकरण

बाल-मन की उलझनें

आधुनिक चित्तविश्लेषण-विज्ञान ने मनुष्य के व्यक्तित्व पर जितना प्रकाश डाला है, उतना प्रकाश किसी दूसरे प्रकार के अध्ययन से हमें प्राप्त नहीं हुआ। डाक्टर फ्राइड, युंग, ऐडलर, जोन्स, फ्रेंकजी आदि विद्वानों ने मन के अन्त:पटलों का अध्ययन कर एक नया विज्ञान ही रच डाला है। यह विज्ञान अँगरेजी में साइकोएनालेसिस कहलाता है। इस विज्ञान के अध्ययन से पता चलता है कि मनुष्य के जीवन की अनेक प्रकार की जटिलताओं की जड़ उसके बचपन के अनुभवो में होती है। अतएव बालकों के संस्कारो का अध्ययन करना एक महत्त्व-पूर्ण विषय हो गया है। इसी तरह अनेक बालकों के आचरण तथा बौद्धिक समस्याओ का कारण उनके अदृश्य मन में चलनेवाला द्वन्द्व रहता है। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण कितने ही बालक दुराचारी, अनुद्योगी तथा मन्दबुद्धि हो जाते हैं। इस प्रकरण मे हम पाठकों के समक्ष उस अदृश्य मन की रूप-रेखा खीचने की चेष्टा करेंगे जिसमें अन्तर्द्वन्द्व चलता है और साथ ही बालकों के मन में होनेवाले अंतर्द्वन्द्व का स्वरूप एवं उसका कारण दर्शाने की चेष्टा करेंगे ताकि अभिभावकगण अपने बालको को इस प्रकार के द्वन्द्व से मुक्त कर सकें।

अव्यक्त मन[1] का स्वरूप

मनोविश्लेपण-वैज्ञानिको ने मन की तुलना समुद्र में उतराते हुए बर्फ के पहाड़ (आइसबर्ग) से की है। जिस तरह आइसबर्ग का अधिकाश भाग पानी के नीचे रहता है और पानी की सतह के

---

1. Unconscious mind

ऊपर रहनेवाला भाग पूरे आइसबर्ग का थोड़ा ही हिस्सा रहता है, इसी तरह हमारे मन का अधिक हिस्सा चेतन मन की पहुँच के बाहर रहता है। हमारे समस्त मन का थोड़ा ही हिस्सा चेतन मन है, अधिक भाग अदृश्य अथवा अव्यक्त मन है। पर यह अदृश्य मन अक्रिय नही है। जिस प्रकार चेतन मन सक्रिय है, उसी प्रकार अदृश्य मन भी है। वास्तव मे अदृश्य मन की क्रियाएँ ही चेतन मन की अधिक क्रियाओ का सञ्चालन करती है। इस तरह अदृश्य-मन और चेतन मन मे कारण कार्य का सम्बन्ध है।

दृश्य और अदृश्य मन का सम्बन्ध नाट्यशाला की व्यवस्था से तुलना करके समझाया जा सकता है। जिस तरह किसी नाट्य-शाला मे होनेवाले खेल के समस्त पात्र एक साथ ही परदे के सामने नही आते इसी तरह हमारे अदृश्य मन मे रहनेवाली समस्त भावनाएँ तथा वासनाएँ व्यक्त मन के समक्ष नहीं आती। परदे के सामने होनेवाली घटनाओ का सञ्चालन परदे के भीतर से होता है, इसी तरह हमारे चेतन मन मे होनेवाली घटनाओ का सञ्चालन भी अदृश्य मन से होता है। यहाँ पर मन के तीन भाग स्पष्ट होते है; जिस तरह नाट्यशाला के तीन विभाग है—पर्दे के सामने आनेवाले पात्र, परदे के पीछेवाले पात्र और सूत्रधार—इसी तरह चेतन मन, अचेतन मन और नियन्त्रक यों मन के तीन विभाग किये जा सकते है। नियन्त्रक ही यह निश्चय करता है कि कौन पात्र कब स्टेज पर आयेगा, उचित-अनुचित का ज्ञान उसे ही रहता है, इसी तरह हमारे मन मे भी एक नियन्त्रक मन है जो किसी भी इच्छा का व्यक्त चेतना मे आने अथवा न आने का निर्णय करता है। इन तीन भागो की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेक मनोवैज्ञानिको ने की है तथा उनके भिन्न-भिन्न नाम भी दिये है। किसी ने इन्हे चेतन[1], अर्धचेतन[2] तथा अचेतन[3] नाम दिया है,* तो किसी ने अहङ्कार[4] नैतिक मन[5] तथा अव्यक्त मन[6] कहा है।

---

1 Conscious 2 Preconscious 3 Unconscious 4. Ego. 5. Superego. 6. ID

* निम्नलिखित चित्र के द्वारा मन का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है—

अव्यक्त मन के कार्य

अव्यक्त मन और स्वप्न—हम अव्यक्त मन का स्वरूप स्पष्टतः स्वप्नों में देखते हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञान के अनुसार स्वप्न हमारी दबी हुई वासनाओं के कार्य हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञान का यह मौलिक सिद्धान्त है कि हमारी प्रत्येक वासना चेतन मन में आकर अपनी परितृप्ति की चेष्टा करती है। इस प्रकार हमारी
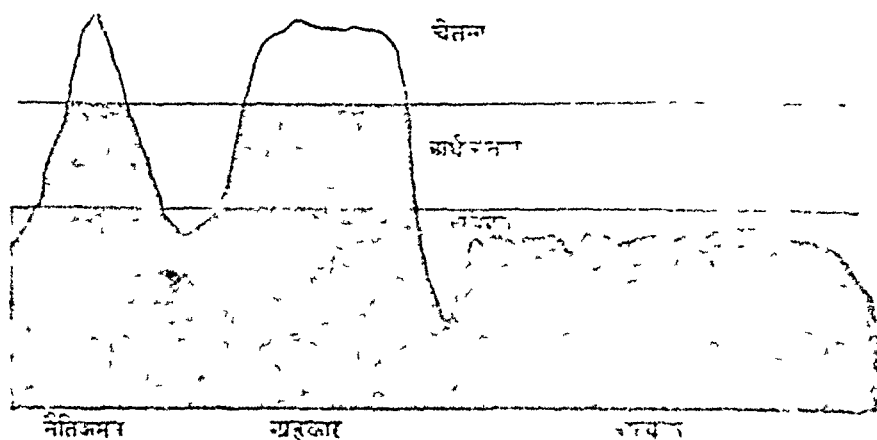
मान लीजिए हमारे सामने एक पहाड़ और उसकी घाटी है। अब मान लीजिए कि पहाड़ की चोटी की ऊँचाई के कारण सूर्य कभी घाटी पर प्रकाश नहीं डाल पाता। घाटी को चित्र के काले स्थान से दर्शाया गया है। पहाड़ की दो चोटियों पर सूर्य की धूप ठीक ठीक लगती है। उन चोटियों के नीचे सूर्य शायद दोपहर के समय ही धूप पहुँचा सकता है। जिस हिस्से पर पूरा प्रकाश पड़ रहा है वह चेतन मन को लक्षित करता है, जहाँ थोड़ा प्रकाश पड़ता है वह अर्ध-चेतना को लक्षित करता है और घाटी, जहाँ सूर्य की रोशनी पड़ती ही नहीं, अचेतन मन को लक्षित करता है। मुख्य चौड़ी चोटी को हम अहङ्कार (ईगो) कह सकते हैं, पतली चोटी को नैतिक मन और जो बहुत अधिक चौड़ा भाग है, उसे अव्यक्त मन कह सकते हैं। अहंकार और नैतिक मन दोनों ही अव्यक्त मन के बाहर हैं, अर्थात् ये या तो चेतना में हैं अथवा अर्धचेतना में, अव्यक्त मन ही पूर्ण अचेतन कहा जा सकता है। इसी मन में हमारी अनेक रहस्यमयी चेष्टाओं का कारण रहता है।

अनेक वासनाएँ जाग्रत् अवस्था मे तृप्त हो जाती हैं। वास्तव में मनुष्य जो संसार के अनेक व्यवहारो मे लगते हैं वे इन वासनाओ की तृप्ति के हेतु ही लगते हैं। किन्तु कितनी ही वासनाएँ ऐसी भी हैं जो हमारी जाग्रत् अवस्था में अनुकूल वातावरण प्राप्त न होने के कारण तृप्त नहीं हो पातीं अथवा जो हमारी नैतिक धारणा के प्रतिकूल होने के कारण दमन की जाती हैं। इन वासनाओं का विनाश नहीं होता। वे किसी दूसरे प्रकार से अपनी तृप्ति की चेष्टा करती हैं। स्वप्न-संसार इन्हीं वासनाओ का रचा हुआ होता है। स्वप्न मन की अर्धचेतन अवस्था है। जो वासना पूर्ण चेतन अवस्था मे तृप्त नहीं हो पाती वह अर्धचेतन अवस्था मे तृप्त होने की चेष्टा करती है।

कितने ही स्वप्नों मे हम अपने बिछुड़े प्रियजनो को देखते हैं और कभी जो धन खो गया है, उसे पा जाते हैं। बालकगण स्वप्न मे मिठाई ख़ूब खाते और इम्तहान मे पास होते हैं। ये सब स्वप्न अवश्य ही मन की अभिलाषाओ की पूर्ति करते हैं।

पर हम ऐसे भी बहुत से स्वप्न देखते हैं जिनका न तो अर्थ समझते हैं और न जिनका हमारे जाग्रत् जीवन से कोई सम्बन्ध जान पड़ता है। मनोविश्लेषण-विज्ञान का कथन है कि ऐसे स्वप्न भी हमारी गुप्त वासनाओ की पूर्ति मात्र हैं। ये स्वप्न किन्ही ऐसी वासनाओं के छिपे रूप हैं जो हमारी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल है।

प्रतिबंधक व्यवस्था[1]—हमारी नैतिक बुद्धि, हमारे चेतन मन और अव्यक्त मन के बीच एक प्रतिबन्ध खड़ा कर देती है। यह एक प्रकार के सेंसर आफिस का काम करती है। जो वासनाएँ हमारी नैतिक धारणाओ के प्रतिकूल है वे चेतना के समक्ष आने ही नहीं पातीं। हमारी जाग्रत् अवस्था में यह नैतिक बुद्धि सचेत रहती है और अनैतिक इच्छाओ का दमन किया करती है। पर सुप्त अवस्था मे यह नैतिक बुद्धि भी सुप्त हो जाती है और स्वप्न अवस्था में अर्ध चेतन रहती है। ऐसी ही अवस्था मे अनैतिक वासनाएँ छिपे रूप से तृप्ति पाने की चेष्टा करती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि स्वप्न

1 Censor.

एक प्रकार से सांकेतिक रूप से वासनाओं की तृप्ति पाने की चेष्टा का परिणाम है। हर एक स्वप्न का कुछ न कुछ अर्थ होता है जो हमारी वासनाओं से सम्बन्ध रखता है और यदि हम अपने स्वप्नों को भली भाँति समझ जायँ तो अवश्य ही उनका सम्बन्ध अपनी वासनाओं से पावेंगे।

दबी हुई वासनाएँ स्वप्नावस्था में परिवर्तित, संक्षिप्त, संमिश्रित और प्रतिभावित होकर प्रकट होती रहती हैं। स्वप्न से वास्तविक इच्छा का जानना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि प्रकाशित स्वप्न[1] वास्तविक स्वप्न[2] (अव्यक्त वासनाओं) से कभी कभी बिलकुल भिन्न होते है और प्रायः जितने स्वप्न हम देखते हैं, उतने स्मरण भी नहीं रह पाते; क्योकि हमारी नैतिक बुद्धि उनकी स्मृति का दमन करती है।

मि० मायर ने एक स्वप्न का वर्णन इस प्रकार किया है—"एक नवयुवती को स्वप्न हुआ कि वह स्वप्न मे सोने के जूते पहने हुए है"। स्वप्न जब विश्लेषित किया गया तो विदित हुआ कि स्वप्न किसी गहरी आन्तरिक अभिलाषा का सूचक है। युवती अपने दाम्पत्य जीवन से सुखी न थी। वह अपनी सहचरी के दाम्पत्य पर ईर्ष्या करती थी; क्योंकि उक्त सहचरी के पति को पहले उसने अस्वीकार कर तिरस्कृत किया था। अब एक दिन जब वह उसके घर मेहमान बनकर गई तो देखा कि उसकी साथिन सुनहरे जूते पहने है, इससे उसे पूर्व स्मृति की याद आई। वह सोचने लगी कि यदि मेरा ब्याह इसी व्यक्ति से होता तो मैं भी आज सुनहरे जूते पहने होती। इस प्रकार आन्तरिक अभिलाषा की पूर्ति स्वप्न में हो गई।

मिस्टर मायर ने एक दूसरे स्वप्न का उदाहरण दिया है जो पहले से बिलकुल भिन्न है और जिसमें छिपी भावना व्यक्त स्वप्न से बिलकुल ही भिन्न है। "एक व्यक्ति ने स्वप्न में अपने चचा को मरते देखा, जिसकी मृत्यु बहुत पहले हो चुकी थी"। यह स्वप्न उसे अनेक बार हो जाया करता था। विश्लेषण करने पर विदित हुआ कि स्वप्न उसे उसी समय होता था जब उसे आर्थिक कष्ट होता था। चाचा की मृत्यु ने उसे एक समय आर्थिक कष्ट से सामयिक छुटकारा दिया था। पर

1 Manifest dream. 2. Latent dream.

अब वह जब आर्थिक संकट मे आता था तो अपने पिता की मृत्यु की बात सोचता रहता था। पिता के साथ उसकी अनबन थी और वह पिता से पृथक् रहता था। यह वासना अव्यक्त मन मे होने के कारण, आर्थिक संकट के अवसर पर, चचा की मृत्यु के रूप में आ जाया करती थी। यहाँ पिता का स्थान चचा ने ग्रहण कर लिया। इस मनुष्य के अव्यक्त मन मे पिता के मरने की इच्छा होते हुए भी नैतिक बुद्धि के विरुद्ध होने के कारण उसके व्यक्त मन में वह नहीं आती थी। अतएव यह इच्छा चचा की मृत्यु के रूप मे प्रकाशित हुई। यह स्वप्न का परिवर्तित रूप है।

सांकेतिक चेष्टाएँ[1]—जिस प्रकार दबी वासनाएँ स्वप्नो व रोगो का कारण होती है, उसी तरह वे अनेक साकेतिक चेष्टाओं का भी कारण होती हैं। होठो का काटना, नाक सिकोड़ना, मुँह मोडना, दाँत से नाखून काटना, पैर और जाँघे हिलाना आदि चेष्टाएँ ऊपरी दृष्टि से कारण-रहित प्रतीत होती हैं, परन्तु इन सब शारीरिक चेष्टाओ के गुप्त कारण होते हैं। ये चेष्टाएँ अनेक दबी हुई इच्छाओ की द्योतक हैं। इनके द्वारा दबी हुई वासनाएँ साकेतिक रूप से तृप्त होने की चेष्टा करती है।

साकेतिक चेष्टाओ की उत्पत्ति शेक्सपियर द्वारा वर्णित लेडी मेकबेथ को स्वप्न-चेष्टाओ से भली भाँति से स्पष्ट हो जाती है। लेडी मेकबेथ अपनी स्वप्न अवस्था मे अचानक उठ बैठती थी और अपनी दासी को बुलाकर उससे पानी लाकर हाथ धुलाने को कहती थी। उसे उस अवस्था मे अपने हाथ रक्त-रञ्जित दिखाई देते थे। दासियाँ इस प्रकार की चेष्टाओ को देखकर चकित होती थीं। वास्तव मे लेडी मेकबेथ ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ के प्रतिकूल अपने घर मे आये अतिथि राजा डङ्कन को, जो बड़ा सत्पुरुष था, मारने के लिए अपने पति को प्रोत्साहित किया था। अपने इस कुकर्म से उसे बड़ी आत्मग्लानि थी और उसे वह भूल जाने की चेष्टा करती रहती थी। इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि लेडी मेकबेथ ने अपने व्यक्त मन से तो अपने इस पाप को भुला दिया, पर वह उसके अव्यक्त मन मे वर्तमान रहा। उसे अपनी अर्ध चेतन अवस्था मे

---

1 Automata, symptomatic acts

अपने हाथो पर रक्त के छींटे दिखाई पड़ते थे। व्यक्त मन पाप को स्वीकार नहीं करना चाहता था; वह पाप की अवांछनीय स्मृति को दबाना चाहता था, पर अव्यक्त मन उतनी ही प्रबलता से उसे स्मरण रखने की चेष्टा करता था। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण उस महिला की असाधारण मानसिक दशा हो गई और उसका पाप सांकेतिक चेष्टाओं के रूप में परिणत हो गया।

कितने ही लोग हाथ मलते रहते हैं, कितने अकारण बग़ल में झाँका करते हैं, कितने सिर खुजलाते हैं और हाथ धोने की चेष्टाएँ अपनी जाग्रत् अवस्था में करते रहते हैं। लेडी मेकबेथ जिस प्रकार अपनी स्वप्नावस्था में सांकेतिक चेष्टाएँ करती थी, उसी प्रकार जागरित अवस्था में कितने ही लोग साकेतिक चेष्टाएँ करते रहते हैं। इन चेष्टाओ का कारण भी दबी हुई भावनाएँ है। इन चेष्टाओ के करते समय व्यक्ति को पता नहीं रहता कि वह कोई असाधारण चेष्टाएँ कर रहा है। वे वास्तव में अर्धचेतन अवस्था में ही होती है; उनका ज्ञान चेतन मन को नहीं रहता।

विस्मृति—जिस तरह वासनाएँ दबी हुई स्वप्न और सांकेतिक चेष्टाएँ उत्पन्न करती है, उसी तरह वे असाधारण विस्मृति का कारण भी होती है। एक महिला अपने पूर्व प्रेमभाजन के चहरे को इतना भूल गई कि उसे वह पहचान भी न सकती थी। इस व्यक्ति ने उस महिला को निराश कर दिया था। जिन घटनाओ से आत्म-ग्लानि होती है, उन्हे हमारा मन चेतना के समक्ष आने से रोकता है। जिन लोगों को हम नहीं चाहते, उनका नाम ही हमे याद नहीं रहता। हम प्रायः दूसरो से उधार लिया रुपया भूल जाते हैं। उधार ली हुई किताबो का भूल जाना तो साधारण सो बात है। हमने स्मृतिवाले प्रकरण मे यह भली भाँति दर्शाया है कि किस प्रकार बालको को दबो भावनाग्रन्थि के कारण पढ़ाई का विषय भूल जाता है।

विक्षिप्तता—दबी भावना-ग्रन्थियाँ अनेक प्रकार की मानसिक विक्षिप्तता उत्पन्न करती हैं। स्वप्नावस्था में चलना-बकना आदि भी मानसिक विक्षिप्तता ही है। इसका कारण भी भावना-ग्रन्थियाँ हैं। जब किसी व्यक्ति के हृदय पर किसी घटना से विशेष आघात

पहुँचता है तो वह विक्षिप्त हो जाता है। उसके व्यक्त और अव्यक्त मन मे एकत्व नहीं रहता। विक्षिप्तता दुःख को चेतना से अलग करने की चेष्टा मात्र है। जब कोई मनुष्य किसी ऐसी परिस्थिति मे पड़ जाता है, जिसमें उसकी आन्तरिक अभिलाषाओ की पूर्ति की कोई सम्भावना नही दिखाई देती तो वह ऐसी अवस्था मे बाह्य जगत् को भूल जाता है और अपने अन्तर्जगत् में ही विचरण करने लगता है।

रोगो की उत्पत्ति—जैसे अव्यक्त की दबी हुई वासनाएँ स्वप्न मे उद्भूत होती है ऐसे ही वे नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न कर देती हैं। डा० फ्रायड तथा अन्य मानसिक विश्लेषण-चिकित्सा-शास्त्रज्ञो ने मधुमेह, चर्मरोग, कुष्ट, बदहज़मी, शूल, लकवा, मृगी और उन्माद आदि रोगो के रोगियो को चित्तविश्लेषण द्वारा अच्छा किया है।

गत महासमर के समय कितने ही सैनिको को लकवा की बीमारी हो गई थी। वास्तव मे ये सैनिक लड़ाई के भीषण कार्य से छुटकारा चाहते थे। उन्हें उस कार्य से छुटकारा और किसी तरह नहीं मिल सकता था अतएव उनके अव्यक्त मन ने एक रास्ता निकाल लिया जिससे उन्हे संग्राम मे रहने के लिए कोई बाध्य ही नही कर सकता था।

ब्राउन महाशय ने एक ऐसे रोगी का वर्णन किया है जो अपनी दबी भावना के कारण अंधा हो गया था। यह व्यक्ति अपनी स्त्री से, जिसे वह व्यभिचारिणी समझता था, बचना चाहता था। पर वह अपनी मान-मर्यादा के कारण उसे तिलाक भी नहीं दे सकता था। ऐसी अवस्था मे उसके मन मे अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गया और वह अन्धा हो गया।

डा० कार्डिनर ने अपनी एक पुस्तक में एक रोगिणी के बारे मे यह वर्णन लिखा है—

एक तीस-वर्षीया नवयुवती एक बार किसी चित्त-विश्लेषण-चिकित्सक के पास गई और कहने लगी कि कुछ दिन से हर छठे सप्ताह मुझे एक हुचकी आने का धक्का सा लगता है। यह धक्का कुहनी पर इतने ज़ोर से लगता है कि हाथ इस प्रकार उछलता

है, मानों किसी को मारना चाहता है। उसे यह भी याद न था कि यह स्थिति आरम्भ कब से हुई। उसके मानसिक विश्लेषण से पता चला कि उसका दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं था और वह अपनी बहन से—जिसका दाम्पत्य जीवन बहुत सुखपूर्ण था—ईर्ष्या करती थी। पहले पहल इन धक्को का लगना तब शुरू हुआ जब एक दिन वह अपनी बहन के यहाँ गई थी और वहाँ एक ही मेज़ पर बैठकर भोजन कर रही थीं। वह बहन के वैभव को न सह सकी; उसके अव्यक्त मन में बहन को मारने की ध्वनि होने लगी। पर विवेकयुक्त व्यक्त मन इसके विरुद्ध था। अतः दबी हुई भावना इस प्रकार रोगरूप में अभिव्यक्त हो उठी। जब उसको यह सब मालूम हो गया तो उसका रोग भी दूर हो गया।

बहुत से रोग जन्म से ही होते हैं। इसका कारण बालक की माता है। यदि माता को प्रवृत्तियाँ बुरी है तो उसका प्रभाव बालक पर भी पर्याप्त रूप से पड़ता रहता है। सच तो यह है कि मनुष्य की बहुत सी वासनाओं का सूत्रपात गर्भ मे ही हो जाया करता है। जो माताएँ आत्महत्या आदि पर सोचा करती हैं उनके बालक दमा, यक्ष्मा आदि से पीड़ित होते है। दमा में श्वासावरोध होता है जो श्वास-निवृत्ति अर्थात् मृत्यु का ही सूचक है।

अव्यक्त मन और मनोविकास

चित्त-विश्लेषण या मनोविश्लेषण विज्ञान का अध्ययन बाल-मन की उलझनें समझने के लिए परम आवश्यक है। हर एक व्यक्ति अपने शैशव काल में अनेक प्रकार के दुःख और दमन सहता है। उसकी आन्तरिक भावनाएँ और इच्छाएँ विकास का मार्ग नहीं पातीं। बड़े बूढ़े सदा उसकी स्वाभाविक वृत्तियों का दमन किया करते हैं। वे लोग सदा अपने पैमाने से ही बालक के स्वभाव का माप किया करते हैं। फ्रांस के रूसो नामक मनोविज्ञानवेत्ता ने इस प्रकार की चेष्टा का अनौचित्य अपनी एमिल नाम की पुस्तक मे भली भाँति बताया है। इसका असर पश्चिम के विद्वानों और शिक्षको पर पर्याप्त रूप से पड़ा है। इसलिए उनका दृष्टिकोण बालक के स्वभाव की ओर बहुत कुछ बदल गया है।

आजकल के किंडर गार्टन, मान्टेसोरी शिक्षा-पद्धति तथा डाल्टन प्लैन इसी के परिणाम-स्वरूप हैं। पर पूर्व मे तो ऐसे विचारो का अभी बीजारोपण ही हुआ है। हमारे भाव बालक के प्रति वैसे ही है जैसे यूरोप के विद्वानो के भाव रूसो के पहले थे।

देखा जाता है कि अभिभावक तथा शिक्षकगण बालक की भावनाओ का आदर नही करते। वे यह भी नहीं जानते कि उनका बचपन की चेष्टाओ और इच्छाओ का बालक के जीवन के विकास मे कितना महत्त्व है। जब बालक अनेक प्रकार की मीठी मीठी खाने की चीजे माँगता है तो अक्सर हम उसकी इन इच्छाओ का तिरस्कार करते हैं। परिणाम यह होता है कि बालक चोरी करके अपनी खाने की इच्छा को तृप्त करने का प्रयत्न करता है। हम यह समझते हैं कि बालक को शैतान ने अपने काबू मे कर लिया है। हम उसे अनेक प्रकार के दण्ड देते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप बाह्य रूप से बालक अपनी बुरी आदतो को छोड़ देता है, पर वास्तव मे उसके चरित्र में कुछ भी उन्नति नहीं होती। इसी तरह जब हम बालक को पढ़ने से जी चुराते, बड़ो की अवज्ञा करते अथवा झूठ बोलते या दूसरे लड़को को तङ्ग करते देखते हैं तो हम एकदम क्रुद्ध हो अनेक प्रकार के दण्ड देने लगते है। पर इस तरह न तो बालक की चाल-चलन सुधरती है और न उसके चरित्र ही मे उन्नति होती है। ऐसा बालक या तो बड़ा उद्दण्ड हो जाता है या एक दब्बू मनहूस बनकर अपना जीवन व्यतीत करता है। बालक के जीवन मे वास्तविक सुधार करने के लिए हमे उसके अव्यक्त मन का अध्ययन करना चाहिए। चित्तविश्लेषण-विज्ञान के अध्ययन से पता चलता है कि बालको की ऐसी उद्‌डता-पूर्ण चेष्टाओं और क्रियाओ का कारण एक ऐसी आन्तरिक बीमारी है, जिसको हम इन बाहरी उपचारों से नहीं हटा सकते। बालक की उद्दण्डता तो उस बीमारी का एक लक्षण है। बीमारी के रहते इन लक्षणो के हटाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। बालक के दुराचार का वास्तविक कारण बताकर चित्त-विश्लेषण-शास्त्र ने मनुष्यमात्र का बड़ा ही कल्याण किया है। इस शास्त्र के द्वारा हम बालक की उन छिपी भावनाओ को जानते

हैं, जिनके कारण उसके चरित्र में अनेक प्रकार के दोष हमें दिखाई पड़ते हैं।

बहुत से बालकों के व्यक्तित्व की उन्नति इसलिए रुक जाती है कि उनके शिक्षक उनकी आन्तरिक भावनाओं, इच्छाओं और प्राकृतिक आवश्यकताओं को नहीं जानते। हमें ऐसे अनेक बालक दिखाई देते हैं जिनके चेहरे से बुद्धूपन टपकता है। इसका कारण उनके प्रति लोगों का उदासीनता का व्यवहार है। उनका पालन-पोषण प्रेम से नहीं किया गया, उनको अनेक प्रकार के नैतिक बन्धनों में डालने का प्रयत्न किया गया, जिससे उनकी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाई। इस बात की पुष्टि के लिए यहाँ पर अन्ना फ्राइड की साइकोएनालिसिस एण्ड एजूकेशन नामक पुस्तक में दिया हुआ एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है।

एक बहुत ही योग्य महिला ने अपनी आजीविका उपार्जन के लिए १८ वर्ष की उम्र में शिक्षक का कार्य ग्रहण किया। वह अपने झगड़ों के कारण घर छोड़कर एक रईस के तीन बालकों की अभिभाविका और शिक्षिका बनी। उन तीन बालकों में से मँझले लड़के को शिक्षा देने में उसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। वह बालक सबक याद करने में सदा पिछड़ जाता था और देखने में बड़ा बुद्धू मालूम होता था। परिवार में उसका उच्च स्थान नहीं था। उसके दोनों भाई हर वक्त उसकी अपेक्षा अधिक सम्मानित होते थे। अभिभाविका ने अपनी सारी शक्ति इसी बालक की शिक्षा और सुधार में लगाई और थोड़े ही समय में बड़ी सफलता प्राप्त की।

लगे। कुछ दिनो के वाद ही उसका स्थान कुटुम्ब में सर्वप्रथम हो गया। पर इस समय एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। अब उस अध्यापिका और वालक मे मनोमालिन्य तथा संघर्ष पैदा हो गया। अध्यापिका ने उस वालक को प्रेम की दृष्टि से देखना वन्द कर दिया। कुछ काल के वाद उसी बालक के कारण उसने उस परिवार की नौकरी छोड़ दी जिसे कि वह पहले सबसे अधिक प्यार करती थी।

कुछ दिनों वाद जब उस अध्यापिका की परीक्षा एक चित्त-विश्लेषक ने की तो उसे, इस ऊपर कही क्रिया और प्रतिक्रिया का सच्चा कारण मालूम हुआ। अपने वचपन में यह अध्यापिका भी उस तिरस्कृत बालक की तरह घर मे जीवन व्यतीत करती थी। इसलिए उसके अव्यक्त मन ने इस बालक से अपनी तदात्मता कर ली थी। उस वालक को प्यार करने और उसके बारे मे चिन्तित रहने का अर्थ यह था कि उसकी अन्तरात्मा संसार को कहती थी कि मेरे जीवन को सफल बनाने के लिए मुझे इस तरह से रखना चाहिए था। ये सब भावनाएँ अव्यक्त मन की थीं। पाठिका के व्यक्त मन को उसका कुछ भी ज्ञान न था। अतएव जब वालक को सफलता प्राप्त हुई तो उस तदात्मता का अन्त हो गया और वह अध्यापिका उस बालक को प्यार न कर सकी वरन् उसके प्रति द्वेषभाव पैदा हो गया। अध्यापिका को स्वय अपने जीवन में उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई थी जितनी कि इस बालक को हो गई। उसका अव्यक्त मन जिस सुखा-अवस्था मे स्वयं नही पहुँच पाया था उसमे बालक को भी नहीं देखना चाहता था। अतएव बालक से झगड़े के अनेक कारण उपस्थित हो गये।

उपर्युक्त उदाहरण, जो अव्यक्त मन की सूक्ष्म क्रियाएँ एवं प्रति-क्रियाएँ दरशाता है, शिक्षको के लिए बड़े महत्त्व का है। इससे एक तो यह स्पष्ट होता है कि जो बालक अपने स्वजनो के प्रेम से वंचित रहते है अथवा जिनका सदा तिरस्कार हुआ करता है उनका उत्साह एवं स्फूर्ति बिलकुल जाती रहती हैं और वे कोई भी साहस का काम अपने जीवन मे नहीं कर सकते। दूसरी तरफ यह उदाहरण उन शिक्षकों के आंतरिक मनोभावो, विकारों तथा सुप्त संस्कारो पर प्रकाश डालता है जो कि अक्सर बालकों की शिकायत किया करते हैं।

हम कई एक शिक्षकों में बालकों को दण्ड देने की प्रबल इच्छा देखते हैं। इसका कारण उनके सुप्त संस्कार है। वही व्यक्ति शिक्षक बनने के योग्य है जिसका मन स्वस्थ हो तथा जिसके संस्कार इतने शुभ हों कि वे उसे सदा प्रसन्न बनाये रहते हों।

चित्त-विश्लेषण शास्त्र के अध्ययन से हमे यह ज्ञात होता है कि जिस बालक की इच्छाएँ कुचल दी जाती है और उनकी पूर्ति नहीं होती वह कभी बलवान् और प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हो सकता। वह सदा दब्बू बना रहता है। उसमें दूसरों के सामने दृढ़ता से खड़े रहने की शक्ति नहीं रहती।

यहाँ अन्ना फ्राइड की किताब से एक और उदाहरण लेना अनुचित न होगा। एक बालक को मिठाई खाने की बड़ी प्रबल वासना थी। यहाँ तक कि वह अपनी इच्छा पूरी करने के लिए कुछ पैसे भी चुरा लेता था। उसके माता-पिता ने इस बुरी लत को छुड़ाने का भरसक प्रयत्न किया। वे इसमे कुछ समय के बाद सफल भी हुए। बालक की मिठाई खाने की इच्छा जाती रही और उसके आचरण मे ऊपरी दृष्टि से देखने मे सुधार भी हो गया। पर जब यह बालक जवान हुआ तो उसमें डर का भाव रह गया। इस डर का अनेक प्रकार से रूपान्तरण होता रहता था।

हमें बालकों के अनेक अनुचित कार्यों के कारण, उनके अव्यक्त मन के अध्ययन से, ज्ञात हो सकते हैं। झूठ बोलना, डींग मारना, आज्ञा की अवहेलना करना, दूसरे बालकों को सताना, स्कूल के सामान को खराब करना, चोरी करना, बीड़ी पीना इत्यादि ऐसे अनेक बालकों के कार्य हैं, जिनका कारण उनके मन की भावना-ग्रन्थियाँ होती हैं। इन भावना-ग्रन्थियों से जब बालक का अत्यन्त मन मुक्त हो जाता है तो उसके आचरण में सहज ही सुधार हो जाता है। दूसरों से प्रशंसित होने की इच्छा सभी में रहती है।

रावर्ट क्लाइव के चरित्र को यदि हम देखे तो यह वात स्पष्ट हो जायगी। वह वचपन मे अपने माता-पिता के प्रेम से वंचित रहता था। इसलिए वह सदा उत्पात करके उन्हें और गाँववालो को त्रास देता था। उससे लोग तग आ गये थे। इसलिए उसे भारतवर्ष भेज दिया। पर यहाँ उसकी सबसे प्रशसित होने की इच्छा ने अपने प्रकाशन का योग्य मार्ग पा लिया और वह अपने देश और जाति के लिए अमूल्य कार्य कर गया। यदि हम उद्दण्ड बालक को, उसका स्वभाव समझकर, उसके योग्य कार्य मे लगा दें तो वह समाज के लिए अनेक भलाई के काम कर सकता है।

उत्तम व्यक्तित्व तभी प्राप्त किया जा सकता है जब मनुष्य के व्यक्त और अव्यक्तमन मे एकता उत्पन्न हो। अर्थात् मनुष्य की व्यक्त और अव्यक्त भावनाओ मे विषमता न हो। दबी हुई वासनाएँ, स्वप्न, अशान्ति, अनेक प्रकार के रोग तथा असामाजिक प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती है। ये वाते नूतन मनोविज्ञान-सम्बन्धी खोजो से विदित हुई हैं। खोज करने से मालूम हुआ है कि मनुष्य की अस्वाभाविक चेष्टाएँ भावनाओ के दबाने से उदित होती है। इससे यह स्पष्ट है कि अविचारपूर्ण कठोर दमन से मनुष्य के व्यक्तित्व की उसी प्रकार क्षति होती है, जिस प्रकार राजसत्ता को उसके अविचारयुक्त कठोर दमन से।

कभी कभी दबी हुई वासना मानसिक विकास की अवरोधक वन जाती है। शरीर तो बढ़ जाता है पर मानसिक स्थिति वैसी ही रहती है जैसी बचपन मे रही होगी। अँगरेज़ी साहित्य का प्रमुख लेखक डिकेन्स सोने के आभूषणो का बड़ा शौकीन था और बराबर उन्हे धारण करता था। यह उसके वालकपन की अपूर्ण अभिलाषा की पूर्ति मात्र थी। शैशवकाल में वह वहुत गरीब था और सोने के आभूषणो की उसको बड़ी उत्कट इच्छा रहती थी।

जो वालक वचपन मे पितृस्नेह तथा मातृस्नेह से वंचित रहते हैं, अर्थात शैशवावस्था मे स्नेहपूर्वक जिनका लालन-पालन नहीं किया जाता वे प्रायः मूर्ख और अपराधी निकलते है। उनकी

प्रकृति औरों को तथा अपने को ताड़ना देने की रहती है, और कभी कभी तो वे आत्महत्या कर बैठते हैं।

अभागा बालक

एडलर महाशय ने दो प्रकार के बालकों को अभागा कहा है। पहला वह जिसे अति त्रास सहना पड़ता है और दूसरा वह जिसे अति लाड़ से रक्खा जाता है।

जो बालक अति त्रास से बचपन व्यतीत करता है उसके मन में हीनता-सूचक भावनाग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। वह सदा दूसरों से डरता रहता है। समाज उसे क्रूर पुरुषों का समुदाय जान पड़ता है। ऐसा व्यक्ति जीवन भर निराशावाद से घिरा रहता है। जिस कार्य को वह लेता है उसी में उसे असफलता दिखाई देती है। वह उत्साह के साथ किसी कार्य को नहीं कर पाता। किसी-किसी समय वह अपनी हीनता को छिपाने के लिए कोई चमत्कारिक कार्य करता है। उसका अव्यक्त मन दूसरों से यह स्वीकार कराना चाहता है कि मैं कोई तुच्छ व्यक्ति नहीं हूँ; मेरे प्रति समाज ने अन्याय किया है। जब कोई व्यक्ति उसका बड़प्पन मानने के लिए तैयार नहीं होता तो वह उसके प्रति निर्दयता का व्यवहार करता है। यदि नेपोलियन वोनापार्ट के जीवन को देखा जाय तो हम पायँगे कि विजित राष्ट्रों के प्रति उसकी निर्दयता उसके वचपन के त्रासमय जीवन की प्रतिक्रिया मात्र थी। वह उसके अव्यक्त मन मे स्थित हीनता-सूचक भावना-ग्रन्थि का प्रकाशन मात्र था।

अति लाड़ मे पला हुआ बालक भी अभागा कहा गया है। जिस बालक को अपनी इच्छाएँ को तृप्त करने के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं और जिसे किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता वह संसार को कर्तव्य-क्षेत्र न समझकर अपने सुख की रङ्गशाला मान लेता है। वह प्रत्येक मनुष्य से अपनी प्रशंसा कराने, बड़े समझे जाने तथा किसी भी काम में रोक-टोक न की जाने की आशा करता है। जब वह संसार में लोगों के व्यवहार को अपनी आशाओं के अनुकूल नहीं पाता तो एकाएक निराशावादी हो जाता है। वह सोचने लगता है कि प्रत्येक व्यक्ति मेरे प्रति षड्यन्त्र हो कर

रहा है; सभी मेरी महत्ता से ईर्ष्या करते हैं और इसलिए मेरे महत्त्व को स्वीकार नहीं करना चाहते। वह प्रायः दूसरो की निन्दा मे लगा रहता है। उसके बड़े-बड़े मनसूबे होते हैं पर उसमे कार्य-क्षमता कुछ भी नहीं होती। ऐसा मनुष्य निर्दय भी होता है। जब वह यह सोचता है कि सारा संसार मेरे प्रति षड्यन्त्र कर रहा है तो वह दूसरों के प्रति निर्दयता का व्यवहार क्यो न करे? उसकी जितनी योजनाएँ होती है, असंभव होती हैं। वास्तव मे अकर्मण्यता को छिपाने के लिए ही वह ऐसी योजनाएँ बनाता रहता है। यही कारण है कि जो व्यक्ति बचपन मे सुख का जीवन व्यतीत करता है, वह संसार का कोई बड़ा काम नहीं कर पाता।

अतएव सुन्दर व्यक्तित्व के गठन के लिए यह आवश्यक है कि न तो बालकों को अति त्रास मे रक्खा जाय और न उन्हे सब प्रकार की सहूलियतें जीवन मे दी जायँ। अपने वातावरण से लड़ने और उस पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास बालकों मे छुटपन से ही डालना चाहिए।

परिशिष्ट—१

रायबहादुर पंडित लज्जाशङ्कर झा द्वारा रचित सामूहिक बुद्धिमापक परीक्षापत्र से उद्धृत प्रश्न

जाँच १—जानकारी

उस शब्द के नीचे लकीर खींचो जिससे वाक्य सार्थक हो।

१—आँवला एक प्रकार की (का) छाल, फल, जड़, पत्ता—होता है।

२—कस्तूरी—अनाज, बीज, जानवर, छाल से निकलती है।

३—एक मन मे—११२, ६४०, २२४०, १७६०—छटाँक होते हैं।

४—गोंद—समुद्र, खेत, पेड़, खान—में मिलता है।

५—एक गिरह की लम्बाई लगभग—दो इञ्च, दो फुट, दो गज़, दो बालिश्त—के बराबर होती है।

जाँच २—सबसे अच्छा उत्तर

हर एक सवाल या बयान को पढ़ो और सबसे अच्छे उत्तर के पहले × ऐसा चिह्न लगा दो।

१—मोटर की अपेक्षा रेलगाड़ी को रोकना ज्यादा मुश्किल है क्योंकि :

(१) उसमें ज़्यादा पहिये होते हैं।

(२) वह ज़्यादा भारी होती है।

(३) उसके ब्रेक अच्छे नहीं होते हैं।

२—"मन के लड्डू फीके क्यों"—इस कहावत का अर्थ है कि

(१) लड्डू फीके होते हैं।

(२) मन लड्डू खाने को तरसता है।

(३) जब अपने ही हाथ में बात है तो कमी क्यों रहे।

३—लोहे का बना जहाज़ भी तैरता है क्योंकि :

(१) इञ्जन उसको ऊपर उठाये रखता है।

(२) इसके अन्दर काफी पोली जगह रहती है ।

(३) इसमे कुछ लकडी भी होती है ।

जॉच ३—शब्दार्थ

जब एक ही पक्ति में लिखे हुए दोनो शब्दों का अर्थ एकसा हो तब "समान" के नीचे लकीर खींच दो और जब उनका अर्थ एक दूसरे का उलटा हो तो "असमान" के नीचे लकीर खींचो ।

उदाहरण—गिरना	पटकना	...	समान (रेखांकित)	असमान
उत्तर	दक्षिण	.	समान	असमान (रेखांकित)
१—कमाना	खर्च करना	...	समान	असमान
२—हराना	दबाना	...	समान	असमान
३—पतन	अवनति	.	समान	असमान
४—खट्टा	एसिड	...	समान	असमान
५—जल्दबाज़	दूरदर्शी	...	समान	असमान

जाँच ४—ठीक चुनाव

नीचे लिखे हुए हर एक वाक्य में उन दो शब्दो के नीचे लकीर खींच दो जो दी हुई चीज़ के साथ हमेशा रहते हों—हर एक पक्ति में केवल दो ही शब्दों के नीचे लकीर खींचो—

(१) घोड़े के हमेशा—जीन, खुर, नाल, अस्तबल, दुम, होती है ।

(२) संगीत मे हमेशा—सुननेवाला, हार्मोनियम, सुर, ध्वनि, वीणा, पाया (पायी) जाता (जाती) है ।

(३) पिस्तौल में हमेशा—नली, गोली, कारतूस, मसा (निशाना देखने का), घोड़ा, होता है ।

(४) मासिक पत्रिका मे हमेशा—विज्ञापन, काग़ज, तस्वीर, छपाई, कहानियाँ, होती हैं ।

(५) बहस में हमेशा—विवादी, मतभेद, अनबन, द्वेष, क्रोध, आवश्यक हैं ।

जाँच ५—अङ्कगणित

जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी जवाब निकालो—उत्तर को बिन्दुरेखा (··· ··········) पर लिखो सफे के किसी भी खाली हिस्से को जरूरत पड़ने पर उत्तर निकालने के काम मे ला सकते हो—

१—एक आदमी घंटे मे ६ मील की चाल से ६६ मील कितने घंटे मे जायगा ?

उत्तर······ ········

२—यदि एक मनुष्य एक महीने में २०) रु० कमाता है और १४) रु० खर्च करता है तो बताओ ३००) रु० बचाने में कितना समय लगेगा ?

उत्तर ·· ··········

३—अगर दो सेर का दाम ६६ आना हो तो $\frac{1}{6}$ सेर का क्या दाम होगा ?

उत्तर · ············

४—कितने रुपये का ८ प्रतिशत १०००) रु० के ४ प्रतिशत के बराबर होगा ?

उत्तर ···· ········

५—अगर ७ आदमी १४० फुट खाई खोदने मे २ दिन लगाते हैं तो कितने आदमी उसको आधे दिन में खोद लेगे ?

उत्तर · ············

जाँच ६—वाक्यार्थ

ठीक उत्तर के अनुसार "हाँ" या "नही" के नीचे लकीर खीचो ।

१—क्या धर्मात्मा पुरुष कभी गलती करता है ? .. हाँ नहीं

२—क्या गुमनाम ख़त पर कभी लिखनेवाले का ठीक नाम ... दिया रहता है ? ... हाँ नहीं

३—क्या किसी पर कसूर लगाते समय सबूत देना चाहिये ? हाँ नहीं

४—क्या लक़वा मारने पर काम करने मे सहायता मिलती है ? ... हाँ नहीं

५—क्या ज़िद मे अधिकतर विचार की कमी रहती है ? . हाँ नहीं

जाँच ७--समानता

कान का जो सम्बन्ध सुनने से है वही आँख का मेज, देखने, हाथ--खेलने से है।

पगडी का जो सिर से सम्बन्ध है वही जूते का बाँह, कोट, पाँव, बाल से है।

नीचे लिखे हुओ के उत्तर भी उपर्युक्त उदाहरण के समान दो।

१---तसवीर का जो सम्बन्ध देखने से है वही ध्वनि का खाने, भूखे मरने, सुनने, छाल से है।

२--सिंह का जो सम्बन्ध उसके नाखून से है, वही सुगन्ध गुलाब का, पत्ती, पौधा, काँटे से है।

३--रोने का जो हँसने से सम्बन्ध है, वही उदासी का मृत्यु, प्रसन्नता, कफन, डाक्टर से है।

४--भोजन का जो भूख से सम्बन्ध है वही पानी का पीना, साफ, प्यास, शरबत से है।

५--पापी का जो पतित से सम्बन्ध है वही पुण्यात्मा का गीता, पवित्र, प्रार्थना, एकादशी, से है।

जाँच ८—उलझन सुलझाना

नीचे लिखे हुए हरएक वाक्य मे शब्द-क्रम से नही हैं, उन्हें क्रमपूर्वक रख कर देखो कि वाक्य में जो कहा गया, वह ठीक है या नही। यदि ठीक हो तो उसके सामने "ठीक" के नीचे और यदि गलत हो तो "गलत" के नीचे लकीर खींच दो—

१—सच्ची मोल सकती मिल दोस्ती नहीं ठीक गलत

२—होते हैं जाते होते हैं बच्चे बड़े जैसे लम्बे वैसे .. ठीक गलत

३--सलाह कठिन कभी अच्छी मानना होता है कभी ... ठीक गलत

४--काम हो जैसे वह बहुधा नहीं होता वैसा मनुष्य के . ठीक गलत

५—कोई पीछा छोडती कोई हैं जान लेकर बीमारियाँ . ठीक गलत

जाँच ९—उचित विभाग

नीचे की हर एक लकीर में उस शब्द को काट दो जो अपने वर्ग में न हो—हर एक लकीर में केवल एक ही शब्द अपने वर्ग मे नहीं है।

१—गोविन्द, गरीबदास, कुमारचन्द्र, गोदावरी, आत्माराम।

२—घोड़ा, गाय, खच्चर, टट्टू, गधा।

३—सख्त, खुरदरा, चिकना, मुलायम, मीठा।

४—कपड़ा, रूई, सन, रेशम, ऊन।

५—जावा, लङ्का, जापान, ब्रिटेन, अफ़ग़ानिस्तान।

जाँच १०—संख्या-क्रम

नीचे की हर एक पंक्ति मे यह जानने की कोशिश करो कि संख्याएँ किस क्रम से लिखी गई हैं और फिर बिन्दु रेखाओं पर क्रम से आनेवाली अगली दो संख्याओं को लिखो—

पहली पंक्ति	८,	७,	६,	५,	४,	३	......
दूसरी ,,	८,	८,	६,	६,	४,	४	......
तीसरी ,,	१६,	८,	४,	२,	१,	१/२	......
चौथी ,,			१/२५,	१/५,	१,	५	.....
पाँचवीं ,,	३,	४,	६,	९,	१३,	१८,	.. ..

—

परिशिष्ट—२

प्रो. फेसर वंशगोपाल झिंगरन के बनाये सामूहिक बुद्धिमापक परीक्षापत्र से उद्धृत प्रश्न

१—प्रेम का उलटा कौन शब्द है ?

१ समानता, २ क्रोध, ३ घृणा, ४ अजीब, ५ प्रेमी। ( )

२—सोने की कीमत चाँदी से ज़्यादा होती है क्योंकि वह—

१ अधिक भारी होता है, २ अधिक सुन्दर होता है, ३ अधिक सख़्त होता है, ४ अधिक पीला होता है, ५ अधिक नहीं मिलता है। ( )

३—नीचे लिखी कहावतों में से किसका अर्थ है—नौ दो ग्यारह हो जाना।

१—नौ नक़द न तेरह उधार

२—न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।

३—एक एक ग्यारह होते हैं।

४—साँच को आँच नहीं।

५—तीन तेरह हो गये। ( )

४—पिता अपने पुत्र की अपेक्षा—

१ बुद्धिमान्, २ मज़बूत, ३ धनवान्, ४ लम्बा, ५, अनुभवी होता है। ( )

५—नीचे लिखी क्रमिक सख्याओं में एक सख्या ग़लत है, वह कौन सी है ?

२, ७, ३, ८, ४, ९, ५, १०, ६, १२। ( )

६—यह कहना कि पत्थर को जान होती है—

१ बिल्कुल असंभव, २ धोखे में डालनेवाला, ३ बेतुका, ४ शरारत से भरा हुआ, ५ यक़ीन करने के लायक है। ( )

७—सदा का उल्टा है—

१ बहुधा, २ कभी कभी, ३ हमेशा, ४ कभी नहीं, ५ कभी। ( )

८—अगर एक लड़का $\frac{1}{8}$ सेकण्ड में ४ फ़ुट दौड़ सकता है तो वह २० सेकण्ड में कितने फ़ुट दौड़ेगा ? ( )

९—नीचे लिखी पाँच चीज़ों में कौन सी चीज़ अन्य चार से भिन्न है—

१ कुल्हाडी, २ चाक़ू, ३ उस्तरा, ४ हथौड़ा, ५ कैंची। ( )

१०—अगर पहले दो वाक्यो का अर्थ ठीक है तो तीसरा बताओ क्या है —

हमारे कुछ सदस्य लिबरल हैं। कुछ सदस्य वकील हैं। कुछ सदस्य लिबरल वकील हैं।

१ सच, २ ग़लत, ३ न ठीक न ग़लत। ( )

११—अगर २४ इञ्च कपड़ा धुलने पर २२ इञ्च हो जाय तो ६० इञ्च कपड़ा कितना सिकुड़ेगा ? ( )

१२—घर मे सदा रहता है।

१ बाप, २ फर्श, ३ किवाड़, ४ लड़ाई, ५ गन्दगी। ( )

१३—नीचे लिखे शब्दों मे कौन शब्द इसी वर्ग में है जिसमें ये तीन शब्द हैं—

ख़ुशी, डर, क्रोध।

१ आरत, २ स्मृति, ३ घृणा, ४ जीवन, ५ सुनना। ( )

१४—कौन सा शब्द "सफलता" का द्योतक है।

१ धन, २ शक्ति, ३ यश, ४ भक्ति, ५ व्यवसाय। ( )

१५—इस क्रमिक संख्या में एक संख्या गलत है—वह कौन सी है ?

१, २, ४, ८, १६, ३२, ६२, १२८। ( )

१६—अगर नीचे दो वाक्य ठीक हैं तो तीसरा कैसा है—

परिश्रम से मनुष्य धनी हो सकता है। राम परिश्रमी है। राम धनी हो जायगा।

१ सही, २ ग़लत, ३ न सही न ग़लत। ( )

१७—हवा और तूफान मे वही सम्बन्ध है जो रेंगने और—

१ लुढ़कने, २ उड़ने, ३ खड़े होने, ४ दौड़ने, ५ घुटने चलने में है। ( )

परिशिष्ट— ३

बालकों के प्रति व्यवहार

१—बालक को अधिक गोदी में न लेना चाहिये। उसे अपना खिलौना न समझना चाहिये।

२—बालक गिर जाय तो उसे अपने आप उठने देना चाहिये।

३—बालक को अकेले सोने का अभ्यास कराना चाहिये।

४—बालक को अँधेरे में चले जाने का अभ्यास कराना चाहिये।

५—जिस घर मे दो बालक हो, दोनों के साथ बराबरी का व्यवहार करना चाहिये।

६—बालकों के सुन्दर नाम रखना चाहिये।

७—दूसरों के सामने बालकों को डाँटना न चाहिये।

८—बालक के छोटे-छोटे कामों में रुचि दिखाना चाहिये।

९—बालक को बालकों के साथ रहने देना चाहिये।

१०—बहुत सी बातें बालकों को एक साथ सिखाने की चेष्टा न करना चाहिये।

११—बालको को बार बार पीटना व डाँटना न चाहिये।

१२—बालकों की खेल की चीज़ें बिगाड़ना अथवा छीनना न चाहिये।

१३—बालकों से डरावनी कहानियाँ न कहना चाहिये।

१४—यदि बालक रोता हो तो भूत-प्रेत का भय दिखाकर उसे चुप न करना चाहिये।

१५—बालकों के साथ हँसो पर उन पर कभी न हँसना चाहिये।

———